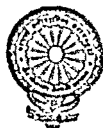
शील की नव बाड़

[श्रीमद्आचार्य भीखनजी प्रणीत]

अनुवादक और विवेचक

श्रीचन्द रामपुरिया, एडवोकेट



तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित

प्रकाशक :
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता—१



प्रथमावृत्ति :
दिसम्बर, १६६१
मार्गशीर्ष २०१८



प्रति संख्या :
१५००



पृष्ठांक :
२६८



मूल्य :
आठ रुपये



मुद्रक :
ओसवाल प्रेस
कलकत्ता

विषय-सूची

दो शब्द

पाठकों के समक्ष भिक्षु-ग्रन्थमाला का तीसरा ग्रन्थ 'शील की नव बाड़' के रूप में उपस्थित है। स्वामीजी की इस कृति के कई संस्करण निकल चुके हैं। पर उसका सानुवाद और सटिप्पण हिन्दी अनुवादयुक्त संस्करण यह प्रथम ही है। साधु और गृहस्थ दोनों के लिए ही ब्रह्मचर्य अत्यन्त महत्व का विषय है। भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य में स्थिरता और समाधि प्राप्त करने के लिए जिन नियमों की प्ररूपणा की, उन्हीं की विशद चर्चा प्रस्तुत कृति में है। मूल कृति मारवाड़ी भाषा में है। यह संस्करण उसका हिन्दी अनुवाद सामने लाता है।

ब्रह्मचर्य जैसे महत्वपूर्ण विषय पर गंभीर और विशद विवेचन करनेवाले दो महापुरुष सन्त टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी के *विचारों को भूमिका में विस्तार से दिया गया है और जैन दृष्टि के साथ उनकी यथाशक्य तुलना की गई है।*

यहाँ प्रसंगवश महासभा के इस विषयक दो अन्य प्रकाशनों की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पाठक उन पुस्तकों को भी प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ पढ़ेंगे तो विषय की गंभीर जानकारी हो सकेगी। इन प्रकाशनों के नाम हैं—(१) ब्रह्मचर्य (महात्मा गांधी के ब्रह्मचर्य विषयक विचारों का दोहन) और (२) ब्रह्मचर्य (आगमों पर से ब्रह्मचर्य विषयक विचारों का संकलन)।

आशा है, महासभा का यह प्रकाशन पाठकों के लिए अत्यन्त लाभप्रद होगा।

जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता-१
२८, दिसम्बर, १९६१

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक,
साहित्य-विभाग

भूमिका

भूमिका

भूमिका

१-ब्रह्मचर्य का परिभाषा

'शील की नव बाड़' में प्रयुक्त 'शील' का अर्थ ब्रह्मचर्य है और 'बाड़' का अर्थ है ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय अथवा ब्रह्मचारी के रहन-सहन की मर्यादाएँ और शिष्टाचार।

श्री मङ्गलदेव शास्त्री के अनुसार सृष्टि के समस्त पदार्थों का जो अव्यय, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूलकारण है वह 'ब्रह्म' है अथवा ज्ञानरूप वेद 'ब्रह्म' है। ऐसे 'ब्रह्म' की प्राप्ति के उद्देश्य से व्रत-ग्रहण करना ब्रह्मचर्य है[१]।

श्री विनोबा कहते हैं : "ब्रह्मचर्य शब्द का मतलब है....ब्रह्म की खोजमें अपना जीवन-क्रम रखना;...सबसे विशाल ध्येय परमेश्वर का साक्षात्कार करना। उससे नीचे की बात नहीं कही है[२]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं : "ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्य की शोध में चर्या, अर्थात् तत्—सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेन्द्रियसंयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रियसंयम रूपी अधूरे अर्थ को तो हमें भूल ही जाना चाहिए[३]।" उन्होंने अन्यत्र कहा है : "ब्रह्मचर्य क्या है ? वह जीवन की ऐसी चर्या है जो हमें ब्रह्म—ईश्वर तक पहुँचाती है। इसमें जनन-क्रिया पर सम्पूर्ण संयम का समावेश हो जाता है। यह संयम मन, वचन और कर्म से होना चाहिए[४]।"

उपर्युक्त तीनों ही विचारकों ने 'ब्रह्मचर्य' शब्द के अर्थ में सुन्दरता लाने की चेष्टा की है और उसे बड़ा व्यापक विशाल रूप दिया है। पर वैसा अर्थ वेदों में उपलब्ध ब्रह्मचारी अथवा ब्रह्मचर्य शब्द का नहीं मिलता। सायण ने ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—"ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितुं शीलम् यस्य स.[५]"—वेदात्मक ब्रह्म को अध्ययन करना जिसका आचरण—शील है उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्मचर्य की परिभाषा इस रूप में मिलती है—"वेद को ब्रह्म कहते हैं। वेदाध्ययन के लिए आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है[६]।" यहाँ कर्म का अर्थ है समिधादान, भिक्षाचर्या और ऊर्ध्वरेतस्कत्व आदि। कर्म शब्द में उपस्थ-संयम, इन्द्रिय-संयम का समावेश भले ही किया जा सके पर वेद प्रयुक्त ब्रह्मचर्य शब्द की जो प्राचीन परिभाषा है वह ऐसा अर्थ नहीं देती, यह स्पष्ट है। महर्षि पतञ्जलि ने ब्रह्मचर्य का अर्थ 'वस्ति निरोध' किया है।

अब हम जैन आगमों में वर्णित 'ब्रह्मचर्य' शब्द की व्याख्या पर आवें।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है : "ब्रह्मचर्य को ग्रहण कर मुमुक्षु पदार्थ शाश्वत ही हैं, अशाश्वत ही हैं, लोक नहीं है, अलोक नहीं है, जीव नहीं है, अजीव नहीं है आदि-आदि दृष्टियाँ न रखे[७]।" यहाँ "ब्रह्मचर्य" शब्द की व्याख्या करते हुए श्री शीलाङ्क लिखते हैं—"जिसमें सत्य, तप, भूत-दया

१—भारतीय संस्कृति का विकास (प्र० ख०) पृ० २२८ :

> सर्वेषामपि भूतानां यत्कारणमव्ययम्।
> कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं, वेदो वा, ज्ञानमेव यत्॥
> तदेतदुभयं ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते।
> तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते॥

२—कार्यकर्ता-वर्ग : ब्रह्मचर्य पृ० ३१-३२

३—मंगल प्रभात पृ० १६-१७

४—Self-Restraint V. Self-Indulgence p. 165 से अनूदित

५—अथर्ववेद ११.५.१ सायण

६—अथर्ववेद ११.५.१७ सायण

७—सूत्रकृतांग २.५:१-३२

एवं इन्द्रिय-निरोध रूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो उस मौनीन्द्र-प्रवचन—जिन-प्रवचन को ब्रह्मचर्य कहते हैं [१]।" "मोक्ष का हेतु सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चरित्रात्मक मार्ग ब्रह्मचर्य है [२]।"

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने आचाराङ्ग का वर्णन करते हुए लिखा है : "बारह अङ्गों में आचाराङ्ग प्रथम अङ्ग है। उसमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है। वह प्रवचन का साररूप है[३]।" वे आगे जाकर लिखते हैं : "वेद—आचाराङ्ग ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन मय है[४]।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि आचाराङ्ग के ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन प्रवचन के साररूप हैं और उनमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है। इस तरह ब्रह्मचर्य शब्द मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक सारे प्रशस्त गुण और आचरण का द्योतक शब्द माना गया है[५]। उसमें सारे मूल और उत्तर गुणों की साधना का समावेश होता है[६]। उसमें सारा मोक्ष-मार्ग समा जाता है।

निर्युक्तिकार अन्यत्र कहते हैं : "भाव ब्रह्म दो प्रकार का होता है—एक मुनि का वस्ति-संयम (उपस्थ-संयम) और दूसरा मुनि का सम्पूर्ण संयम[७]।"

उपर्युक्त विवेचन से ब्रह्मचर्य के दो अर्थ सामने आते हैं :

१—जिसमें मोक्ष के लिए ब्रह्म—सर्व प्रकार के संयम की चर्या—अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है। इसमें सर्व मूल उत्तर गुणों की चर्या का समावेश होता है।

२—वस्ति-संयम अर्थात् वस्ति-निरोध ब्रह्मचर्य है। इस अर्थ में सर्व दिव्य और औदारिक काम और रति-सुखों से मन-वचन-काय

१—सूत्रकृताङ्ग १.४:१ और उसकी टीका :

आदाय बम्भचेरं च आसुपन्ने इमं वई।
अस्सिं धम्मे अणायारं नायरेज्ज कयाइवि॥

ब्रह्मचर्यं—सत्यतपोभूतदयेन्द्रियनिरोध लक्षणं तच्चर्यते अनुष्ठीयते यस्मिन् तन्मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते।

२—वही :

मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते।......मौनीन्द्रप्रवचनं तु मोक्षमार्गहेतुतया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकम्

३—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ६ :

आयारो अंगाणं पढमं अंगं दुवालसण्हंपि।
इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स॥

४—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ११ :

णवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंचचूलो बहुबहुतरओ पयग्गेणं॥

५—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ३० :

भावे गइमाहारो गुणो गुणवओ पसत्थमपसत्था।
गुणचरणे पसत्थेण बंभचेरा नव हवंति॥

६—वही गा० ३० की टीका :

नवाप्यध्ययनानि मूलोत्तरगुणस्थापकानि निर्जरार्थमनुशील्यन्ते

७—वही गा० २८ :

दव्वं सरीरभविओ अन्नाणी वत्थिसंजमो चेव।
भावे उ वत्थिसंजम णायव्वो संजमो चेव॥

भावब्रह्म तु साधूनां वस्तिसंयम, अष्टादशभेदरूपोऽप्ययं संयम एव, सप्तदशविधसंयमाभिन्नरूपत्वादस्येति अष्टादशभेदास्त्वमी

और कृत-कारित-अनुमति रूप से विरति ब्रह्मचर्य है[1]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महात्मा गांधी, संत विनोबा आदि आधुनिक विचारकों का चिन्तन प्राचीन जैन चिन्तन से भिन्न नहीं है। वैदिक धारा के अनुसार ईश्वर ब्रह्म है और जैन विचारधारा के अनुसार मोक्ष ब्रह्म है। इतना ही अन्तर है। तुलना से स्पष्ट होगा कि आगमों में उपलब्ध ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या अधिक स्पष्ट, सूक्ष्म और व्यापक है।

बौद्ध पिटकों में ब्रह्मचर्य शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यह नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा—

१—पापी मार बुद्ध से बोला—"भन्ते! भगवान् अब परिनिर्वाण को प्राप्त हों। यह परिनिर्वाण का काल है।" तब बुद्ध ने उत्तर दिया—"पापी! मैं तब तक परिनिर्वाण को नहीं प्राप्त होऊँगा, जब तक कि यह ब्रह्मचर्य ऋद्ध, विस्तारित, बहुजनगृहीत, विशाल, देवताओं और मनुष्यों तक सुप्रकाशित न हो जायेगा।" यहाँ स्पष्टतः 'ब्रह्मचर्य' शब्द का अर्थ बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग है[2]। इस अर्थ में 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग बौद्ध त्रिपिटकों में अनेक स्थलों पर मिलता है। वहाँ ब्रह्मचर्य-वास का अर्थ है बौद्धधर्म में वास[3]।

२—भगवान का धर्म स्वाख्यात है। वह स्वाख्यात क्यों है?......अर्थ व्यञ्जन सहित सर्वांश में परिपूर्ण ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करने से स्वाख्यात है[4]। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ है वह चर्या जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो।

३—ब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन-विरमण।

ब्रह्मचर्य शब्द के ये अर्थ जैनधर्म में प्राप्त अर्थों जैसे ही हैं।

२-जीवन में ब्रह्मचर्य के दोनों अर्थों की व्याप्ति

ब्रह्मचर्य के उपर्युक्त दोनों अर्थों की व्याप्ति जीवन में इस प्रकार होती है। जब मनुष्य जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन पदार्थों के स्वरूप को जान लेता है तब देव और मनुष्यों के कामभोगों को नश्वर जानने लगता है। वह सोचने लगता है—"काम भोग दुःखावह हैं। उनका फल बड़ा कटु होता है। वे विष के समान हैं। शरीर फेन के बुद्बुद् की तरह क्षणभंगुर है। उसे पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ता है। जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए संसार में मैं अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा।" इस तरह वह विरक्त हो जाता है। जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से इस प्रकार विरक्त होता है, तब वह अन्दर और बाहर के अनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोड़ देता है जिस तरह महा नाग कांचली को। जैसे कपड़े में लगी हुई रेणु—रज को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार वह ऋद्ध, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धीजनों के मोह को छिटका कर निष्पृह हो जाता है। जब मनुष्य निष्पृह होता है, तब मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। जब मनुष्य मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है, तब वह उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है[5]।

इस श्रामण्य का ग्रहण ही उपर्युक्त प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रथम व्यापक अर्थ को ध्यान में रख कर ही कहा गया है—जो ऐसे श्रामण्य (ब्रह्मचर्यवास) को ग्रहण करता है उसे सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं, इसमें जीवन-पर्यन्त विश्राम नहीं। यह लोह-भार की

१—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० २८ की टीका :

दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।
औदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम्॥

२—दीघनिकाय : महापरिनिब्बाण-सुत्त पृ० १३१

३—वही : पोट्ठपाद पृ० ७५

४—विशुद्धि मार्ग (पहला भाग) पृ० १६५

५—(क) दशवैकालिक ४ : १४-१६

(ख) उत्तराध्ययन १६ : ११-१२,१४,२४,८७-८६

एवं इन्द्रिय-निरोध रूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो उस मौनीन्द्र-प्रवचन—जिन-प्रवचन को ब्रह्मचर्य कहते हैं [१]।" "मोक्ष का हेतु सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चरित्रात्मक मार्ग ब्रह्मचर्य है [२]।"

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने आचाराङ्ग का वर्णन करते हुए लिखा है : "बारह अङ्गों में आचाराङ्ग प्रथम अङ्ग है। उसमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है। वह प्रवचन का साररूप है[३]।" वे आगे जाकर लिखते हैं: "वेद—आचाराङ्ग ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन मय है[४]।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि आचाराङ्ग के ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन प्रवचन के साररूप हैं और उनमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है। इस तरह ब्रह्मचर्य शब्द मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक सारे प्रशस्त गुण और आचरण का द्योतक शब्द माना गया है[५]। उसमें सारे मूल और उत्तर गुणों की साधना का समावेश होता है[६]। उसमें सारा मोक्ष-मार्ग समा जाता है।

निर्युक्तिकार अन्यत्र कहते हैं : "भाव ब्रह्म दो प्रकार का होता है—एक मुनि का वस्ति-संयम (उपस्थ-संयम) और दूसरा मुनि का सम्पूर्ण संयम[७]।"

उपर्युक्त विवेचन से ब्रह्मचर्य के दो अर्थ सामने आते हैं :

१—जिसमें मोक्ष के लिए ब्रह्म—सर्व प्रकार के संयम की चर्या—अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है। इसमें सर्व मूल उत्तर गुणों की चर्या का समावेश होता है।

२—वस्ति-संयम अर्थात् वस्ति-निरोध ब्रह्मचर्य है। इस अर्थ में सर्व दिव्य और औदारिक काम और रति-सुखों से मन-वचन-काय

१—सूत्रकृताङ्ग २.५.१ और उसकी टीका :

आदाय बम्भचेरं च आसुपन्ने इमं वइं।
अस्सिं धम्मे अणायारं नायरेज्ज कयाइवि॥

ब्रह्मचर्यं—सत्यतपोभूतदयेन्द्रियनिरोध लक्षणं तच्चर्यते अनुष्ठीयते यस्मिन् तन्मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते।

२—वही :

मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते।......मौनीन्द्रप्रवचनं तु मोक्षमार्गहेतुतया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकम्

३—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ६ :

आयारो अंगाणं पढमं अंगं दुवालसण्हंपि।
इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स॥

४—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ११ :

णवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंचचूलो बहुबहुतरओ पयग्गेणं॥

५—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ३० :

भावे गइमाहारो गुणो गुणवओ पसत्थमपसत्था।
गुणचरणे पसत्थेण बंभचेरा नव हवंति॥

६—वही गा० ३० की टीका :

नवाप्यध्ययनानि मूलोत्तरगुणस्थापकानि निर्जरार्थमनुशील्यन्ते

७—वही गा० २८ :

दव्वं सरीरभविओ अन्नाणी वत्थिसंजमो चेव।
भावे उ वत्थिसंजम णायव्वो संजमो चेव॥

भावब्रह्म तु साधूनां वस्तिसंयमः, अष्टादशभेदरूपोऽप्ययं संयम एव, सप्तदशविधसंयमाभिन्नरूपत्वादस्येति अष्टादशभेदास्त्वमी

ग्रौर कृत-कारित-ग्रनुमति रूप से विरति ब्रह्मचर्य है[1]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महात्मा गांधी, संत विनोबा ग्रादि ग्राधुनिक विचारकों का चिन्तन प्राचीन जैन चिन्तन से भिन्न नहीं है। वैदिक धारा के ग्रनुसार ईश्वर ब्रह्म है ग्रौर जैन विचारधारा के ग्रनुसार मोक्ष ब्रह्म है। इतना ही ग्रन्तर है। तुलना से स्पष्ट होगा कि ग्रागमों में उपलब्ध ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या ग्रधिक स्पष्ट, सूक्ष्म ग्रौर व्यापक है।

बौद्ध पिटकों में ब्रह्मचर्य शब्द तीन ग्रर्थों में प्रयुक्त हुग्रा है। यह नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा—

१—पापी मार बुद्ध से बोला—"भन्ते! भगवान् ग्रब परिनिर्वाण को प्राप्त हों। यह परिनिर्वाण का काल है।" तब बुद्ध ने उत्तर दिया—"पापी! मैं तब तक परिनिर्वाण को नहीं प्राप्त होऊँगा, जब तक कि यह ब्रह्मचर्य ऋद्ध, विस्तारित, बहुजनगृहीत, विशाल, देवताग्रों ग्रौर मनुष्यों तक सुप्रकाशित न हो जायेगा।" यहाँ स्पष्टतः 'ब्रह्मचर्य' शब्द का ग्रर्थ बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग है[2]। इस ग्रर्थ में 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग बौद्ध त्रिपिटकों में ग्रनेक स्थलों पर मिलता है। वहाँ ब्रह्मचर्य-वास का ग्रर्थ है बौद्धधर्म में वास[3]।

२—भगवान का धर्म स्वाख्यात है। वह स्वाख्यात क्यों है?......ग्रर्थ व्यञ्जन सहित सर्वांश मे परिपूर्ण ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करने से स्वाख्यात है[4]। यहाँ ब्रह्मचर्य का ग्रर्थ है वह चर्या जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो।

३—ब्रह्मचर्य ग्रर्थात् मैथुन-विरमण।

ब्रह्मचर्य शब्द के ये ग्रर्थ जैनधर्म में प्राप्त ग्रर्थों जैसे ही हैं।

२-जीवन में ब्रह्मचर्य के दोनों अर्थों की व्याप्ति

ब्रह्मचर्य के उपर्युक्त दोनों ग्रर्थों की व्याप्ति जीवन में इस प्रकार होती है। जब मनुष्य जीव, ग्रजीव, पुण्य, पाप, ग्रास्रव, संवर, निर्जरा, बंध ग्रौर मोक्ष—इन पदार्थों के स्वरूप को जान लेता है तब देव ग्रौर मनुष्यों के कामभोगों को नश्वर जानने लगता है। वह सोचने लगता है—"काम भोग दुःखावह हैं। उनका फल बड़ा कटु होता है। वे विष के समान हैं। शरीर फेन के बुद्बुद् की तरह क्षणभंगुर है। उसे पहले या पीछे ग्रवश्य छोड़ना पड़ता है। जरा ग्रौर मरणरूपी ग्रग्नि से जलते हुए संसार में मैं ग्रपनी ग्रात्मा का उद्धार करूँगा।" इस तरह वह विरक्त हो जाता है। जब मनुष्य दैविक ग्रौर मानुषिक भोगों से इस प्रकार विरक्त होता है, तब वह ग्रन्दर ग्रौर बाहर के ग्रनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोड़ देता है जिस तरह महा नाग कोंचली को। जैसे कपड़े में लगी हुई रेणु—रज को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार वह ऋद्ध, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री ग्रौर सम्बन्धीजनों के मोह को छिटका कर निस्पृह हो जाता है। जब मनुष्य निस्पृह होता है, तब मुण्ड हो ग्रनगारवृत्ति को धारण करता है। जब मनुष्य मुण्ड हो ग्रनगारवृत्ति को धारण करता है, तब वह उत्कृष्ट संयम ग्रौर ग्रनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है[5]।

इस श्रामण्य का ग्रहण ही उपर्युक्त प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रथम व्यापक ग्रर्थ को ध्यान में रख कर ही कहा गया है—जो ऐसे श्रामण्य (ब्रह्मचर्यवास) को ग्रहण करता है उसे सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं, इसमें जीवन-पर्यन्त विश्राम नहीं। यह लोह-भार की

१—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० २८ की टीका :

दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम् ।
ग्रौदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥

२—दीघ-निकाय : महापरिनिब्बाण-सुत्त पृ० १३१

३—वही : पोट्ठपाद पृ० ७५

४—विशुद्धि मार्ग (पहला भाग) पृ० १६५

५—(क) दशवैकालिक ४ : १४-१६

(ख) उत्तराध्ययन १९ : ११-१२,१४,२४,८७-८६

एवं इन्द्रिय-निरोध रूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो उस मौनीन्द्र-प्रवचन—जिन-प्रवचन को ब्रह्मचर्य कहते हैं [१]।" "मोक्ष का हेतु सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चरित्रात्मक मार्ग ब्रह्मचर्य है [२]।"

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने आचाराङ्ग का वर्णन करते हुए लिखा है : "बारह अङ्गों में आचाराङ्ग प्रथम अङ्ग है। उसमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है। वह प्रवचन का साररूप है[३]।" वे आगे जाकर लिखते हैं : "वेद—आचाराङ्ग ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन मय है[४]।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि आचाराङ्ग के ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन प्रवचन के साररूप हैं और उनमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है। इस तरह ब्रह्मचर्य शब्द मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक सारे प्रशस्त गुण और आचरण का द्योतक शब्द माना गया है[५]। उसमें सारे मूल और उत्तर गुणों की साधना का समावेश होता है[६]। उसमें सारा मोक्ष-मार्ग समा जाता है।

निर्युक्तिकार अन्यत्र कहते हैं : "भाव ब्रह्म दो प्रकार का होता है—एक मुनि का वस्ति-संयम (उपस्थ-संयम) और दूसरा मुनि का सम्पूर्ण संयम[७]।"

उपर्युक्त विवेचन से ब्रह्मचर्य के दो अर्थ सामने आते हैं :

१—जिसमें मोक्ष के लिए ब्रह्म—सर्व प्रकार के संयम की चर्या—अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है। इसमें अर्थ मूल उत्तर गुणों की चर्या का समावेश होता है।

२—वस्ति-संयम अर्थात् वस्ति-निरोध ब्रह्मचर्य है। इस अर्थ में सर्व दिव्य और औदारिक काम और रति-सुखों से मन-वचन-काय

१—सूत्रकृताङ्ग २.५.१ और उसकी टीका :

आदाय बम्भचेरं च आसुपन्ने इमं वई।
अस्सिं धम्मे अणायारं नायरेज्ज कयाइवि॥

ब्रह्मचर्य—सत्यतपोभूतदयेन्द्रियनिरोध लक्षणं तच्चर्यते अनुष्ठीयते यस्मिन् तन्मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते।

२—वही :

मौनीन्द्रं प्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते।......मौनीन्द्रप्रवचनं तु मोक्षमार्गहेतुतया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकम्

३—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ९ :

आयारो अंगाणं पढमं अंगं दुवालसण्हंपि।
इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स॥

४—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ११ :

णवबंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।
हवइ य सपंचचूलो बहुबहुतरओ पयग्गेणं॥

५—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ३० :

भावे गइमाहारो गुणो गुणवओ पसत्थमपसत्था।
गुणचरणे पसत्थेण बंभचेरा नव हवंति॥

६—वही गा० ३० की टीका :

नवाप्यध्ययनानि मूलोत्तरगुणस्थापकानि निर्जरार्थमनुशील्यन्ते

७—वही गा० २८ :

दव्वं सरीरभविओ अन्नाणी वत्थिसंजमो चेव।
भावे उ वत्थिसंजम णायव्वो संजमो चेव॥

भावब्रह्म तु साधूनां वस्तिसंयम , अष्टादशभेदरूपोऽप्ययं संयम एव , सप्तदशविधसंयमाभिन्नरूपत्वादस्येति अष्टादशभेदास्त्वमी

और कृत-कारित-अनुमति रूप से विरति ब्रह्मचर्य है[1]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महात्मा गांधी, संत विनोबा आदि आधुनिक विचारकों का चिन्तन प्राचीन जैन चिन्तन से भिन्न नहीं है। वैदिक धारा के अनुसार ईश्वर ब्रह्म है और जैन विचारधारा के अनुसार मोक्ष ब्रह्म है। इतना ही अन्तर है। तुलना से स्पष्ट होगा कि आगमों में उपलब्ध ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या अधिक स्पष्ट, सूक्ष्म और व्यापक है।

बौद्ध पिटकों में ब्रह्मचर्य शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। यह नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा—

१—पापी मार बुद्ध से बोला—"भन्ते! भगवान् अब परिनिर्वाण को प्राप्त हों। यह परिनिर्वाण का काल है।" तब बुद्ध ने उत्तर दिया—"पापी! मैं तब तक परिनिर्वाण को नहीं प्राप्त होऊँगा, जब तक कि यह ब्रह्मचर्य ऋद्ध, विस्तारित, बहुजनगृहीत, विशाल, देवताओं और मनुष्यों तक सुप्रकाशित न हो जायेगा।" यहाँ स्पष्टतः 'ब्रह्मचर्य' शब्द का अर्थ बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग है[2]। इस अर्थ में 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग बौद्ध त्रिपिटकों में अनेक स्थलों पर मिलता है। वहाँ ब्रह्मचर्य-वास का अर्थ है बौद्धधर्म में वास[3]।

२—भगवान का धर्म स्वाख्यात है। वह स्वाख्यात क्यों है?......अर्थ व्यञ्जन सहित सर्वांश में परिपूर्ण ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करने से स्वाख्यात है[4]। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ है वह चर्या जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो।

३—ब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन-विरमण।

ब्रह्मचर्य शब्द के ये अर्थ जैनधर्म में प्राप्त अर्थों जैसे ही हैं।

२-जीवन में ब्रह्मचर्य के दोनों अर्थों की व्याप्ति

ब्रह्मचर्य के उपर्युक्त दोनों अर्थों की व्याप्ति जीवन में इस प्रकार होती है। जब मनुष्य जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन पदार्थों के स्वरूप को जान लेता है तब देव और मनुष्यों के कामभोगों को नश्वर जानने लगता है। वह सोचने लगता है—"काम भोग दुःखावह हैं। उनका फल बड़ा कटु होता है। वे विष के समान हैं। शरीर फेन के बुद्बुद् की तरह क्षणभंगुर है। उसे पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ता है। जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए संसार में मैं अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा।" इस तरह वह विरक्त हो जाता है। जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से इस प्रकार विरक्त होता है, तब वह अन्दर और बाहर के अनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोड़ देता है जिस तरह महा नाग कांचली को। जैसे कपड़े में लगी हुई रेणु—रज को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार वह ऋद्ध, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धीजनों के मोह को छिटका कर निस्पृह हो जाता है। जब मनुष्य निस्पृह होता है, तब मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। जब मनुष्य मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है, तब वह उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है[5]।

इस श्रामण्य का ग्रहण ही उपर्युक्त प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रथम व्यापक अर्थ को ध्यान में रख कर ही कहा गया है—जो ऐसे श्रामण्य (ब्रह्मचर्यवास) को ग्रहण करता है उसे सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं, इसमें जीवन-पर्यन्त विश्राम नहीं। यह लोह-भार की

१—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० २८ की टीका:

दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।
औदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम्॥

२—दीघ-निकाय: महापरिनिब्बाण-सुत्त पृ० १३१

३—वही: पोट्ठपाद पृ० ७५

४—विशुद्धि मार्ग (पहला भाग) पृ० १६५

५—(क) दशवैकालिक ४: १४-१६

(ख) उत्तराध्ययन १९: ११-१२,१४,२४,८७-८६

तरह गुणों का बड़ा बोझ है[१]।

उपर्युक्त श्रामण्य (ब्रह्मचर्यवास) को ग्रहण करते समय सर्व पापों का त्याग कर मुमुक्षु को जिन महाव्रतों को ग्रहण करना पड़ता है[२] उनमें उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है[३]। यह महाव्रत अब्रह्म की विरति रूप कहा गया है[४]। इस तरह श्रामण्य (ब्रह्मचर्य) ग्रहण करते समय अन्य महाव्रतों के साथ महाव्रत ब्रह्मचर्य को ग्रहण करना उपर्युक्त उपस्थ-संयम रूप दूसरी कोटि के ब्रह्मचर्य का धारण करना है। महाव्रत ब्रह्मचर्य सर्व मैथुन विरमण रूप होता है[५]। उसके ग्रहण की प्रतिज्ञा की शब्दावलि इस प्रकार है :

"हे भदन्त ! इसके बाद चौथे महाव्रत में मैथुन से विरमण करना होता है। हे भदन्त ! मैं सर्व मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यंच सम्बन्धी—जो भी मैथुन है मैं उसका स्वयं सेवन नहीं करूँगा, दूसरे से उसका सेवन नहीं कराऊँगा और न मैथुन सेवन करनेवाला का अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूप से मैथुन सेवन का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त ! मैंने अतीत में मैथुन सेवन किया, उससे अलग होता हूँ और पाप का सेवन करने वाली आत्मा का त्याग करता हूँ। मैं सर्व मैथुन से विरति रूप इस चौथे महाव्रत में अपने को उपस्थित करता हूँ[६]।"

व्रत-परिपालन, ज्ञान-वृद्धि, कषाय-जय, स्वतंत्र वृत्ति की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक होता है कि श्रामण्य ग्रहण कर श्रमण ब्रह्म-धर्मगुरु के चरणों में रहे। इस उद्देश्य से गुरुकुलवास करने को भी ब्रह्मचर्य कहा है[७]।

१—उत्तराध्ययन १६ : २५,३६

२—इन महाव्रतों का उल्लेख अनेक आगमों में है। देखिए दशवैकालिक ४.१–६;१०.१०-२५; उत्तराध्ययन १६.२६-३१; आचाराङ्ग श्रु० २.१५; स्थानांग ३८६; समवायांग ५। संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है : इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइयस्स सव्वओ पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावाय-अदिण्णादाण-मेहुणपरिग्गह-राईभोयणाओ वेरमणं। अयमाउसो अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते। (औपपातिक सू० ५७)

३—(क) उत्तराध्ययन १६.३४ :

कावोया जा इमा वित्ती केसलोओ अ दारुणो।
दुक्खं बंभव्वय घोरं धारेउं य महप्पणो॥

४—वही १६ : २६ :

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं॥

५—समवायांग ५ :

सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं

६—(क) दशवैकालिक ४.४

(ख) आचारांग श्रु० २.१५

७—(क) तत्त्वार्थसूत्र ६.६ भाष्य १० :

व्रतपरिपालनाय ज्ञानाभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यमस्वातन्त्र्यं गर्वधीनत्वं गुरुनिर्देशस्थायित्वमित्यर्थ च

(ख) वही : ६.६ सर्वार्थसिद्धि :

स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्

(ग) वही ६.६ तत्त्वार्थवार्तिक २३ :

अस्वातन्त्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति। अथवा ब्रह्मा गुरुस्तस्मिंश्चरणं तदनुविधानमस्य अस्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते

मैथुन शब्द की व्याख्या इस प्रकार है : स्त्री और पुरुष का युगल मिथुन कहलाता है। मिथुन के भाव-विशेष अथवा कर्म-विशेष को मैथुन कहते हैं। मैथुन ही अब्रह्म है[1]।

आचार्य पूज्यपाद ने विस्तार करते हुए लिखा है—मोह के उदय होने पर राग-परिणाम से स्त्री और पुरुष में जो परस्पर संस्पर्श की इच्छा होती है, वह मिथुन है। और उसका कार्य अर्थात् संभोग-क्रिया मैथुन है। दोनों के पारस्परिक सर्व भाव अथवा सर्व कर्म मैथुन नहीं, राग-परिणाम के निमित्त से होनेवाली चेष्टा मैथुन है[2]।

श्री अकलङ्कदेव एक विशेष बात कहते हैं—हस्त, पाद, पुद्गल संघट्टनादि से एक व्यक्ति का अब्रह्म सेवन भी मैथुन है। क्योंकि यहाँ एक व्यक्ति ही मोहोदय से प्रकट हुए कामरूपी पिशाच के संपर्क से दो हो जाता है और दो के कर्म को मैथुन कहने में कोई बाधा नहीं[3]। उन्होंने यह भी कहा—इसी तरह पुरुष-पुरुष या स्त्री-स्त्री के बीच राग भाव से अनिष्ट चेष्टा भी अब्रह्म है[4]।

उपर्युक्त विवेचन के साथ पाक्षिक सूत्र के विवेचन[5] को जोड़ने से उपस्थ-संयम रूप ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है : मन-वचन-काय से तथा कृत-कारित-अनुमति रूप से दैविक मानुषिक, तिर्यंच सम्बन्धी सर्व प्रकार के वैषयिक भाव और कर्मों से विरति। द्रव्य की अपेक्षा सजीव अथवा निर्जीव किसी भी वस्तु से मैथुन-सेवन नहीं करना, क्षेत्र की दृष्टि से ऊर्ध्व, अधो अथवा तिर्यग् लोक में कहीं भी मैथुन-सेवन नहीं करना, काल की अपेक्षा दिन या रात में किसी भी समय मैथुन-सेवन नहीं करना और भाव की अपेक्षा राग या द्वेष किसी भी भावना से मैथुन का सेवन नहीं करना ब्रह्मचर्य है[5]।

महात्मा गांधी ने लिखा है—"मन, वाणी और काया से सम्पूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक संयम मात्र नहीं है बल्कि उसका अर्थ है—सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मन-वचन-कर्म से काम-वासना का त्याग। इस रूप में वह आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति का सीधा और सच्चा मार्ग है[6]।"

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सर्वेन्द्रिय संयम की आवश्यकता को जैनधर्म में भी सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। वहाँ मन, वचन और काय से ही नहीं पर कृत-कारित-अनुमोदन से भी काम-वासना के त्याग को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए परमावश्यक बतलाया है। स्वामीजी सर्वेन्द्रियजय—विषय-जय को एक परकोट की उपमा देते हुए कहते हैं—

शब्द रूप गन्ध रस फरस, भला भूंडा हलका भारी सरस।
यां सूं राग धेष करणो नाहीं, सील रहसी एहवा कोट माहीं॥

१—तत्त्वार्थसूत्र ७.११ और भाष्य :
मैथुनमब्रह्म
स्त्रीपुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनं तदब्रह्म

२—तत्त्वार्थसूत्र ७.१६ सर्वार्थसिद्धि :
स्त्रीपुंसयोश्च चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते। न सर्वं कर्म।......स्त्रीपुंसयो रागपरिणामनिमित्तं चेष्टितं मैथुनमिति

३—तत्त्वार्थवार्तिक ७.१६.८ :
एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धेः—तथैकस्यापि पिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वं तथैकस्य चारित्रमोहोदयाविष्कृतकामपिशाच-वशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वसिद्धे मैथुनव्यवहारसिद्धिः

४—तत्त्वार्थवार्तिक ७.१६.६

५—पाक्षिकसूत्र :
से मेहुणे चउव्विहे पन्नत्ते तंजहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओणं मेहुणे रूवेसु वा रूवसहगएसु वा। खित्तओ णं मेहुणे उड्ढलोए वा अहोलोए वा तिरियलोए वा। कालओ णं मेहुणे दिया वा राओ वा। भावओ णं मेहुणे रागेण वा दोसेण वा

६—ब्रह्मचर्य (धी०) पृ० ३

इस तरह स्पष्ट है कि स्वामीजी ने सम्पूर्ण इन्द्रियों के संयम—विषय के जीतने को ब्रह्मचर्य की रक्षा के प्रबलतम साधन के रूप में ग्रहण किया है। इस तरह महात्मा गांधी और जैन परिभाषा की व्याख्या शब्दशः एक दूसरे के साथ मिल जाती है।

संक्षेप में स्व पर शरीर में प्रवृत्ति का त्याग कर शुद्ध बुद्धि से ब्रह्म में—स्व-आत्मा में चर्या ब्रह्मचर्य है[1]।

३-शाश्वत सनातन धर्म

भगवान महावीर के ठीक पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे। वे सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण और सर्व बहिर्दादान (परिग्रह) विरमण—इन चारयामों का प्ररूपण करते थे। भगवान महावीर के समय में भी अनेक पार्श्वपात्य निर्ग्रंथ साधु वर्तमान थे जो चातुर्याम का पालन और प्रचार करते थे[2]। महावीर ने उपर्युक्त चारयामों में सर्व बहिर्दादान विरमण के पहले सर्व मैथुन विरमण को और जोड दिया और पाँचयाम का उपदेश आरम्भ किया। उनके निर्ग्रन्थ साधु पाँचयामों का पालन करने लगे। यह एक चर्चा का विषय बन गया। पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार और वर्द्धमान के शिष्य गौतम दोनों ही विद्या और चारित्र में परिपूर्ण थे। इस शंका को जानकर दोनों अपने-अपने शिष्य समुदाय के साथ तिन्दुक वनमें मिले[3]। और दोनों में निम्न वार्तालाप हुआ :

केशी ने पूछा : गौतम ! वर्धमान पाँचशिक्षा रूप धर्म का उपदेश करते हैं और पार्श्वनाथ ने चारयाम रूप धर्म का ही उपदेश दिया। एक ही कार्य के लिए प्रवृत्त इन दोनों में भेद होने का क्या कारण[4] ? इस प्रकार धर्म के दो भेद होने पर आपको संशय क्यों नहीं होता ?"

गौतम बोले : "प्रज्ञा ही धर्म को सम्यक् रूप से देखती है। तत्व का विनिश्चय प्रज्ञा से होता है। प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि ऋजुजड़ थे और अन्तिम तीर्थङ्कर के मुनि वक्रजड हैं। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के मुनि ऋजुप्राज्ञ थे। इससे धर्म के दो भेद देखे जाते हैं। प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि कठिनता से धर्म समझने और अन्तिम जिन के मुनियों के लिए धर्म-पालन कठिन है। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के मुनियों के लिए धर्म समझना और पालन करना सुलभ होता है। अतः प्रथम और चरम तीर्थङ्कर के मार्ग में ब्रह्मचर्य याम का पृथक् प्ररूपण ही सुखावह है[5]।" अन्य तीर्थङ्कर चारयाम का ही प्ररूपण करते हैं[6]।"

१—या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः।
तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम् ॥

२—(क) भगवती २.५ :
तेणं काले णं तेणं समये णं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो···सहंसुहेणं विहरमाणा जेणेव तुंगिया नगरी......तेणेव उवागच्छंति,....तए णं ते थेरा भगवंतो तिसं समणोवासयाणं......चाउज्जामं धम्मं परिकहंति

(ख) सूत्रकृताङ्ग २.७ :
तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं...वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए...।

३—उत्तराध्ययन २३.१-१५ :

४—उत्तराध्ययन २३.२३-२४ :
चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥
एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं।
धम्मे दुविहे मेहावि कहं विप्पच्चओ न ते ॥

५—वही २३.२५-२७,८७

६—स्थानाङ्ग :
पच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीसं अरिहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति तं जहा सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं एवं मुसावायाओ वेरमणं सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं

इस चर्चा के बाद केशी श्रमण ने श्रमणसंघ सहित पाँचयाम रूप धर्म को ग्रहण किया[1]।

उपर्युक्त वार्तालाप के फलित इस प्रकार हैं :

१—भगवान महावीर ने जो पाँचयाम का उपदेश किया, यह कोई नई बात नहीं थी। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव भी पाँचयाम का उपदेश करते थे।

२—पार्श्वनाथ के मुनि ऋजुप्राज्ञ थे अतः मैथुन विरमण याम को बहिर्दादान (परिग्रह) के अन्तर्गत मानने में उनको कठिनाई नहीं होती और चारयाम के धारक होने पर भी मैथुन विरमण को बहिर्दादान विरमण के अन्तर्गत मान व्यवहारतः पाँचों का पालन करते थे।

३—प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि कठिनता से समझते अतः उनके सुखावबोध के लिए सर्व मैथुन विरमण का एक अलग याम के रूप में उपदेश दिया गया। चरम तीर्थङ्कर के मुनियों के लिए पालन करना कठिन था। अतः ब्रह्मचर्य के पालन पर सम्यक् जोर देने के लिए महावीर ने सर्व मैथुन विरमण महाव्रत को पुनः पृथक् कर पाँचयाम का उपदेश दिया।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि 'सर्व मैथुन विरमण महाव्रत' अर्थात् 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' जैन परम्परा में एक सनातन धर्म के रूपमें स्वीकृत रहा—कभी पृथक् महाव्रत के रूप में और कभी बहिर्दादान विरमण महाव्रत के अन्तर्गत व्यवहार धर्म के रूप में।

इस बात को ध्यान में रख कर ही कहा गया है—"ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है। यह जिन-देशित है। पूर्व में इस धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, अभी होते हैं और आगे भी होंगे[2]।"

४-आश्रम व्यवस्था और ब्रह्मचर्य का स्थान

मनुस्मृति के अनुसार सारे धर्म का मूल वेद है—"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (२.६)। उसमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चारों आश्रमों की उत्पत्ति वेद से बताई गई है[3]। पर वेदों में—संहिता और ब्राह्मणों में आश्रम शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। और न ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के नाम ही मिलते हैं। अतः चतुराश्रम-व्यवस्था वेद-प्रसूत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वेदों में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य शब्द मिलते हैं[4]। शतपथ आदि प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य शब्द उपलब्ध है[5]। इससे प्रमाणित होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम की कल्पना का बीज वेदों में उपलब्ध था। वेदों में "हे वधु! हम दोनों की सौभाग्य-समृद्धि के लिए मैं तुम्हारा पाणि-ग्रहण करता हूँ। मैंने तुम्हें देवताओं से प्रसाद रूप में गार्हपत्य के लिए—गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए पाया है[6]—ऐसे सूक्त भी पाये जाते हैं जिससे कहा जा सकता है कि गृहस्थ आश्रम की कल्पना का आधार भी वेदों में है। पर वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के बीज वेदों में उपलब्ध नहीं हैं। वेदों के "तुम

१—उत्तराध्ययन २३.८७ :

पूवं तु संसए छिन्ने केसी घोरपरक्कमे।
अभिवन्दित्ता सिरसा गोयमं तु महायसं॥
पंच महव्वयधम्मं पडिवज्जइ भावओ।
पुरिमस्स पच्छिमंमि मग्गे तत्थ सुहावहे॥

२—उत्तराध्ययन १६.१७ :

एसे धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे॥

३—मनुस्मृति १२.६७ :

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति॥

४—(क) ऋग्वेद १०.१०६.५; अथर्ववेद ५.१७.५; तैत्तिरीय संहिता ३.१०.५

(ख) अथर्ववेद ११.५.१-२६

५—शतपथ ब्राह्मण ६.५.४.१२

६—ऋग्वेद १०.८५.३६ :

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं...
मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।

मुझ पति के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त करो [१]", "पति पत्नी के साथ जीवन-पर्यंत अग्निहोत्र करे[२]", "पति पत्नीसह जीवनपर्यंत दर्श और पूर्णमास यागों को करे[३]"—आदि विधानों से स्पष्ट है कि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की कल्पना के आधार वेद नहीं हैं।

उपनिषद् काल में आश्रम-व्यवस्था का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास देखा जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्रथम तीन आश्रमों का संकेत रूप में वर्णन है[४]। अन्य उपनिषदों में संन्यास-ग्रहण के उल्लेख हैं[५]। जाबालोपनिषद् (४) में चारों आश्रमों का स्पष्ट रूप में नाम-निर्देश है।

धर्मसूत्रों के युग में चतुराश्रम-व्यवस्था अच्छी तरह देखी जाती है। प्राचीन-से-प्राचीन धर्मसूत्र में भी चारों आश्रमों का उल्लेख पाया जाता है।

उपर्युक्त चार आश्रमों के ग्रहण की व्यवस्था के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में निम्न दो विधान मिलते हैं[६] :

(१) ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृही होना चाहिए। गृहस्थ के बाद वनी—वानप्रस्थ होना चाहिए। वानप्रस्थ के बाद प्रव्रजित होना चाहिए। यह समुच्चय पक्ष कहलाता है।

(२) यदि अन्यथा देखे अर्थात् उत्कट वैराग्य हो तो ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करे या गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थ से संन्यास में गमन करे अथवा जब वैराग्य उत्पन्न हो तभी प्रव्रजित हो। यह विकल्प पक्ष कहलाता है।

(३) तीसरा मत गौतम और बौधायन जैसे प्राचीन धर्म सूत्रों का है। इनके अनुसार आश्रम एक ही है और वह है गृहस्थ आश्रम[७]। ब्रह्मचर्य आश्रम गृहस्थ आश्रम की भूमिका मात्र है। इसे बाध पक्ष कहते हैं।

समुच्चय पक्ष के अनुसार आश्रमों को उनके क्रम से ही ग्रहण किया जा सकता है। बीच के आश्रम को छोड़कर बाद का ग्रहण नहीं किया जा सकता। उदाहरण स्वरूप ब्रह्मचर्य से अथवा गार्हस्थ्य आश्रम से सीधा संन्यास ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस मत के सम्बन्ध में श्री काने लिखते हैं : "यह मत विवाह अथवा वैवाहिक जीवन (Sexual life) को अपवित्र अथवा सन्यास से निम्नकोटि का नहीं मानता। इतना ही नहीं यह गार्हस्थ्य को संन्यास से उच्च स्थान देता है। समुच्चय रूप से अधिकांश धर्मशास्त्रों का झुकाव गार्हस्थ्य आश्रम की महिमा बढ़ाने तथा वानप्रस्थ और संन्यास को पीछे ढकेलने की ओर रहा है। यह बात यहाँ तक पहुँची है कि कितने ही ग्रंथों में यह उल्लेख आया है कि कलि-काल में वानप्रस्थ और सन्यास वर्जित हैं[८]।" आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आश्रमों का क्रम इस प्रकार है—"आश्रम चार हैं—गार्हस्थ्य, आचार्यकुल-वास, मौन और वानप्रस्थ।" यहाँ 'आचार्य कुलवास' ब्रह्मचर्य का द्योतक है और 'मौन' सन्यास का। यहाँ गार्हस्थ्य आश्रम को सब आश्रमों से पूर्व रखा है। इसका कारण वही है जो श्री काने ने उल्लिखित किया है।

समुच्चय और विकल्प पक्ष की आलोचना करते हुए बौधायन धर्मसूत्र में लिखा है—"प्रह्लाद के पुत्र कपिल ने देवों के प्रति स्पर्धा के कारण आश्रम-भेदों को खड़ा किया है। मनीषी इन पर ध्यान नहीं देते।"

१—ऋग्वेद १०.८५.३६ :
गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथासः
२—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति
३—यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्
४—छान्दोग्य उपनिषद् २.२३.१
५—बृहदारण्यक उपनिषद् ३.८.१; ४.५.२; मुण्डक उपनिषद् १.२.११; ३.२.६
६—जाबालोपनिषद् ४ :
ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्
यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वावनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्
७—(क) गौतम धर्मसूत्र ३.१,३५ :
तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते। ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य
(ख) बौधायन धर्मसूत्र २.६.२९ :
ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजनत्वादितरेषाम्।
८—History of Dharmasastra Vol. II Part I p. 424

बोधायन ने यह भी कहा है—"वास्तव में आश्रम एक है—गृहस्थाश्रम[१]।"

यहाँ संक्षेप में यह भी जान लेना आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश किस तरह होता था और ब्रह्मचारी के विशेष धर्म व कर्त्तव्य क्या थे। बालक आचार्य से कहता—मैं ब्रह्मचर्य के लिए आया हूँ। मुझे ब्रह्मचारी करें। आचार्य विद्यार्थी से उसका नाम पूछता। इसके बाद आचार्य उपनयन करते—उसे अपने नजदीक लेते। और उसके हाथ को ग्रहण कर कहते—तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, अग्नि तुम्हारा आचार्य है, मैं तुम्हारा आचार्य हूँ। इसके बाद आचार्य उसे भूतों को अर्पित करते। आचार्य शिक्षा देते—जल पीओ, कर्म करो, समिधा दो, दिन में मत सोओ, मधु मत खाओ। इसके बाद आचार्य सावित्री मंत्र का उच्चारण करते[२]। इस तरह छात्र ब्रह्मचारी अथवा ब्रह्मचर्याश्रम में प्रतिष्ठित होता।

ब्रह्मचारी गुरुकुल में वास करता। आचार्य की शुश्रूषा और समिधा-दान आदि सारे कार्य करने के बाद जो समय मिलता उसमें वह वेदाभ्यास करता[३]। उसे भूमि पर शयन करना पड़ता। ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना पड़ता। ब्रह्मचर्य उसके विद्यार्थी जीवन का सहचर व्रत था।

वेदाध्ययन-काल साधारणतः एक परिमित काल था। इसकी आदर्श अवधि १२ वर्ष की कही गयी है पर कोई एक वेद का अध्ययन करने के बाद भी गुरुकुल वास से वापिस घर जा सकता था। वैसे ही कोई चाहता तो १२ वर्ष से अधिक समय तक भी वेदाध्ययन चला सकता था। ये सब विद्यार्थी ब्रह्मचारी कहलाते थे[४]। इसके अतिरिक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी होते। वे जीवन-पर्यन्त वेदाभ्यास का नियम लेते और आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते। नैष्ठिक ब्रह्मचारी की परम्परा स्मृतियों से प्राचीन नहीं कही जा सकती हालांकि इसका बीज उपनिषद् काल में देखा जाता है[५]।

वेदाध्ययन से मुक्त होने पर विद्यार्थी वापिस अपने घर आता था। वह स्नातक कहलाता। अब वह गार्हस्थ्य के सर्व भोगों को भोगने के लिए स्वतन्त्र था। वेदाध्ययन काल से मुक्त होने पर विवाह कर सन्तानोत्पत्ति करना उसका आवश्यक कर्त्तव्य होता था।

ऊपर के विस्तृत विवेचन का फलितार्थ यह है :

(१) वैदिक काल में वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम नहीं थे। गार्हस्थ्य प्रधान था। बाल्यावस्था में छात्र गुरुकुल में वास कर वेदाभ्यास करते। इसे ब्रह्मचर्य कहा जाता और वेदाभ्यास करने वाले छात्र ब्रह्मचारी कहलाते थे।

(२) ब्रह्मचर्य आश्रम का मुख्य अर्थ है गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्म—वेदों की चर्या—अभ्यास। वेदाभ्यास काल में अन्य नियमों के साथ विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन भी अनिवार्य था। परन्तु इस कारण से वह ब्रह्मचारी नहीं कहलाता था, वेदाभ्यास के कारण ब्रह्मचारी कहलाता था। यह इससे भी स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य ग्रहण करते समय भी "सर्व मैथुन विरमण" जैसा कोई व्रत न छात्र लेता था और न आचार्य दिलाते थे।

(३) वैदिक काल में वानप्रस्थ और सन्यास की कल्पना न रहने से मुख्य आश्रम गार्हस्थ्य ही रहा। उस समय प्रजोत्पत्ति पर विशेष बल दिया जाता रहा। इस परिस्थिति में जीवन-व्यापी 'सर्व अब्रह्म विरमण' की कल्पना वेदों में नहीं देखी जाती।

(४) उपनिषद् काल में क्रमशः वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम सामने आये। इस व्यवस्था में उत्सर्ग मार्ग में संन्यास का स्थान अंतिम रहा। अतः सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य जीवन के अन्तिम चरण में साध्य होता और वानप्रस्थ सपत्नीक भी होता था।

(५) उपनिषद् काल में 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्'—इस विकल्प पक्ष ने ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधा संन्यास आश्रम में जा सकने का मार्ग खोल कर जीवन-व्यापी पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की भावना को बल दिया पर धर्मसूत्रों के काल में इस व्यवस्था पर आक्रमण हुए। वानप्रस्थ और संन्यास को अवेदविहित कह कर उन्हें बहिष्कृत किया जाने लगा। 'गार्हस्थ्य आश्रम ही एक मात्र आश्रम है' कह कर गार्हस्थ्य को पुनः प्रतिष्ठित करने से सर्व अब्रह्म विरमण की भावना पनप न पाई।

१—बौधायन धर्मसूत्र २.६.२६-३१ :
ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् तत्रोदाहरन्ति। प्राह्लादिर्वै कपिलो नामासुर आस स एतान्भेदांश्चकार देवैः स्पर्धमानस्तान्मनीषी नाद्रियेत।

२—शतपथ ११.५.४.१-१७

३—छान्दोग्य उपनिषद् ८.१५.१ :
आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य।

४—History of Dharmasastra Vol. 11 Part 1 pp. 349-352

५—छान्दोग्य उपनिषद् २.२३.१

मुझ पति के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त करो [1]", "पति पत्नी के साथ जीवन-पर्यंत अग्निहोत्र करे[2]", "पति पत्नीसह जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास यागों को करे[3]"—आदि विधानों से स्पष्ट है कि वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम की कल्पना के आधार वेद नहीं हैं।

उपनिषद् काल में आश्रम-व्यवस्था का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास देखा जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् में प्रथम तीन आश्रमों का संकेत रूप में वर्णन है[4]। अन्य उपनिषदों में संन्यास-ग्रहण के उल्लेख हैं[5]। जाबालोपनिषद् (४) में चारों आश्रमों का स्पष्ट रूप में नाम-निर्देश है।

धर्मसूत्रों के युग में चतुराश्रम-व्यवस्था अच्छी तरह देखी जाती है। प्राचीन-से-प्राचीन धर्मसूत्र में भी चारों आश्रमों का उल्लेख पाया जाता है।

उपर्युक्त चार आश्रमों के ग्रहण की व्यवस्था के सम्बन्ध में छान्दोग्य उपनिषद् में निम्न दो विधान मिलते हैं[6] :

(१) ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृही होना चाहिए। गृहस्थ के बाद वनी—वानप्रस्थ होना चाहिए। वानप्रस्थ के बाद प्रव्रजित होना चाहिए। यह समुच्चय पक्ष कहलाता है।

(२) यदि अन्यथा देखे अर्थात् उत्कट वैराग्य हो तो ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करे या गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थ से संन्यास में गमन करे अथवा जब वैराग्य उत्पन्न हो तभी प्रव्रजित हो। यह विकल्प पक्ष कहलाता है।

(३) तीसरा मत गौतम और बोधायन जैसे प्राचीन धर्म सूत्रों का है। इनके अनुसार आश्रम एक ही है और वह है गृहस्थ आश्रम[7]। ब्रह्मचर्य आश्रम गृहस्थ आश्रम की भूमिका मात्र है। इसे बाध पक्ष कहते हैं।

समुच्चय पक्ष के अनुसार आश्रमों को उनके क्रम से ही ग्रहण किया जा सकता है। बीच के आश्रम को छोड़कर बाद का ग्रहण नहीं किया जा सकता। उदाहरण स्वरूप ब्रह्मचर्य से अथवा गार्हस्थ आश्रम से सीधा संन्यास ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस मत के सम्बन्ध में श्री काने लिखते हैं : "यह मत विवाह अथवा वैवाहिक जीवन (Sexual life) को अपवित्र अथवा संन्यास से निम्नकोटि का नहीं मानता। इतना ही नहीं यह गार्हस्थ्य को संन्यास से उच्च स्थान देता है। समुच्चय रूप में अधिकांश धर्मशास्त्रों का झुकाव गार्हस्थ्य आश्रम की महिमा बढ़ाने तथा वानप्रस्थ और सन्यास को पीछे ढकेलने की ओर रहा है। यह बात यहाँ तक पहुँची है कि कितने ही ग्रंथों में यह उल्लेख आया है कि कलि-काल में वानप्रस्थ और संन्यास वर्जित हैं[8]।" आपस्तम्ब धर्मसूत्र में आश्रमों का क्रम इस प्रकार है—"आश्रम चार हैं—गार्हस्थ्य, आचार्यकुल-वास, मौन और वानप्रस्थ।" यहाँ 'आचार्य कुलवास' ब्रह्मचर्य का द्योतक है और 'मौन' सन्यास का। यहाँ गार्हस्थ्य आश्रम को सब आश्रमों से पूर्व रखा है। इसका कारण वही है जो श्री काने ने उल्लिखित किया है।

समुच्चय और विकल्प पक्ष की आलोचना करते हुए बौधायन धर्मसूत्र में लिखा है—"प्रह्लाद के पुत्र कपिल ने देवों के प्रति स्पर्धा के कारण आश्रम-भेदों को खड़ा किया है। मनीषी इन पर ध्यान नहीं देते।"

१—ऋग्वेद १०.८५.३६ :
गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथासः

२—यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति

३—यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत

४—छान्दोग्य उपनिषद् २.२३.१

५—बृहदारण्यक उपनिषद् ३.५.१; ४.४.२; मुण्डक उपनिषद् १.२.११; ३.२.६

६—जाबालोपनिषद् ४ :
ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्
यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वावनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्

७—(क) गौतम धर्मसूत्र ३.१,३५ :
तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते। ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य

(ख) बौधायन धर्मसूत्र २.६.२९ :
ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्।

८—History of Dharmasastra Vol. II Part I p. 424

बोधायन ने यह भी कहा है—"वास्तव में आश्रम एक है—गृहस्थाश्रम"[1]

यहाँ संक्षेप में यह भी जान लेना आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश किस तरह होता था और ब्रह्मचारी के विशेष धर्म व कर्तव्य क्या थे। बालक आचार्य से कहता—मैं ब्रह्मचर्य के लिए आया हूँ। मुझे ब्रह्मचारी करें। आचार्य विद्यार्थी से उसका नाम पूछता। इसके बाद आचार्य उपनयन करते—उसे अपने नजदीक लेते। और उसके हाथ को ग्रहण कर कहते—तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, अग्नि तुम्हारा आचार्य है, मैं तुम्हारा आचार्य हूँ। इसके बाद आचार्य उसे भूतों को अर्पित करते। आचार्य शिक्षा देते—जल पीओ, कर्म करो, समिधा दो, दिन में मत सोओ, मधु मत खाओ। इसके बाद आचार्य सावित्री मन्त्र का उच्चारण करते[2]। इस तरह छात्र ब्रह्मचारी अथवा ब्रह्मचर्याश्रम में प्रतिष्ठित होता।

ब्रह्मचारी गुरुकुल में वास करता। आचार्य की शुश्रूषा और समिधा-दान आदि सारे कार्य करने के बाद जो समय मिलता उसमे वह वेदाभ्यास करता[3]। उसे भूमि पर शयन करना पड़ता। ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना पड़ता। ब्रह्मचर्य उसके विद्यार्थी जीवन का सहचर व्रत था।

वेदाध्ययन-काल साधारणतः एक परिमित काल था। इसकी आदर्श अवधि १२ वर्ष की कही गयी है पर कोई एक वेद का अध्ययन करने के बाद भी गुरुकुल वास से वापिस घर जा सकता था। वैसे ही कोई चाहता तो १२ वर्ष से अधिक समय तक भी वेदाध्ययन चला सकता था। ये सब विद्यार्थी ब्रह्मचारी कहलाते थे[4]। इनके अतिरिक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी होते। वे जीवन-पर्यन्त वेदाभ्यास का नियम लेते और आजीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते। नैष्ठिक ब्रह्मचारी की परम्परा स्मृतियों से प्राचीन नहीं कही जा सकती हालांकि इसका बीज उपनिषद् काल में देखा जाता है[5]।

वेदाध्ययन से मुक्त होने पर विद्यार्थी वापिस अपने घर आता था। वह स्नातक कहलाता। अब वह गार्हस्थ्य के सर्व भोगों को भोगने के लिए स्वतन्त्र था। वेदाध्ययन काल से मुक्त होने पर विवाह कर सन्तानोत्पत्ति करना उसका आवश्यक कर्तव्य होता था।

ऊपर के विस्तृत विवेचन का फलितार्थ यह है :

(१) वैदिक काल में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम नहीं थे। गार्हस्थ्य प्रधान था। बाल्यावस्था मे छात्र गुरुकुल मे वास कर वेदाभ्यास करते। इसे ब्रह्मचर्य कहा जाता और वेदाभ्यास करने वाले छात्र ब्रह्मचारी कहलाते थे।

(२) ब्रह्मचर्य आश्रम का मुख्य अर्थ है गुरुकुल मे रहते हुए ब्रह्म—वेदों की चर्या—अभ्यास। वेदाभ्यास काल मे अन्य नियमों के साथ विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन भी अनिवार्य था। परन्तु इस कारण से वह ब्रह्मचारी नहीं कहलाता था, वेदाभ्यास के कारण ब्रह्मचारी कहलाता था। यह इससे भी स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य ग्रहण करते समय भी "सर्व मैथुन विरमण" जैसा कोई व्रत न छात्र लेता था और न आचार्य दिलाते थे।

(३) वैदिक काल में वानप्रस्थ और संन्यास की कल्पना न रहने से मुख्य आश्रम गार्हस्थ्य ही रहा। उस समय प्रजोत्पत्ति पर विशेष बल दिया जाता रहा। इस परिस्थिति में जीवन-व्यापी 'सर्व अब्रह्म विरमण' की कल्पना वेदों में नहीं देखी जाती।

(४) उपनिषद् काल में क्रमशः वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम सामने आये। इस व्यवस्था में उत्सर्ग मार्ग में संन्यास का स्थान अंतिम रहा। अतः सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य जीवन के अन्तिम चरण में साध्य होता और वानप्रस्थ सपत्नीक भी होता था।

(५) उपनिषद् काल में 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्'—इस विकल्प पक्ष ने ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधा संन्यास आश्रम में जा सकने का मार्ग खोल कर जीवन-व्यापी पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की भावना को बल दिया पर धर्मसूत्रों के काल मे इस व्यवस्था पर आक्रमण हुए। वान-प्रस्थ और संन्यास को अवेदविहित कह कर उन्हें बहिष्कृत किया जाने लगा। 'गार्हस्थ्य आश्रम ही एक मात्र आश्रम है' कह कर गार्हस्थ्य को पुनः प्रतिष्ठित करने से सर्व अब्रह्म विरमण की भावना पनप न पाई।

१—बौधायन धर्मसूत्र २.६.२६-३१ :

ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् तत्रोदाहरन्ति। प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नामासुर आस स एतान्भेदांश्चकार देवैः स्पर्धमानस्तान्म-नीषी नाद्रियेत।

२—शतपथ ११.५.४.१-१७

३—छान्दोग्य उपनिषद् ८.१५.१ :

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य।

४—History of Dharmasastra Vol. 11 Part 1 pp. 349-352

५—छान्दोग्य उपनिषद् २.२३.१

जैन धर्म में आश्रम-व्यवस्था को कभी स्थान नहीं मिला। ऐसी परिस्थिति में "जब वैराग्य हो तभी प्रव्रजित हो जाओ" यह उत्सर्ग मार्ग रहा। वैराग्य होने पर सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य भी जीवन के प्रथम चरण में यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया जा सकता है। इसी कारण कुमार अवस्था में अन्य महाव्रतों के साथ सर्व मैथुन विरमण व्रत ग्रहण कर प्रव्रज्या लेने के महत्वपूर्ण प्रसंगों का उल्लेख आगमों में मिलता है।

जैन धर्म और वैदिक धर्म में आश्रम-व्यवस्था को लेकर एक महान अन्तर है। जैन धर्म इस जीवन-क्रम को स्वाभाविक नहीं मानता क्योंकि जीवन, कमल के पत्ते पर पड़े हुए ओस-बिन्दु की तरह, अस्थिर है। वैसी हालत में निर्विकल्प धर्म-पालन का क्रम शेष में रखना मनुष्य जीवन की वास्तविक स्थिति—'आवीचिमरण' को भूलने जैसा है। जैन धर्म ने इसी दृष्टि से इस आश्रम भेद की जीवन-व्यवस्था को कभी स्वीकार नहीं किया और धर्म में शीघ्रता नहीं होती, इसी बात को अग्रसर रखा है। दोनों सम्कृतियों की भिन्न-भिन्न विचारसरणियों का तुलनात्मक ज्ञान निम्न प्रसंग से होगा।

जन्म, जरा और मृत्यु के भय से व्याकुल होकर और मोक्ष-प्राप्ति में चित्त को स्थिर कर संसार-चक्र से विमुक्त होने की उत्सुकता में भृगु पुरोहित के दो पुत्रों ने प्रव्रज्या लेने का विचार किया। वे अपने पिता से आकर बोले : "यह विहार—मनुष्य-शरीर अशाश्वत है। विघ्न बहुल हैं। आयु भी दीर्घ नहीं। हमें घर में रति—आनन्द नहीं मिलता। आप आज्ञा दें। हम मौन (श्रामण्य) धारण करेंगे।" यह सुन कर भृगु पुरोहित बोला : "वेदवित् कहते हैं कि पुत्र-रहित को लोक व परलोक की प्राप्ति नहीं होती। हे पुत्रो ! तुम लोग वेदों को पढ़कर, ब्राह्मणों को भोजन करा कर, स्त्रियों के साथ भोग भोग कर, पुत्रों को घर सौंप फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि बनना[1]।"

उपर्युक्त कथन में वैदिक संस्कृति के चार आश्रमों के जीवन-क्रम का ही वर्णन है। ब्रह्मचर्याश्रम में वेदाध्ययन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के मंगलाचार के रूप में स्नातकों को भोजन कराने की विधि थी। पिता ने पुत्रों से कहा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम बिताने के बाद संन्यास लो।

इस क्रम को तथ्यहीन बतलाते हुए बालकों ने कहा—"हे पिताजी ! वेदाध्ययन रक्षा नहीं करता। भोजन कराये हुए द्विज तमतमा ले जाते हैं और उत्पन्न हुए पुत्र रक्षक नहीं होते। ऐसी परिस्थिति में हम लोग आप की बात को कैसे मानें ?"

भृगु पुत्रों ने ब्राह्मणों को भोजन कराने में पाप बतलाते हुए गृहस्थाश्रम का खण्डन किया और मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रथम गृहस्थाश्रमी होने की बात को मानने से इन्कार कर दिया। इस आश्रम-व्यवस्था को ब्राह्मणों ने क्यों नहीं स्वीकार किया इसका कारण यह है : "अमोघ शस्त्र-धारा के पड़ने से सर्व दिशाओं में पीड़ित हुए इस लोक में अब हम घर में रह कर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। यह लोक मृत्यु से पीड़ित हो रहा है। जरा से घिरा हुआ है। रात-दिन अमोघ शस्त्र-धार की तरह बह रहे हैं। जो रात्रि जाती है, वह वापिस नहीं आती। अधर्म करनेवालों की रात्रियाँ निष्फल जाती हैं। जो धर्म का आचरण करते हैं उनकी रात्रियाँ सफल होती हैं। जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता है, जो उससे भागकर बच सकता है, जो यह जनता है कि मैं नहीं मरूँगा, वही कल की आशा कर सकता है। हम आज ही धर्मग्रहण करेंगे। श्रद्धापूर्वक विषय—राग को दूर करना ही योग्य है[2]।"

ब्राह्मण कुमारों ने जो उत्तर दिया वह जैन-धर्म की विचार-पद्धति है। जहाँ पल का भी भरोसा नहीं वहाँ वर्षों का भरोसा करना निरी मूर्खता है। 'यह करूँगा' 'वह करूँगा' ऐसा करते-करते ही काल मनुष्य-जीवन को हर लेता है। वैसी हालत में एक समय का भी प्रमाद करना भयङ्कर भूल है। जैन धर्म की यह विचार धारा, स्पष्टतः उस वैदिक धारा से भिन्न है जो आश्रम रूप में जीवन के चार भाग करती है।

इसके बाद कुमारों ने मौन ग्रहण किया। यह मौन और कुछ नहीं था। सर्व संयम रूप ब्रह्मचर्य और उसको ग्रहण करते समय जो पाँच महाव्रत अङ्गीकार किये जाते हैं और जिनमें सर्व मैथुन विरमण भी होता है, वही था।

आश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध में डॉ० ए. एन. बासम के निम्न विचार मननीय हैं : "आश्रम-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था के बाद का विचार है।....आश्रम-व्यवस्था, वास्तव में एक आदर्श को उपस्थित करती है न कि यथार्थ को। अनेक युवक जीवन के प्रथम क्रम ब्रह्मचर्य आश्रम का

१—उत्त० १४.९ :

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे पुत्त परिट्ठप्प गिहंसि जाया।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं आरण्णगा होह मुणी पसत्था॥

२—उत्तराध्ययन अ० १४ गा० ९-२८

उसके बताये हुए रूप मे कभी पालन नहीं करते थे। और बहुत थोड़े ही दूसरे क्रम गार्हस्थ्य आश्रम के उस पार पहुँचते। प्राचीन भारत के बहुत से आरण्यक और मुनि आयु में वृद्ध नही थे और उन्होंने गार्हस्थ्य आश्रम को या तो संक्षिप्त किया था अथवा उसे बाद ही दे दिया। चार आश्रमों की शृंखला तथ्यों का आदर्शीकरण है और अध्ययन, गार्हस्थ्य और श्रामण्य की विरोधी मांगों को एक जीवन-काल में स्थान देने का कृत्रिम प्रयत्न है। यह संभव है कि आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति का आंशिक कारण उन अवैदिक बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का प्रतिवाद करना रहा हो जो कि युवकों को भी मुनित्व ग्रहण करने की प्रेरणा देते रहे और गार्हस्थ्य-जीवन को सम्पूर्णतः बाद देते रहे। आरंभ में बौद्ध धर्म और जैन धर्म की यह प्रणाली ब्राह्मणों की स्वीकृति प्राप्त नही कर सकी, हालांकि बाद में इसके लिए स्थान बनाना पड़ा[१]।"

५-ब्रह्मचर्य और अन्य महाव्रत

एक बार गणधर गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा : "भंते! मैथुन सेवन करनेवाले पुरुष के किस प्रकार का असंयम होता है?" महावीर ने उत्तर दिया : "हे गौतम! जैसे एक पुरुष रुई की नली या बूर की नली में तप्त शलाका डाल उसे विध्वंस कर दे। मैथुन-सेवन करनेवाले का असंयम ऐसा होता है[२]।"

आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त बात को इस प्रकार रखा है : "सहवास मे प्राणीवध का सर्वत्र सद्भाव रहता है अतः हिंसा भी अवश्य होती है। जिस प्रकार तिलों की नली में तप्त लोह के डालने से तिल भुन जाते हैं, उसी प्रकार मैथुन-क्रिया मे योनि में बहुत जीवों का संहार होता है। कामोद्रेक से किञ्चित् भी अनङ्गरमणादि क्रिया की जाती है उसमें भी रागादि की उत्पत्ति के निमित्त मे हिंसा होती है[३]।"

अब्रह्म में हिंसा ही नही अन्य पाप भी हैं। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं : "अहिंसादि गुण जिसके पालन से सुरक्षित रहते या बढ़ते हैं, वह ब्रह्म है। जिसके होने से अहिंसादि गुण सुरक्षित नहीं रहते, वह अब्रह्म है। अब्रह्म क्या है? मैथुन। मैथुन से हिंसादि दोषों का पोषण होता है। जो मैथुन-सेवन में दक्ष है, वह चर-अचर सब प्रकार के प्राणियों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, बिना दी हुई वस्तु लेता है तथा चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के परिग्रह को स्वीकार करता है[४]।"

१—The Wonder that was India pp. 158-159

२—भगवती २.५ :

मेहुणेणं भंते! सेवमाणस्स केरिसिए असंजमे कज्जइ? गोयमा! से जहा नामए केई पुरिसे रुयनालियं वा, बूरनालियं वा तत्तेणं कणएणं समविद्धंसेज्जा, एरिसएणं गोयमा! मेहुणं सेवमाणस्स असंजमे कज्जइ।

३—(क) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १०७; १०८, १०९ :

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥
यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्॥

(ख) ज्ञानार्णव १३.२ :

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसंघट्टपीडिताः॥

४—तत्त्वार्थसूत्र ७.१६ सर्वार्थसिद्धि :

अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। न ब्रह्म अब्रह्म इति। किं तत्? मैथुनम्। तत्र हिंसादयो दोषाः पुष्यन्ति। यस्मान्मैथुनसेवनप्रवणः स्थास्नूंश्चरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मृषावादमाचष्टे अदत्तमादत्ते अचेतनमितरं च परिग्रहं गृह्णाति।

जैन धर्म मे सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व ग्रदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण और सर्व परिग्रह विरमण —इन पांच को महाव्रत कहते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। जो श्रामण्य (ब्रह्मचर्य) को ग्रहण करता है उसे इन पाँचों महाव्रतों को एक साथ ग्रहण करना होता है। जो इन्हें युगपत् रूप से सम्पूर्ण रूप में ग्रहण नही करता, वह किसी का पालन नही कर सकता। स्वामीजी ने इस बात को अपनी एक अन्य कृति गुरु-शिष्य के संवाद रूप में बडे ही सुन्दर और मौलिक ढंग से समझाया है। उसका सार इस प्रकार है :

गुरु : हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इन दुष्कर्मों के आचरण से जीव कर्मो को उपार्जन कर चार गति रूप संसार में भ्रमण करता है। अहिंसा, अमिथ्या, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचों महाव्रतों का निरतिचार पालन करनेवाला पुरुष नये कर्मो का उपार्जन न करता हुआ पुराने कर्मो का क्षय करता है और इस प्रकार अपनी आत्मा को निर्मल कर मोक्ष प्राप्त करता है।

शिष्य : मैं पहला महाव्रत ग्रहण करता हूँ—मैं छ. प्रकार के जीवो की हिंसा नहीं करूँगा परन्तु मेरी जबान इतनी वश में नहीं कि मैं झूठ छोड सकू। अत मुझे झूठ बोलने की छूट है।

गुरु · भगवान के बताये हुए पांच महाव्रत इस तरह ग्रहण नही किये जाते। जब तुम झूठ बोलने का त्याग नही करते तब यह विश्वास कैसे हो कि तुम हिंसा में धर्म नहीं ठहरावोगे। झूठ बोलनेवाला यह कहने मे सकोच कैसे करेगा कि देव, गुरु और धर्म के लिए प्राणियो की हिंसा करने में बुराई नही और आरंभादि से जीव भली गति को प्राप्त करता है। मिथ्या भाषण द्वारा कोई इस सिद्धान्त का प्रचार करने लग जाय कि हिंसा में भी धर्म है तो महाव्रत की तो बात दूर रही सम्यक्त्व—सत्य दृष्टि का भी लोप हो जाय।

शिष्य . स्वामिन् ! मै हिंसा और झूठ दोनो का त्याग करूँगा परन्तु चोरी नहीं छोड सकता। धन मे मुझे अत्यन्त मोह है।

गुरु . यदि तू जीव-हिंसा और झूठ को छोडता है तो तेरी चोरी कैसी निभेगी ? यदि तू चोरी कर सत्य बोलेगा तो लोग तुझे चोरी कब करने देंगे। परधन की चोरी करने से मालिक दु.ख पाता है। किसी को दु.ख देना हिंसा है यदि तू कहेगा कि इसमें हिंसा नही तो पहले दोनो ही महाव्रत चकनाचूर हो जायेंगे। क्योकि हिंसा को अस्वीकार करने से झूठ का दोष भी लगेगा।

शिष्य : मैं तीनों महाव्रतों को अच्छी तरह ग्रहण करता हूँ। परन्तु चौथा महाव्रत स्वीकार करना मुझ से नही बनता। मोहोदय से आत्मा स्ववश नही। मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक नही रह सकता।

गुरु अब्रह्मचर्य के सेवन से पहले तीनो महाव्रत भग होते है। अब्रह्मचर्य सब गुणो को एक पलक मात्र मे उसी तरह छार कर देता है जिस तरह धुनी हुई रूई को आग। मैथुन से पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। हिंसा नही होती, ऐसा कहने से झूठ का दोष लगता है। पर-प्राण का हरण चोरी है। अब्रह्मचर्य सेवन से प्रभु की आज्ञा का भङ्ग होता है—चोरी लगती है। इस तरह तीनो ही महाव्रत खण्डित हो जाते हैं।

शिष्य . मैं चारो ही महाव्रतों को ग्रहण करता हूँ; परन्तु पाँचवा महाव्रत कैसे ग्रहण करूँ ? ममता छोड़ना मेरे लिए कठिन है। मैं नव ही प्रकार का परिग्रह रखूँगा।

गुरु : क्षेत्र-वस्तु, धन-धान्य, द्विपद-चौपद, हिरण्य-सुवर्ण और कुम्भी धातु—ये परिग्रह, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य—इन चारो आस्रवो के मूलाधार हैं। तू परिग्रह की छूट रख कर अन्य व्रतो का किस तरह पालन कर सकेगा ?. .ऐसा कहना तो तुम्हारी निरी भूल है।

शिष्य : खैर; मैं पाँचो ही आस्रवों का त्याग करता हूँ पर एक करण तीन योग से। मेरे स्नेही—सगी बहुत हैं अत. मैं कराने और अनु-मोदन करने की छूट रखता हूँ।

गुरु : घर में तो तुम्हें कोई पूछता ही नही था और खाने के लिए तुम्हे अन्न भी नही मिलता था और अब भगवान के साधुओ का वेष ग्रहण करने की इच्छा कर राज्य करने चले हो ! तुमने त्याग कर कितना त्यागा है ? अब तो तुम लोक मे हुक्म चलाने की कामना रखते हो ! इस हिसाब से तुम एक महाराजा से कम कहाँ हो ?

शिष्य : मैं पाँचों ही आस्रवो का दो करण तीन योग से त्याग करता हूँ। अब केवल अनुमोदन की छूट रहती है।

गुरु : अनुमोदन की छूट रखने से तू अपने लिए किया हुआ आहार आदि स्वीकार करेगा। सयोग बना रहेगा। इससे पाँचो ही महाव्रतो में विकार उत्पन्न होगा। हिंसा आदि पाँचो पापो में अनुमोदन की भावना—हर्ष भावना रहने से उनके प्रति तुम्हारा आदर भाव नही छूटेगा। इस तरह मन, वचन और काय—इन तीनों ही योगो के विषयों मे तुम्हारा आर्त—रौद्र ध्यान रहेगा। पांच आस्रवो का तीन करण तीन योग से

परिहार किये बिना कोई अनगार नहीं हो सकता। धर्म और शुक्ल ध्यान से ही अनगार होता है।

शिष्य बोला : आत्म-कल्याण के लिए मुझे पाँचो महाव्रत तीन करण तीन योगपूर्वक यावज्जीवन के लिए ग्रहण करावें[1]।

जैन धर्म मे कार्य करने के तीन साधन बताये गये हैं—मन, वचन और काय। इन्हें करण कहा जाता है। कार्य तीन तरह से होता है—करना, कराना और अनुमोदन करना। इन्हें योग कहा जाता है।

हिंसा, झूठ, अदत्तादान—चोरी, मैथुन और परिग्रह, इन सब के त्याग एक साथ तीन करण और तीन योग से किये जाते हैं तब ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के महाव्रत सिद्ध होते हैं अन्यथा नहीं। किसी भी एक महाव्रत की रक्षा का उपाय दूसरे महाव्रत हैं।

जैसे पाँचो महाव्रतों को एक साथ ग्रहण करना पड़ता है, वैसे ही उनका पालन भी युगपत् रूप से करना पड़ता है। जो एक महाव्रत को भङ्ग करता है वह सब को भङ्ग करता है। स्वामीजी ने इस तत्व को निम्न प्रकार से समझाया है :

"एक भिखारी को पाँच रोटी जितना आटा मिला। वह रोटी बनाने बैठा। उसने एक रोटी पका कर चूल्हे के पीछे रख दी। दूसरी रोटी तवे पर सिक रही थी। तीसरी अंगारों पर थी। चौथी रोटी का आटा उसके हाथ मे था और पाँचवीं रोटी का कठौती मे। एक कुत्ता आया और कठौती से आटे को उठा ले गया। भिखारी उसके पीछे दौड़ा। वह ठोकर खाकर गिर पड़ा। उसके हाथ में जो एक रोटी का आटा था वह धूल मे गिर पड़ा। वापस आया इतने में चूल्हे के पीछे रखी हुई रोटी बिल्ली ले गयी। तवे की रोटी तवे पर ही जल गयी। अंगारों पर रखी हुई वही क्षार हो गई। एक रोटी का आटा जाने से बाकी चार रोटियाँ भी चली गयी। कदाश एक रोटी के नष्ट होने पर अन्य रोटियाँ नष्ट न भी हो, पर यह सुनिश्चित है कि एक महाव्रत के भङ्ग होने पर सभी महाव्रत भङ्ग हो जाते हैं[2]।"

इसी तथ्य के कारण आगम में कहा गया है—"एक ब्रह्मचर्य व्रत के भङ्ग होने से सहसा सब गुण भङ्ग हो जाते हैं, मर्दित हो जाते हैं, मथित हो जाते हैं, खंडित हो जाते हैं, पर्वत से गिरी हुई वस्तु की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं[3]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं : "पतंजलि ने पाँच यामों का वर्णन किया है। यह सम्भव नहीं कि इनमें से किसी एक को लेकर उसकी साधना की जा सके। ऐसा शक्य हो सकता है तो सिर्फ सत्य के सम्बन्ध में ही, क्योंकि दूसरे चार याम उसमे गर्भित हैं और उससे निकाले जा सकते हैं।...पर जीवन इतना सरल नहीं। एक सिद्धान्त में से अनेक निकाले जा सकते हैं तो भी एक सर्वोपरि सिद्धान्त को समझने के लिए अनेक उपसिद्धान्तों को जानना पड़ता है।

"यह भी समझना चाहिए कि सब व्रत समान हैं। एक टूटा कि सब टूटे। हम मे यह विश्वास साधारणतः घर कर गया है कि सत्य और अहिंसा का भङ्ग क्षम्य है। अचौर्य और परिग्रह की तो हम बात ही नहीं करते, उनके पालन की आवश्यकता को हम कम ही महसूस करते हैं। उधर कल्पनाप्रसूत ब्रह्मचर्य का भङ्ग भी क्रोध उत्पन्न करता है। जिस समाज में मूल्यों का ऐसा बढ़ा-घटा आंकन होता है उसमे कोई बड़ा दोष होना चाहिए। जब ब्रह्मचर्य को हम अलग कर देते हैं तो उसका स्थूल पालन भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि सब यामों को एक समझ कर अपनाया जाय। इससे ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण अर्थ और मर्म को हृदयगम करने में सफलता मिलेगी[4]।"

इसी तरह उन्होने एक बार कहा : "पाँच मुख्य व्रत मेरे आध्यात्मिक साधना के पाँच स्तम्भ हैं। ब्रह्मचर्य उनमें से एक है। परन्तु पाँचों अविभक्त और सम्बद्ध हैं। वे एक दूसरे से सम्बन्धित और एक दूसरे पर आधारित हैं। यदि उनमे से एक का भङ्ग होता है तो सबका भङ्ग होता है[5]।"

१—मूल ढाल के लिए देखिए भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख.१) : आचार की चौपई ढा० २४ पृ० ८६८-६। इस ढाल का अनुवाद "आचार्य संत भीखणजी" नामक पुस्तक में प्रकाशित किया जा चुका है। देखिए पृ० १८७

२—भिक्खु दृष्टान्त पृ० ४१

३—प्रश्नव्याकरण २,४ :

जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं संभग्गम (हि) थियचुन्नियकुसल्लियपल्लट्टपडियखंडियपरिसडियविणासियं।

४—Harijan : जून ८, १९४७ पृ० १८० के लेख के अंश का अनुवाद

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. I P. 585.

महात्मा गांधी और स्वामीजी के विचारों में जो साम्य है, वह स्वयं प्रकट है।

स्वामीजी ने किसी भी एक महाव्रत को दूसरे महाव्रतो के लिए कवच स्वरूप बताया है। यह भाव महात्मा गान्धी के निम्न विचारो से समर्थित है :

"ब्रह्मचर्य एकादश व्रतो मे से एक व्रत है। इस पर से कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य की मर्यादा या बाड़ एकादश व्रतो का पालन है। मगर एकादश व्रतों को कोई बाड न माने। बाड तो किसी खास हालत के लिए होती है। हालत बदली और बाड भी गई। मगर एकादश व्रत का पालन तो ब्रह्मचर्य का जरूरी हिस्सा है। उसके बिना ब्रह्मचर्य पालन नहीं हो सकता[1]।"

६-ब्रह्मचर्य और स्त्री-पुरुष का अभेद

तथागत बुद्ध के जीवन की एक घटना इस प्रकार मिलती है। एक बार वे शाक्यों के कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार कर रहे थे। तब महाप्रजापति गौतमी वहाँ आई और वन्दना कर एक ओर खडी हो बोली : "भन्ते ! अच्छा हो स्त्रियाँ भी तथागत के धर्म-विनय में प्रव्रज्या पावें।" बुद्ध बोले : "गौतमी ! तुम्हे ऐसा न रुचे।" गौतमी ने दूसरी-तीसरी बार भी निवेदन किया पर तथागत ने वही उत्तर दिया। गौतमी दुःखी, अश्रुमुखी हो भगवान को अभिवादन कर चली गई। इसके बाद तथागत वैशाली को चल दिये। वहाँ महावन की कूटागारशाला में ठहरे। महाप्रजापति गौतमी केशों को कटा, कषायवस्त्र पहिन बहुत-सी शाक्य-स्त्रियो के साथ कूटागारशाला में पहुँची। वहाँ द्वारकोष्ठक के बाहर खडी हुई। उसके पैर फुले हुए थे। शरीर धूल से भरा था। वह दुःखी, अश्रुमुखी, रोती हुई खड़ी थी। उसे देख आयुष्मान् आनन्द ने पूछा—"गौतमी ! तू ऐसे क्यों खडी है ?" वह बोली : "भन्ते आनन्द ! तथागत धर्म-विनय में स्त्रियो की प्रव्रज्या की अनुज्ञा नही देते।" "गौतमी ! तू यही रह। मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ।" आनन्द तथागत को अभिवादन कर एक ओर बैठ बोले : "भन्ते ! अच्छा हो स्त्रियों को प्रव्रज्या मिले।" "नही आनन्द ! ऐसा न रुचे।" आनन्द बोले : "भन्ते ! क्या स्त्रियाँ प्रव्रजित हो स्रोत-आपत्तिफल, सकृदागामिफल, अनागामिफल, अर्हत्वफल को साक्षात् कर सकती हैं ?" "साक्षात् कर सकती हैं आनन्द !" "भन्ते ! यदि स्त्रियाँ इस योग्य हैं तो अभिभाविका, पोषिका, क्षीरदायिका, भगवान की मौसी महाप्रजापति गौतमी बहुत उपकार करनेवाली है। उसने जननी के मरने पर भगवान को दूध पिलाया। भन्ते ! अच्छा हो स्त्रियों को प्रव्रज्या मिले।" गौतमी ने तथागत के उसी समय स्थापित आठ गुरु-धर्मो को स्वीकार किया। बाद में उसकी उपसम्पदा—प्रव्रज्या हुई।

प्रव्रज्याके बाद बुद्ध आनन्द से बोले : "आनन्द ! यदि तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय मे स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पाती तो यह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। अब ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच ही सौ वर्ष ठहरेगा। आनन्द ! जैसे बहुत स्त्रीवाले और थोड़े पुरुषोंवाले कुल, चोरों द्वारा, भेंडियाहों द्वारा आसानी से ध्वंसनीय होते हैं, उसी प्रकार जिस धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी नही होता। जैसे आनन्द ! सम्पन्न लहलहाते धान के खेत में सेतट्टिका नामक रोग की जाति पलती है, जिससे वह शालि-क्षेत्र चिरस्थायी नही होता, जैसे सम्पन्न ऊख के खेत मे मांजेष्ठिका नामक रोग-जाति पलती है, जिससे वह ऊख का खेत चिरस्थायी नही होता, ऐसे ही आनन्द ! जिस धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी नही होता[2]।"

इस घटना से प्रकट है कि बौद्ध धर्म के प्रवर्तक तथागत बुद्ध स्वय ही नारी के कर्तृत्व के प्रति शंकाशील थे। इसी कारण नारी की प्रव्रज्या का प्रश्न सामने आने पर वे पेशोपेश में पड़ गये। यह शंका नारी के ब्रह्मचर्य पालन की क्षमता के विषय में थी। वे नारी की आजीवन ब्रह्मचर्य की पात्रता को अन्त तक गले नही उतार सके। जैन धर्म के साहित्य में ऐसी शंका या भ्रान्ति कही भी परिलक्षित नहीं होती। जैन धर्म में नारी के प्रति ब्रह्मचर्य पालन के विषय में वैसी ही असंकाशील भावना देखी जाती है जैसी कि पुरुष के प्रति। स्त्री में भी आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की आत्मिक शक्ति और सामर्थ्य होने मे उतना ही विश्वास देखा जाता है जितना कि पुरुष में इनके होने के प्रति।

वैदिक परम्परा में नारी को सहधर्मिणी कहा गया है। पुरुष नारी को अपने साथ बैठाये बिना धार्मिक अनुष्ठान अथवा क्रिया-कलापों को पूरा नही कर सकता—ऐसी भावना है। इस तरह वैदिक परम्परा नारी को अपूर्व सम्मान प्रदान करती है परन्तु वहाँ नारी पुरुष की पर-

१—ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग) पृ० ५४

२—विनय पिटक : चुल्लवग्ग : भिक्षुणी-स्कंधक ३३।१।२ पृ० ५१९-२१ का सार

छाई की तरह चलती है। यदि वहाँ पुरुष नारी को छोड़ कर धर्म अनुष्ठान नहीं कर सकता तो नारी भी पुरुष से दूर रह कर आध्यात्मिक कल्याण को व्यापक रूप में सम्पादित नहीं कर सकती—ऐसी विचार-धारा है। वैदिक परम्परा में नारी-संन्यास को स्थान नहीं, इसलिए पुरुष से दूर रह कर स्वतंत्र रूप से चरम कोटि की आध्यात्मिक साधना के उदाहरण प्रचुर मात्रा में नहीं मिलते। जैन परम्परा में नारी के लिए संन्यास भी हर समय खुला रहा है अतः उच्चतम कोटि की आध्यात्मिक साधना में स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही दीप्त रहीं।

वैदिक परम्परा में नारी जाति को गौरवपूर्ण उच्चासन दिया गया है और नारी को पुरुष-मित्र और समकक्ष के रूप में अंकित करने के दृष्टान्त सामने आते हैं, परन्तु उनमें अंकित वर्णन अधिकांश में नारी को अर्धाङ्गिनी के रूप में ही उपस्थित करते हैं। नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व वहाँ प्रस्फुटित दिखाई नहीं देता और उसकी बहुत ही थोड़ी-सी अभिव्यक्ति वहाँ मिलती है। परन्तु जैन धर्म में नारी का स्वतंत्र व्यक्तित्व शुरू से ही स्वीकृत है और उसके समान ही उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए सम्पूर्ण आध्यात्मिक साधना का मार्ग खुला है।

जैन धर्म में नारी की धर्म-भावना को वही आदर दिया जाता है जो पुरुष की धर्म-भावना को। वैवाहिक-जीवन में नारी पुरुष की सहचारिणी रहती है, उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है और गृहस्थी का भार योग्यतापूर्वक वहन करती है। परन्तु साथ ही साथ आत्मा के उत्कर्ष के लिए, आत्मा की शोध-खोज एवं आध्यात्मिक चिन्तन और साधना में भी अपना यथेष्ट समय लगाती है। वैदिक परम्परा में नारी के स्वावलम्बी जीवन की कल्पना नहीं है और यदि है तो अपवाद रूप में ही। परन्तु जैन धर्म में स्वावलम्बी नारी-जीवन की कल्पना प्रचुर-प्रमाण में मिलती है। पुरुष के साथ सहधर्मिणी होकर रहना उसके जीवन का कोई चूडान्त नहीं, यदि वह चाहे तो आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर भी आदर्श-जीवन अतिवाहित करने के लिए स्वतंत्र है।

वैदिक परम्परा में नारी का धार्मिक संघ नहीं। बौद्ध परम्परा में भिक्षुणी संघ विच्छिन्न प्रायः है। जैन परम्परा में साध्वियों का भिक्षुणी संघ आज भी भारत-भूमि को पवित्र करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में जैन धर्म में नारी को उतनी ही स्वतन्त्रता है जितनी पुरुष को। जैसे पुरुष सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण और सर्व परिग्रह विरमण रूपी महाव्रतों को ग्रहण करने में स्वतंत्र है, वैसे ही नारी भी।

इस विषय में सब धर्मों की स्थिति को उपस्थित करते हुए संत विनोबा लिखते हैं :

"इसलाम ने यह विचार रखा है कि गृहस्थ धर्म ही पूर्ण आदर्श है। बाकी के आदर्श, जैसे ब्रह्मचारी का, गौण आदर्श है। वैसे भगवान ईसा तो आदरणीय थे, वे ब्रह्मचारी थे, परन्तु उनका जीवन पूर्ण जीवन नहीं माना जायगा। मुहम्मद का आदर्श पूर्ण है। वे गृहस्थ थे। वैसे ब्रह्मचारी को एक्सपर्ट (विशेषज्ञ) जैसा माना जायगा। विशेषज्ञ एकाकी होते हैं, परन्तु समाज को उनकी भी जरूरत होती है। इसी तरह, जिन्होंने शुरू से आखिर तक ब्रह्मचारी का जीवन बिताया, उनका आदर्श पूर्ण नहीं। पुरुषोत्तम, पूर्ण आदर्श तो गृहस्थ ही है। स्त्रियों के लिए और पुरुषों के लिए, दोनों के लिए, गृहस्थ का ही आदर्श है। इस दृष्टि से मुसलमानों का चिन्तन चलता है।

"वैदिक धर्म में ब्रह्मचारी को ही आदर्श माना गया है।...बीच के जमाने में स्त्री-पुरुषों में भेद माना गया। जिससे हिन्दूधर्म की दुर्दशा हो गयी। पुरुष को तो ब्रह्मचर्य का अधिकार रहा, लेकिन स्त्री को इसका अधिकार नहीं रहा। इसलिए स्त्री को गृहस्थाश्रमी बनना ही चाहिए। ऐसा माना गया। अगर वह गृहस्थाश्रमी नहीं बनती है, तो अधर्म होता है।...इस तरह बीच के जमाने में यह एक बहुत बड़ा दोष पैदा हुआ। इसलिए अब इस जमाने में संशोधन करना जरूरी है। हक देने पर भी उसका पालन करनेवाले कम ही होंगे। परन्तु कम हों या ज्यादा; स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य का अधिकार नहीं है, यह बात ही गलत है। उससे आध्यात्मिक डिसएबिलिटी (अपात्रता) पैदा होती है। अगर कोई व्यावहारिक अपात्रता होती, तो उसमें सुधार करना सम्भव है। लेकिन आध्यात्मिक ही अपात्रता हो, तो वह बड़े दुःख की बात है। हिन्दुस्तान में बीच के जमाने में जो तेजोहानि हुई, उसका यह भी कारण है कि स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का अधिकार नहीं रहा।...लेकिन उपनिषदों में उल्टी बात है। वहाँ स्त्री-पुरुषों में कोई भेद नहीं किया गया है।...हिन्दुओं में स्त्री की अपात्रता मानी गयी है। यह सब गलत है।

"लेकिन, जैनों में स्त्री और पुरुष, दोनों को समान माना है। ईसाइयों में जो कैथोलिक हैं, वे स्त्री-पुरुषों को समान मानते हैं। लेकिन जो प्रोटेस्टेन्ट होते हैं, उनका खयाल करीब-करीब मुसलमानों के जैसा ही है। वे मानते हैं कि ब्रह्मचर्य अशक्य वस्तु है और गृहस्थाश्रम ही आदर्श है। लेकिन कैथोलिकों में भाई और बहनें दोनों ब्रह्मचारी होते हैं[1]।"

१—कार्यकर्ता-वर्ग : ब्रह्मचर्य पृ० ३५-४० का सार

स्त्रियों को पुरुषों के समान आध्यात्मिक अधिकार देकर महावीर ने कितना बड़ा काम किया—इस सम्बन्ध में संत विनोबा लिखते हैं :

"महावीर के सम्प्रदाय मे स्त्री-पुरुषों का किसी प्रकार कोई भेद नहीं किया गया है।...पुरुषों को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते हैं, उतने ही स्त्रियों को भी हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारों में महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नही रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यों मे जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणियाँ थीं। वह प्रथा आजतक जैन धर्म में चली आ रही है। आज भी जैन संन्यासिनी होती हैं।...यह एक बहुत बड़ी विशेषता माननी चाहिए। ..जो डर बुद्ध को था, वह महावीर को नहीं था, यह देख कर आश्चर्य होता है। महावीर नीडर दीख पड़ते हैं। इसका मेरे मन पर बहुत असर है। इसीलिए मुझे महावीर की तरफ विशेष आकर्षण है। ..महापुरुषों की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होती हैं, लेकिन कहना पड़ेगा कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका छू सकी और महावीर को वह छू नहीं सकी। उन्होंने स्त्री-पुरुषों में तत्त्वतः भेद नहीं रखा। वे इतने दृढ़ प्रतिज्ञ रहे कि मेरे मन में उनके लिए एक विशेष ही आदर है। इसी में उनकी महावीरता है।

"महावीर स्वामी के बाद २५०० साल हुए, लेकिन हिम्मत नहीं हो सकती कि बहिनों को दीक्षा दे। मैंने सुना कि चार साल पहले रामकृष्ण परमहंस मठ मे स्त्रियों को दीक्षा दी जाय—ऐसा तय किया गया। स्त्री और पुरुषों का आश्रम अलग रखा जाय, यह अलग बात है। लेकिन अबतक स्त्रियो को दीक्षा ही नही मिलती थी, वह अब मिल रही है। इस पर से अंदाज लगता है कि महावीर ने २५०० साल पहले उसे करने मे कितना बड़ा पराक्रम किया[१]"

दादा धर्माधिकारी लिखते हैं "हम लोगों की अक्सर यह धारणा रही है कि स्त्रियों के विषय में प्राचीन आदर्श ऊँचे थे। और वाणी में वे रहे होंगे, लेकिन इतना मुझे नम्रतापूर्वक कह देना चाहिए कि स्त्रियो सम्बन्धी सारे प्राचीन आदर्श, स्त्रियो की मनुष्यता की हानि और अपमान करनेवाले थे।...किसी धर्म में स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व कभी नही रहा। मेरी माँ कोई धार्मिक विधि अकेले नही कर सकती। मेरे पिताजी की वह सहधर्मिणी है, मुख्य धर्मिणी नही। पिताजी न हो, तो उसका अपना कोई धर्म नही है। पिताजी जो पुण्य करते हैं, उसका आधा पुण्य अपने-आप उसे मिल जाता है और वह जो पाप करती है, उसका आधा पाप पिताजी को अपने-आप लग जाता है। वह जो पुण्य करती है, उसका आधा पिताजी को नहीं मिलता और पिताजी जो पाप करते हैं, उसका आधा उसे नहीं लगता। यह मर्यादा है।.. इसलिए मुख्य धर्म और मुख्य कर्तव्य पुरुष का है, स्त्री की केवल सहधर्मिणी की भूमिका है, वह सह-जीवनी है, उसका अपना स्वतन्त्र जीवन नही है। जैनों और बौद्धो के कुछ प्रयासो को हम छोड़ दें, तो आज तक की जो परम्परा और समाज-स्थिति है, वह यह है कि स्त्री की भूमिका गौण और दोयम रही है। उसका अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं रहा। इसलिए ब्रह्मचर्य उसका मुख्य धर्म कभी नहीं माना गया। पुरुष का मुख्य धर्म ब्रह्मचर्य माना गया।

"स्त्री मुझसे कहती है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक नैतिक हैं। अधिक नैतिकता का मतलब यह तो नहीं कि अधिक संयमी हैं, अधिक ब्रह्मचर्यनिष्ठ हैं। ब्रह्मचर्य का तो उनके लिए निषेध है।...मेरा नम्र सुझाव यह है कि स्त्री के जीवन में ब्रह्मचर्य का स्थान वही होना चाहिए, जो पुरुष के जीवन मे है। इसे मैं ब्रह्मचर्य जीवन का सामाजिक मूल्य कहता हूँ[२]।"

७-ब्रह्मचर्य और संयम का हेतु क्या हो ?

आचार्य विनोबा भावे से किसी ने यह प्रश्न किया था कि भूदान यज्ञ के लिए कोई ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता हो तो आप उसके बारे मे क्या कहेंगे ? इसका जो उत्तर उन्होंने दिया वह सच्चे उद्देश्य को बताने की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण और मननीय है। ब्रह्मचर्य व संयम का पालन किस हेतु से होना चाहिए—इस पर उन्होंने पहले भी एक बार प्रकाश डाला था। दोनों विचार नीचे दिये जाते हैं.

१—ब्रह्मचर्य का ठीक मतलब भी हमें समझ लेना चाहिए। भीष्म को हम आदर्श ब्रह्मचारी मानते हैं, परन्तु भीष्म ने अपने पिता के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया। उनको ब्रह्म की उपासना की प्रेरणा उससे पहले नही हुई थी। वे तो शादी करनेवाले थे। फिर भी उन्होंने ब्रह्मचर्य-व्रत बहुत अच्छी तरह से निभा लिया। परन्तु उनको हम आदर्श ब्रह्मचारी नही कह सकते। साक्षात् ब्रह्म के लिए जो ब्रह्मचारी रहेगा, वही आदर्श होगा। उसी को ब्रह्मचारी कहा जा सकता है, जो लोग देश के लिए ब्रह्मचारी रहते हैं, उनके व्रत को ब्रह्मचर्य नही देशचर्य

१—श्रमण वर्ष ६ अंक ६ पृ० ३७-३६ का सार

२—सर्वोदय-दर्शन पृ० २३४-६, २३६-६

कहना चाहिये। साक्षात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए देह से मुक्त होने के साधन के माने ही ब्रह्मचर्य है। भीष्म आखिर में ऐसे ब्रह्मचारी बने थे और महान् ज्ञानी हुए, फिर भी वे पहले वैसे नहीं थे। शुक के समान वे आरम्भ से आदर्श ब्रह्मचारी नहीं थे। आजकल कुछ लोगों का देशचर्य या स्वराज-चर्य चलता है और वे उसे बहुत अच्छी तरह से निभाते भी हैं। परन्तु फिर भी उसको ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकता। उनमें से कई ऐसे होते हैं जो देशचर्य को बाद में ब्रह्मचर्य में परिवर्तित कर देते है।

भूदान यज्ञ ऐसा कोई कार्य नहीं है कि जिसके लिए विद्यार्थी को आमरण, आजीवन ब्रह्मचारी रहने की आवश्यकता हो।...ब्रह्मचर्य की जिसे अन्दर से प्रेरणा होती है उसे बाहर से कोई निमित्त मिल जाता है तो वह उसका लाभ उठाता है। भीष्म और गान्धीजी के साथ भी यही हुआ था। गान्धीजी ने सामान्य जन-सेवा के खयाल से ब्रह्मचर्य का आरम्भ किया और अच्छे ब्रह्मचर्य में उसकी परिणति की। तो भूदान यज्ञ अगर किसी के लिए वैसा निमित्त बन जाता है तो वह उसका लाभ उठा सकता है परन्तु खास इस काम के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत लेने की कोई जरूरत नहीं है।

२—कुछ लोग—'संयम से संतति-नियमन करो', ऐसा प्रतिपादन करते हैं। लेकिन यह ठीक नहीं। संयम का अपना स्वतंत्र मूल्य है। संतति कम करने के लिए संयम को न खपाइये।...संयम से आनन्द मिलता है; इसलिए संयमी होने को लोगों से कहिए। उसके लिए भौतिक नफा-नुकसान न सिखाइये।

जैन आगम में सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण, सर्व परिग्रह विरमण और सर्व-रात्रि भोजन विरमण—इन प्रतिज्ञाओं को ग्रहण करने के बाद साधक का आत्म-तोष इस प्रकार प्रकट होता है : "इन पाँच महाव्रत और छट्ठे रात्रि-भोजन विरमण को मैंने आत्म-हित के लिए ग्रहण किया है[1]।" इससे स्पष्ट है कि महाव्रतों के—जिनमें ब्रह्मचर्य महाव्रत भी है—ग्रहण का हेतु जैन आगमों में भी 'आत्महित' ही बताया गया है।

वैदिक संस्कृति में भी ब्रह्मचर्य का उद्देश्य यही कहा गया है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य क्या होना चाहिए, यह उपनिषद् के निम्न वार्तालाप से प्रकट होगा :

"हम आत्मा को जानना चाहते हैं जिसे जानने पर जीव सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है"—ऐसा निश्चय कर देवताओं का राजा इन्द्र और असुरों का राजा विरोचन ये दोनों—परस्पर स्पर्धा से हाथों में समिधाएँ लेकर प्रजापति के पास आए। और बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यवास किया।

प्रजापति ने कहा—"ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तुम किस चीज की इच्छा करते हो?"

इन्द्र और विरोचन बोले : "जो आत्मा पाप-रहित, जरा-रहित, मृत्यु-रहित, शोक-रहित, क्षुधा-रहित, तृषा-रहित, सत्यकाम और सत्य-संकल्प है उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसे विशेषरूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए, यह आपका वाक्य है। आत्मा को जानने की इच्छा से हम यहाँ ब्रह्मचर्यवास में हैं।"

प्रजापति ने कहा—"यह जो नेत्रों में दिखायी देता है—आत्मा है। यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है[2]।"

उपर्युक्त वार्तालाप में ब्रह्मचर्य का उद्देश्य आत्म-प्राप्ति बतलाया गया है। साथ ही यह भी बता दिया गया है कि आत्मा ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होती है। यह ही बात जैन धर्म में संयम रूप ब्रह्मचर्य के उद्देश्य और फल के सम्बन्ध में कही गयी है।

जैन आगम दशवैकालिक सूत्र में कहा है :

"निश्चय ही आचार-समाधि के चार भेद हैं। यथा—

(१) इहलोक के लिए आचार का पालन न करे।

(२) परलोक के लिए आचार का पालन न करे।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लाघा के लिए आचार का पालन न करे।

(४) अरिहंत-निर्दिष्ट हेतु निर्जरा—आत्म-शुद्धि के सिवा अन्य किसी प्रयोजन के लिए आचार का अनुष्ठान न करे[3]।"

इससे भी स्पष्ट है कि साधक के लिए ब्रह्मचर्य का हेतु आत्म-हित, आत्म-शुद्धि ही हो सकता है।

१—दशवैकालिक ४. ६ :

इच्चेइयाइं पञ्च महव्वयाइं राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्त-हियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताण विहरामि।

२—छान्दोग्योपनिषद् ८.७ : १-४

३—दशवैकालिक ९.४.५ :

चउव्विहा खलु आयार-समाही भवइ, तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ।

८-व्रत-ग्रहण में विवेक आवश्यक

कभी-कभी मनुष्य वस्तु की दुष्करता पर पूरा विचार नहीं करता और व्रत-ग्रहण कर लेता है। फल यह होता है कि या तो वह उसे भङ्ग कर दूर हो जाता है अथवा छिपे-छिपे अनाचार का सेवन करने लगता है। ज्ञानियों ने कहा है—जो बात जैसी हो वैसी जान कर व्रत-ग्रहण करो। आगम में कहा है—"कामभोग के रस को जान चुका उसके लिए अब्रह्मचर्य से विरति और यावज्जीवन के लिए उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का धारण करना अत्यन्त दुष्कर है[1]", "संयम बालू के कवल की तरह निरस है[2]", "जैसे वायु से थैला भरना कठिन है, उसी प्रकार क्लीब के लिए संयम का पालन कठिन है[3]", "जिस तरह भुजाओं से रत्नाकर—समुद्र का तैरना दुष्कर है, उसी तरह अनुपशांत आत्मा द्वारा दमरूपी समुद्र का तैरना दुष्कर है[4]", "जैसे लोहे के यवो का चबाना दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन दुष्कर है[5]", "जिस तरह प्रज्वलित अग्नि-शिखा का पीना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार तरुणावस्था में श्रामण्य का पालन दुष्कर है[6]", "जो सुख मे रहा है, सुकुमार है, ऐशोआराम में पला है, वह श्रामण्य के पालन में समर्थ नहीं होता[7]"। इन कथनों का अर्थ यह है कि व्रत-ग्रहण के पूर्व उसकी दुष्करता को पूर्ण रूप से समझ कर आगे कदम बढ़ाया जाय।

इसी तरह आगम में कहा है—"साधक! अपने बल, स्थाम, श्रद्धा, आरोग्य को देख कर तथा क्षेत्र और काल को जान कर उसके अनुसार आत्मा को धर्म-कर्म में नियोजित करे[8]।" इस का अर्थ यह कि वस्तु की दुष्करता के अनुपात से उसके बल, स्थाम, श्रद्धा आदि कितने समर्थ हैं, यह भी देख लें। सार यह है कि जो वस्तु की दुष्करता को समझ तथा अपने बल सामर्थ्य के अनुसार आगे कदम बढ़ाता है, वह स्खलित या अनाचारी नही होता।

जो ऐसा नही करता उसकी क्या गति होती है, उसका भी बड़ा गम्भीर विवेचन आगमो में है—"कायर मनुष्य जब तक विजयी पुरुष को नही देखता तब तक अपने को शूर मानता है, परन्तु वास्तविक संग्राम के समय वह उसी तरह क्षोभ को प्राप्त होता है जिस तरह युद्ध में प्रवृत्त दृढ़धर्मी महारथी कृष्ण को देख कर शिशुपाल हुआ था[9]।" "अपने को शूर माननेवाला पुरुष संग्राम के अग्र-भाग में चला तो जाता है परन्तु जब युद्ध छिड़ जाता है और ऐसी घबड़ाहट मचती है कि माता भी अपनी गोद से गिरते हुए पुत्र की सुध न ले सके, तब शत्रुओं के प्रहार से क्षतविक्षत अल्प पराक्रमी पुरुष दीन बन जाता है[10]।" "ब्रह्मचर्य पालन में हारे हुए मंदमति पुरुष उसी तरह विषाद का अनुभव करते हैं, जिस तरह जाल मे फँसी हुई मछली[11]।" "जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष यह शंका करता है कि कौन जानता है किस की विजय होगी,

---

१—उत्तराध्ययन १६ : २६

२—वही १६ : ३८

३—वही १६ : ४१

४—वही १६ : ४३

५—वही १६ : ३६

६—वही १६ : ४०

७—वही १६ : ३५

८—दशवैकालिक ८.३५ :

बलं थामं च पेहाए सद्धामारोगमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निजुंजए॥

६—सूत्रकृताङ्ग १,३-१ : १

१०—वही १,३-१ : ३

११—वही १,३-१:१३

पीछे की ओर ताकता है और गड्ढा, गहन और छिपा हुआ स्थान देखता है, उसी प्रकार निर्बल साधक अनागत भय की आशंका से अकल्प्य की शरण ले लेते हैं[1] ।"

इस विषय में संत टॉल्स्टॉय ने जो विचार दिये हैं, वे आगम-गाथाओं की अनुभूत टीका से लगते हैं। वे कहते हैं : "हम कई बार पहले ही से अपनी विजय की रोचक कल्पना में तल्लीन हो जाते हैं, यह एक भारी कमजोरी है। ऐसे काम में हम लग जाते हैं, जो हमारी शक्ति से बाहर है। जिसका पूरा करना न करना हमारी शक्ति के अन्दर की बात नहीं।...क्योंकि पहले तो हम इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि हमें आगे चल कर किन-किन परिस्थितियों में से गुजरना होगा।...दूसरे, इस तरह की एकाएक प्रतिज्ञा करने से हमें अपने उद्देश की ओर—सर्वोच्च ब्रह्मचर्य के निकट जाने में कोई सहायता नहीं मिलती; उलटे भीतर कमजोर रह जाने के कारण, हमारा पतन अलबत्ता शीघ्र होता है।

"पहले तो लोग बाहरी ब्रह्मचर्य को ही अपना उद्देश्य मान लेते हैं। फिर या तो वे संसार को छोड़ देते हैं या स्त्रियों से दूर-दूर भागते हैं। इतने पर भी जब कामवासना से पिण्ड नहीं छूटता, तब अपनी इन्द्रियों को ही काट डालते हैं।

"दूसरे, केवल बाहरी ब्रह्मचर्य को यह समझ कर आदर्श मान लेना गलत है कि हम कभी तो जरूर उस तक पहुँच जायँगे, क्योंकि ऐसा करने से प्रत्येक प्रलोभन और प्रत्येक पतन उसकी आशाओं को एकदम नष्ट कर देता है और फिर इस बात पर से भी उसका विश्वास उठने लग जाता है कि ब्रह्मचर्य का आदर्श कभी सम्भवनीय या युक्तिसंगत भी है या नहीं। वह कहने लग जाता है कि ब्रह्मचारी रहना असंभव है और मैंने अपने सामने एक गलत आदर्श रख छोड़ा है। फिर वह एकदम इतना शिथिल हो जाता कि अपने को पूरी तरह भोग-विलास के अधीन कर देता है।

"यह तो उस योद्धा के समान हुआ, जो युद्ध में विजय-प्राप्त करने की इच्छा से अपने बाहु पर गुप्त शक्तिवाला तावीज बांध लेता है और आँखें मूंद कर विश्वास करता है कि वह तावीज युद्ध-प्रहारों से या मौत से उसकी रक्षा करता है। पर ज्योंही उसे तलवार का एकाध वार लगा नहीं कि उसका सारा धैर्य और पौरुष भगा नहीं। हम अपूर्ण मनुष्य तो यही निश्चय कर सकते हैं कि हम अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार, अपनी भूत और वर्तमान अवस्था तथा चारित्र्य का खयाल कर, अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करें।

"दूसरे हम इस बात का भी खयाल न करें कि हम किसी काम को मनुष्यों की दृष्टि में ऊँचा उठने के लिए कर रहे हैं। हमारे न्याय-कर्ता मनुष्य नहीं, हमारी अन्तरात्मा और परमेश्वर है। फिर हमारी प्रगति में कोई बाधक नहीं हो सकता। तब प्रलोभन हम पर कोई असर नहीं कर सकेंगे और प्रत्येक वस्तु हमें उस सर्वोच्च आदर्श की ओर बढ़ने में सहायक होगी। पशुता को छोड़ कर हम नारायण-पद की ओर बढ़ते जायेंगे[2] ।"

यहाँ इस विवेक की बात इसलिए रखी गयी है कि ब्रह्मचर्य या तो महाव्रत के रूप में ग्रहण किया जाता है अथवा अणुव्रत के रूप में। महाव्रत के रूप के त्याग सर्व व्यापक होते हैं और अणुव्रत के रूप के त्याग स्वदार-संतोष—परदार-त्याग रूप। इनमें किस मार्ग को ग्रहण करे, यह साधक के चुनाव का विषय है। चुनाव में विवेक आवश्यक है।

९-ब्रह्मचर्य महाव्रत के रूप में

समूचे जैन धर्म का उपदेश संक्षेप में कहना हो तो इस प्रकार रखा जा सकता है : "एक से विरति करो और एक में प्रवृत्ति। असंयम से निवृत्ति करो और संयम में प्रवृत्ति[3] । क्रिया में रुचि करो और अक्रिया को छोड़ो[4] । हिंसा, अलीक, चोरी, अब्रह्म तथा भोगलिप्सा और लोभ

१—सूत्रकृताङ्ग १,३-३:१,

२—स्त्री और पुरुष पृ० ३८-४१ से संक्षिप्त

३—उत्तराध्ययन ३१.२ :

एगओ विरइं कुज्जा एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं॥

४—वही १८.३३ :

किरियं च रोयई धीरे अकिरियं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठीसंपन्ने धम्मं चरसु दुच्चरं॥

(परिग्रह) का परिवर्जन करो[१] और अहिंसा, सत्य, अचौर्य—अस्तेय, ब्रह्म और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतों को ग्रहण करो[२]।" संक्षेप में यही जिन-उपदिष्ट धर्म है। इस धर्म को कठिन—दुष्कर कहा है, पर उपदेश भी इसी को ग्रहण कर धैर्यपूर्वक पालन करने का दिया है।

हिंसा आदि पाँचों पाप और अहिंसा आदि पाँचों धर्मों का अति सूक्ष्म गंभीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण जैनों के प्रश्नव्याकरण सूत्र में मिलता है। आचाराङ्ग सूत्र भी इनका सूक्ष्म प्रतिपादन करता है। कहा जा सकता है कि सारा जैन वाङ्मय इन्हीं की भिन्न-भिन्न रूप से चर्चा का विस्तृत भण्डार है।

ऋग्वेद में 'सत्य' और 'ब्रह्मचर्य' शब्द प्राप्त हैं। शतपथ ब्राह्मण में सत्य बोलने का कहा गया है और ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है। पर पाँचों यामों में से अन्य यामों के नाम इनमें ही नहीं अन्य वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी नहीं मिलते। सारे यामों का उल्लेख और उन पर विशद व्याख्या या विवेचन किसी वेद अथवा ब्राह्मण ग्रन्थ में नहीं देखा जाता। महाव्रत शब्द भी वहाँ नहीं है। छांदोग्य उपनिषद् में सत्य के साथ अहिंसा का उल्लेख मिलता है। बृहद् आरण्यक उपनिषद् में दया शब्द प्राप्त है। ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है। पर उपनिषदों में से किसी में भी अन्य यामों का उल्लेख नहीं और न उनके स्वरूप का सूक्ष्म प्रतिपादन है। याम या महाव्रत शब्दों का उल्लेख वहाँ भी नहीं।

स्मृतियों में जिन्हें साधारण या सामान्य धर्म कहा गया है, उनका उल्लेख वेद, ब्राह्मण या उपनिषदों में नहीं है। अतः साधारण धर्मों की कल्पना भी उपनिषद्-काल के बाद की ही कही जा सकती है।

स्मृतियों में भी पाँच याम या महाव्रतों का उल्लेख नहीं पर साधारण धर्मों के भिन्न-भिन्न प्रतिपादनों में ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का उल्लेख उपलब्ध है। गौतम धर्मशास्त्र में दया, शान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहा—इन आठ को आत्म-गुण कहा है। अस्पृहा को अपरिग्रह कहा जाय तो उस धर्म का यह पहला उल्लेख है।

यह निश्चय है कि ऐसे साधारण उल्लेखों के उपरांत अहिंसा आदि तत्वों या धर्म-सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन या प्रतिपादन वैदिक संस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में नहीं है। मनुष्य सत्य क्यों बोले, अहिंसा से दूर क्यों रहे—ऐसे प्रश्नों का निचोड़ उनमें नहीं मिलता।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जिन याम आदि धर्मों का उल्लेख वेद-उपनिषदों में नहीं, वे बाद के साहित्य में कहाँ से आये। इसका उत्तर संक्षेप में इतना ही दिया जा सकता है कि संस्कृतियाँ एक दूसरे के प्रभाव से सर्वथा अछूती नहीं रह पातीं। श्रमण-संस्कृति का अचूक प्रभाव वैदिक संस्कृति पर भी पड़ा है और उसके चिन्तन में श्रमण-संस्कृति के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंशों ने भी स्थान प्राप्त किया है और बाद में अपने ढंग का उनका विस्तार हुआ है।

आधुनिक विचारकों में महात्मा गाँधी ने व्रतों पर गंभीर विवेचन दिया है और वह विवेचन जैन आगमिक वर्णन से काफी मिलता-जुलता है। दोनों की समानता पहले एक लेख में दिखाई जा चुकी है[३]।

जिन पांच महाव्रतों का ऊपर उल्लेख आया है उनके ग्रहण करने की शब्दावली इस रूप में मिलती है :

१—मैं प्रथम महाव्रत में सर्व प्राणातिपात का त्याग करता हूँ। मैं यावज्जीवन के लिए सूक्ष्म या बादर, स्थावर या जंगम—किसी भी प्राणी की मन, वचन और काया से स्वयं हिंसा नहीं करूँगा, दूसरे से हिंसा नहीं कराऊँगा और न हिंसा करनेवाले का अनुमोदन करूँगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको व्युत्सर्ग करता—उससे हटाता हूँ।

१—उत्तराध्ययन ३५.३ :
तहेव हिंसं अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च संजओ परिवज्जए॥

२—वही २१.१२ :
अहिंससच्चं च अतेणगं च
तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि
चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विदू॥

३—विवरण पत्रिका, वर्ष ८ अंक ८ पृ० २४० से : 'गांधी और गांधीवाद'

२—मैं दूसरे महाव्रत में यावज्जीवन के लिए सर्व प्रकार के मृषा—झूठ बोलने का (वाणी दोष का) त्याग करता हूँ। क्रोध से, लोभ से, भय से या हास्य से मै मन, वचन और काया से झूठ नहीं बोलूंगा, न दूसरो से झूठ बुलाऊँगा, न झूठ बोलते हुए अन्य किसी का अनुमोदन करूँगा। मे अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आप को उससे हटाता हूँ।

३—मैं तीसरे महाव्रत में यावज्जीवन के लिए सर्व अदत्त का त्याग करता हूँ। गांव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, छोटी या बड़ी, सचित्त या अचित्त कोई भी वस्तु बिना दी हुई नहीं लूंगा, न दूसरे से लिवाऊँगा और न कोई दूसरा लेता होगा तो उसे अनुमति दूंगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ।

४—मैं चौथे महाव्रत मे सर्व प्रकार के मैथुन का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मैं देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का स्वयं सेवन नही करूँगा, दूसरे से सेवन नही कराऊँगा और सेवन करनेवाले का अनुमोदन नही करूँगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ।

५—मैं पांचवें महाव्रत में सर्व प्रकार के परिग्रह का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मैं अल्प या बहुत, अणु व स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी परिग्रह को ग्रहण नही करूँगा, न ग्रहण कराऊँगा, न परिग्रह ग्रहण करनेवाले का अनुमोदन करूँगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ[1]।

जो ब्रह्मचर्य को महाव्रत के रूप में ग्रहण करना चाहेगा उसे उपर्युक्त महाव्रतों को उपर्युक्त रूप में एक साथ ग्रहण करना होगा। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।

१०-ब्रह्मचर्य अणुव्रत के रूप में

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि महाव्रत तो अत्यन्त दुष्कर हैं, उन्हें तो ससार-त्यागी ही ग्रहण कर सकता है। जो गार्हस्थ्य में रहते हुए अहिंसा आदि को अपनाना चाहे वह क्या करे?

महावीर ने तीन तरह के मनुष्यों की कल्पना दी है:

(१) एक ऐसे हैं जो परलोक की चिन्ता ही नहीं करते और जो धिग्जीवन की ही प्रशंसा करते हैं। जो हिंसा आदि पर-क्लेशकारी पापों से जरा भी विरत नही होते और महान् आरम्भ, महान् समारम्भ और नाना पाप कर्म कर उदार मानुषिक भोगों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये अविरत हैं। ऐसे व्यक्ति दो कोटि के होते हैं—एक जिन्हें धर्म पर तो विश्वास है पर जो पापों को छोड़ नही सकते। दूसरे वे जो धर्म मे भी विश्वास नही करते और पापों को भी नहीं छोड़ते।

(२) दूसरे ऐसे हैं जो धन-सम्पत्ति, घर-बार, माता-पिता और शरीर की आसक्ति को छोड़कर सर्वथा निरारम्भी और निष्परिग्रही जीवन बिताते हैं। ये ही हिंसा आदि पापों से मन, वचन और काया द्वारा न करने, न कराने और न अनुमोदन करने रूप से सर्वथा जीवनपर्यंत विरत होते हैं। इनके उपर्युक्त पाँचों महाव्रत होते हैं। ये सर्व विरत कहलाते हैं।

(३) तीसरे ऐसे हैं जो धर्म में विश्वास करते हुए भी पापों को सर्वथा छोड़कर महाव्रत नही ले सकते। जो अपने में महाव्रतों को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं पाते, वे आदर्श में विश्वास रखते हुए यथाशक्ति पापों को छोड़ स्थूल व्रतों को ग्रहण करते हैं। उनकी प्रतिज्ञाओं में स्थूल हिंसा-त्याग, स्थूल झूठ-त्याग, स्थूल चोरी-त्याग, स्वदार-सन्तोष—परदार-त्याग, स्थूल परिग्रह-त्याग, दिक्मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अपध्यानादि रूप अनर्थ दण्ड-त्याग, सामायिक—आत्म-पर्युपासन, पौषधोपवास—ब्रह्मचर्यपूर्वक उपवास और अतिथिसंविभाग—इन बारह व्रतों का समावेश होता है। इन्हें विरताविरत कहते हैं।

भगवान ने पहले वर्ग को अधर्मपक्षी, कृष्णपक्षी आदि कहा है। ऐसे जीवन को उन्होने अनार्य, अन्यायपूर्ण, अशुद्ध, मिथ्या और असाधु कहा है।

उन्होने दूसरे वर्ग को धर्मपक्षी, शुक्लपक्षी आदि कहा है। ऐसे उपशांत जीवन को उन्होने आर्य, संशुद्ध, न्यायसंगत, एकांत, सम्यक् और साधु कहा है।

१—आचाराङ्ग २.२४

उन्होंने तीसरे पक्ष को शुक्लकृष्णपक्षी कहा है। विरति की अपेक्षा से ऐसा जीवन सम्यक् और संशुद्ध होता है और अविरति की अपेक्षा से असम्यक् और असंशुद्ध होता है[1]।

विरताविरत के व्रत स्थूल होने के कारण व्रत की मर्यादा के बाहर कितनी ही छूटें रह जाती हैं। ये छूटें जीवन का अधर्म पक्ष हैं। आदर्श पालन की आत्मशक्ति की न्यूनता की सूचक हैं। व्रतों की अपेक्षा से उसका जीवन धार्मिक माना गया है और अव्रत—छूटों की अपेक्षा अधार्मिक। इसी कारण उसके जीवन को मिश्रपक्षी, धर्माधर्मी आदि कहा गया है। जो छूटों को जितना कम करता है, वह आदर्श के उतना ही नजदीक जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो महाव्रतों को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं रखता, वह स्थूल व्रतों को ग्रहण कर सकता है।

भगवान महावीर के समय में अणुव्रत—स्थूलव्रत लेने की परिपाटी थी, उसके चित्र आगमों में अंकित हैं। जो महाव्रतों को ग्रहण करने में असमर्थ होता वह कहता :

"हे भन्ते ! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा है। हे भन्ते ! मुझे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में प्रतीति है। हे भन्ते ! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन में रुचि है। यह ऐसा ही है भन्ते ! यह तथ्य है भन्ते ! यह अवितथ है भन्ते ! हे भन्ते ! मैं इसकी इच्छा करता हूँ। हे भन्ते ! इसकी प्रति इच्छा करता हूँ। हे भन्ते ! इसकी इच्छा, प्रति इच्छा करता हूँ। आप कहते हैं वैसा ही है। आप देवानुप्रिय के समीप अनेक व्यक्ति मुण्ड हो आगारिता से अनगारिता में प्रव्रजित होते हैं। पर मैं वैसे मुण्ड हो प्रव्रज्या ग्रहण करने में असमर्थ हूँ। मैं देवानुप्रिय से पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप द्वादशविध गृहिधर्म लेना चाहता हूँ[2]।"

जो बात अन्य व्रतों के बारे में है वही ब्रह्मचर्य महाव्रत के बारे में है। ब्रह्मचर्य महाव्रत ही सर्वोच्च आदर्श है। पर जो उसे ग्रहण नहीं कर सकता, वह कम-से-कम स्थूल मैथुन विरमण व्रत को तो ग्रहण करे—यह जैन धर्म की भावना है।

गृहपति आनन्द ने महावीर से यह व्रत इस रूप में लिया—"अपनी एक शिवानन्दा भार्या को छोड़ कर अन्य सर्व मैथुन-विधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।"

इस व्रत का एक प्राचीन रूप इस प्रकार मिलता है : "चतुर्थ अणुव्रत स्थूल मैथुन से विरमणरूप है। मैं जीवनपर्यन्त देवता-देवांगना सम्बन्धी मैथुन का द्विविध त्रिविध से प्रत्याख्यान करता हूं। अर्थात् मैं ऐसे मैथुन का मन, वचन और काया से सेवन नहीं करूँगा, नहीं कराऊँगा। परपुरुष—स्त्री-पुरुष और तिर्यञ्च-तिर्यञ्ची विषयक मैथुन का एक एकविध एकविध से अर्थात् शरीर से सेवन नहीं करूंगा।"

इसका अर्थ यह है—

(१) इसमें व्रतग्रहीता द्वारा स्वदार सम्बन्धी सर्व प्रकार के मैथुन की छूट रखी गई है।

(२) देवता-देवांगना के सम्बन्ध में मन, वचन और काय से अनुमोदन की छूट रखी गयी है।

(३) पर-स्त्री और तिर्यञ्च सम्बन्ध में शरीर से मैथुन सेवन कराने और अनुमोदन की छूट तथा मन और वचन से करने, कराने एवं अनुमोदन की छूट रखी गई है।

इसका कारण यह है कि गार्हस्थ्य में अनुमोदन होता रहता है और अपनी अधीन सन्तान और पशु-पक्षी आदि के मैथुन-प्रसंगों का शरीर से कराना और अनुमोदन भी होते ही हैं। मन और वचन पर संयम न होने से अथवा आवश्यकतावश उनसे भी करने, कराने और अनुमोदन की छूट रखी गई है।

महात्मा गांधी ने लिखा है : "हाँ, व्रत की मर्यादा होनी चाहिए। ताकत के उपरांत व्रत लेनेवाला अविचारी गिना जायगा। व्रत में शर्तों के लिए अवकाश है।...व्रत अर्थात् कठिन से कठिन वस्तु करना ऐसा अर्थ नहीं है। व्रत अर्थात् सहज अथवा कठिन वस्तु नियमपूर्वक करने का निश्चय[3]।"

इस स्थूल व्रत के सम्बन्ध में इतना उल्लेख और है : "इस चतुर्थ स्थूल मैथुन विरमण व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) इत्वरपरिगृहीतागमन (२) अपरिगृहीतागमन (३) अनंगक्रीड़ा (४) परविवाहकरण और (५) कामभोगतीव्राभिलाषा।"

१—(क) सूत्रकृताङ्ग २.१; २.२ (ख) औपपातिक सू० १२३.१२४; (ग) दशाश्रुतस्कंध द० ६

२—उपासकदशा १.१२

३—धर्ममंथन पृ० ११६-७

इसका अर्थ यह है :

(१) थोड़े समय के लिए दूसरे के द्वारा गृहीत अविवाहित स्त्री को इत्वरपरिगृहीता कहते हैं। वह वास्तव में परदार न होने पर भी अणुव्रती उसे परदार समझे और उसके साथ मैथुन सेवन न करे।

(२) किसी के द्वारा अगृहीत वेश्या आदि परदार नहीं पर अणुव्रती उसे परदार समझे और उसके साथ मैथुन-सेवन न करे।

(३) आलिंगनादि क्रीड़ा अथवा अप्राकृतिक क्रीड़ा को अनंगक्रीड़ा कहते हैं। अणुव्रती इन्हें भी मैथुन समझे और परस्त्री अथवा किसी के साथ ऐसा दुराचार न करे।

(४) अपनी सन्तान अथवा परिवार के व्यक्तियों के अतिरिक्त परसंतति का विवाह न करे।

(५) कामभोग की तीव्र अभिलाषा न रखे अथवा कामभोग का तीव्र परिणाम से सेवन न करे।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आदर्श तो सबके लिए महाव्रत ही हैं, पर पाप-त्याग की सीमा प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कर सकता है।

स्थूल मैथुन-व्रत कामवासना और पत्नीत्व-भावना का स्थानबद्ध कर देता है। स्वदार-संतोष का अर्थ है—अब्रह्म में अपनी पत्नी की सीमा के बाहर न जाना। जैन धर्म कहता है कि अपनी पत्नी तक सीमित रहना भी ब्रह्मचर्य नहीं है, कामवासना का ही सेवन है। अतः स्वदार-संतोषी काम-वासना और भोगवृत्ति को क्षीण करता चला जाय। सीमित करने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अन्य व्रतों में ही निहित है। दिग्व्रत द्वारा वह दिशाओं की सीमा कर ले और उस सीमा-मर्यादा के बाद अब्रह्म का सेवन न करे। उस क्षेत्र-मर्यादा के बाहर वह पत्नी के साथ भी ब्रह्मचारी रहे। भोगोपभोग व्रत में दिनों की मर्यादा कर ले और उन दिनों के उपरांत विषय-सेवन में प्रवृत्त न हो। इसी तरह दिवा-मैथुन का त्याग कर मर्यादित हो जाय। आर्त-रौद्र ध्यान से बचकर मानसिक संयम साधे। अपनी मर्यादाओं को दैनिक नियमों द्वारा और भी सीमित करे। पर्व दिनों में पौषधोपवास कर ब्रह्मचर्य में रात्रियाँ बिताये। अपने जीवन को इस तरह दिनोदिन संयमी करता हुआ अपने साथी की ब्रह्मचर्य-भावना को भी बढ़ाता जाय। और इस तरह बढ़ते-बढ़ते अपनी पत्नी के प्रति भी पूर्ण ब्रह्मचारी हो जाय। जैन धर्म का यही उपदेश है कि अपने गृहस्थ-जीवन में भी पति-पत्नी अति भोगी न हों और विषय-वासना को दिनो-दिन घटाते जाँय।

महात्मा गांधी लिखते हैं : "अपनी स्त्री के साथ संग चालू रख कर भी जो पर-स्त्री संग छोड़ता है, वह ठीक करता है। उसका ब्रह्मचर्य सीमित भले ही माना जाय लेकिन इसे ब्रह्मचारी मानना, इस महा शब्द का खून करने के बराबर है[1]।"

जैन धर्म की दृष्टि से भी गृहस्थ वास्तव में ही ब्रह्मचारी नहीं है। वह स्वदार-संतोषी है। अपनी स्त्री के साथ भोग भोगने की उसकी छूट व्रत नहीं, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। छूट की अपेक्षा वह अब्रह्मचारी है। परदार-त्याग की अपेक्षा वह ब्रह्मचारी है।

उपनिषद् में एक विचार मिलता है—"जो दिन में स्त्री के साथ संयोग करता है, वह प्राण को क्षीण करता है और जो रात में स्त्री के साथ संयोग करता है, वह ब्रह्मचर्य ही है[2]।"

इसके बदले में जैन धर्म का विचार है—ऐसा मनुष्य दिवा-मैथुन के त्याग की अपेक्षा से अणुव्रती है और रात्रि-मैथुन की अपेक्षा से अब्रह्मचारी। मैथुन-काल—रात्रि में भी संभोग करनेवाला ब्रह्मचारी नहीं है।

स्मृति में उल्लेख है—"जो छः दूषित रात्रि, निन्दित आठ रात तथा पर्व दिन का त्याग कर सोलह रात में केवल दो रात स्त्री-संगम करता है; वह चाहे जिस आश्रम में हो ब्रह्मचारी है[3]।"

जैन धर्म के अनुसार अन्य रात्रियों का त्याग ब्रह्मचर्य है। दो रात्रि का भोग अब्रह्म है, उससे कोई ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता।

१—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० १०१

२—प्रश्नोपनिषद् १.१३ :

प्राण वा एते प्रस्कन्दति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते
ब्रह्मचर्य्यमेवतद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।

३—मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ५० :

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥

११-विवाहित-जीवन और भोग-मर्यादा

ईसा का आदेश है—"अपने माता-पिता, बीबी-बच्चे आदि को छोड़ कर मेरा अनुसरण कर।" प्रश्न है जो माता-पिता, बीबी-बच्चे को नहीं छोड़ता क्या वह ईसा का अनुसरण नहीं कर सकता ? संत टॉल्स्टॉय इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं—"इन शब्दों का अर्थ तुमने गलत समझा है। जब मनुष्य के चित्त में धार्मिक और पारिवारिक कर्तव्यों के बीच युद्ध छिड़ जाय, तब समझौते की शर्तें बाहर से पेश नहीं की जा सकतीं। बाहरी नियम या उपदेश कोई काम नहीं कर सकते। इनको तो मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार खुद ही सुलझाना चाहिए। आदर्श तो वही रहेगा—'अपनी पत्नी को छोड़ कर मेरे पीछे चल' पर यह बात तो केवल वह आदमी और परमात्मा ही जानता है कि इस आदेश का पालन वह कहाँ तक कर सकता है[१] !"

टॉल्स्टॉय के कथन का अभिप्राय यह है कि अगर ऐसी शक्ति न हो तो वह पुरुष पत्नी के साथ रहता हुआ ही यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करे। उन्होंने लिखा है : "मैं तो केवल एक ही बात सोच और कह सकता हूँ। विवाह हो जाने पर भी पाप को बढ़ाने का मौका न देते हुए अपनी शक्ति भर और जीवन भर अविवाहित का-सा संयमशील जीवन व्यतीत करने की कोशिश करनी चाहिए[२]।"

"मनुष्य को चाहिए कि वह हमेशा और हर हालत में, चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित, जहाँ तक वह रह सकता हो ब्रह्मचर्य से रहे। यदि वह आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सकता है, तो इससे अच्छा वह और कुछ कर ही नहीं सकता। परन्तु यदि वह अपने आपको रोक नहीं सकता, अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करने में असमर्थ है, तो उसे चाहिए कि जहाँ तक हो सके, वह अपनी इस निर्बलता के बहुत कम वशीभूत हो, और किसी अवस्था में विषयोपभोग को आनन्द की वस्तु न समझे[३]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं : "विविध रंगों का चाहे-जैसा मिश्रण सौन्दर्य का चिह्न नहीं है, और न हर तरह का आनन्द ही अपने-आप में कोई अच्छाई है। कला और उसकी जो दृष्टि है उसने मनुष्य को यह सिखाया है कि वह उपयोगिता में ही आनन्द की खोज करे। इस प्रकार अपने विकास के प्रारंभिक काल में ही उसने यह जान लिया था कि खाने के लिए ही उसे खाना नहीं खाना चाहिए, बल्कि जीवन टिका रहे, इसलिए खाना चाहिए। ......इसी प्रकार जब उसने विषय-सहवास या मैथुनजनित आनन्द की बात पर विचार किया तो उसे मालूम पड़ा कि अन्य प्रत्येक इन्द्रिय की भांति जननेन्द्रिय का भी उपयोग दुरुपयोग होता है और इसका उचित कार्य याने सदुपयोग इसी में है कि केवल प्रजनन या संतानोत्पत्ति के ही लिए सहवास किया जाय। इसके सिवा और अन्य प्रयोजन से किया जानेवाला सहवास अ-सुन्दर है[४]।

"यही अर्थ गृहस्थाश्रमी के ब्रह्मचर्य का है अर्थात्—स्त्री-पुरुष का मिलन सिर्फ संतानोत्पत्ति के लिए ही उचित है, भोग-तृप्ति के लिए कभी नहीं। यह हुई कानूनी बात अथवा आदर्श की बात। यदि हम इस आदर्श को स्वीकार करें तो यह समझ सकते हैं कि भोगेच्छा की तृप्ति अनुचित है और हमें उसका यथोचित त्याग करना चाहिए। आजकल भोग-तृप्ति को आदर्श बताया जाता है। ऐसा आदर्श कभी हो नहीं सकता, यह स्वयंसिद्ध है। यदि भोग आदर्श है तो उसे मर्यादित नहीं होना चाहिए। अमर्यादित भोग से नाश होता है, यह सभी स्वीकार करते हैं। त्याग ही आदर्श हो सकता है और प्राचीन काल से रहा है[५]।

"स्त्री-पुरुष के समागम का उद्देश्य इन्द्रिय-सुख नहीं, बल्कि सन्तानोत्पादन है और जहाँ संतान की इच्छा न हो वहाँ संभोग पाप है[६]।"

महात्मा गांधी के अनुसार स्त्री-भोग विवाहित जीवन में भी अल्प बार ही हो सकता है। उन्होंने लिखा है—"संतति के कारण ही तो एक ही बार मिलन हो सकता है ; अगर वह निष्फल गया तो दोबारा उन स्त्री-पुरुषों का मिलन होना ही नहीं चाहिए। इस नियम को जानने के बाद इतना ही कहा जा सकता है कि जब तक स्त्री ने गर्भ धारण नहीं किया तब तक, प्रत्येक ऋतुकाल के बाद, प्रतिमास एक बार स्त्री-पुरुष मिलन क्षंतव्य हो सकता है, और यह मिलन भोग-तृप्ति के लिए न माना जाय[७]।"

जैन धर्म के अनुसार संतान-प्राप्ति के लिए सहवास भी विषय-सेवन है और उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकता जैसा कि कहा गया है—"जो दंपत्ति गृहस्थाश्रम में रहते हुए केवल प्रजोत्पत्ति के हेतु ही परस्पर संयोग और एकांत करते हैं, वे ठीक ब्रह्मचारी हैं[८]।"

१—स्त्री और पुरुष पृ० ६७

२—वही पृ० ६८

३—वही पृ० ३६

४—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० २५-२६

५—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ०१७

६—अनीति की राह पर पृ० ७४

७—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० १७

८—वही पृ० ८१

एक पुरानी कथा इस रूप में मिलती है :

वशिष्ठ की कुटिया के सामने एक नदी बहती थी। दूसरे किनारे विश्वामित्र तप करते थे। वशिष्ठ गृहस्थ थे। जब भोजन पक जाता तो पहले अरुंधती थाल परोसकर विश्वामित्र को खिलाने जाती; बाद को वशिष्ठ के घर पर सब लोग भोजन करते; यह नित्य-क्रम था। एक रोज बारिश हुई और नदी में बाढ़ आ गई। अरुंधती उस पार न जा सकी। उसने वशिष्ठ से इसका उपाय पूछा। उन्होंने कहा—'जाओ, नदी से कहना, मैं सदा निराहारी विश्वामित्र को भोजन देने जा रही हूँ, मुझे रास्ता दे दो।' अरुंधती ने इसी प्रकार नदी से कहा—और उसने रास्ता दे दिया। तब अरुंधती के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ कि विश्वामित्र रोज तो खाना खाते हैं, फिर निराहारी कैसे हुए? जब विश्वामित्र खाना खा चुके तब अरुंधती ने उनसे पूछा—'मैं वापस कैसे जाऊँ, नदी में तो बाढ़ है?' विश्वामित्र ने उलट कर पूछा—'तो आई कैसे?' उत्तर में अरुंधती ने वशिष्ठ का पूर्वोक्त नुसखा बतलाया। तब विश्वामित्र ने कहा—'अच्छा तुम नदी से कहना, सदा ब्रह्मचारी वशिष्ठ के यहाँ लौट रही हूँ। नदी, मुझे रास्ता दे दो।' अरुंधती ने ऐसा ही किया और उसे रास्ता मिल गया। अब तो उसके अचरज का ठिकाना न रहा। वशिष्ठ के सौ पुत्रों की तो वह स्वयं ही माता थी। उसने वशिष्ठ से इसका रहस्य पूछा कि—विश्वामित्र को सदा निराहारी और आप को सदा ब्रह्मचारी कैसे मानूं? वशिष्ठ ने बताया—'जो केवल शरीर-रक्षण के लिए ईश्वरार्पण-बुद्धि से भोजन करता है, वह नित्य भोजन करते हुए भी निराहारी है और जो केवल स्व-धर्म पालन के लिए अनासक्तिपूर्वक सन्तानोत्पादन करता है, वह संभोग करते हुए भी ब्रह्मचारी ही है[1]।'

इस पर टिप्पणी करते हुए महात्मा गांधी लिखते हैं :

"......धार्मिक दृष्टि से देखें तो एक ही संतति 'धर्मज' या 'धर्मजा' है। मैं पुत्र और पुत्री के बीच भेद नहीं करता हूँ; दोनों एक समान स्वागत के योग्य हैं। वशिष्ठ, विश्वामित्र का दृष्टान्त साररूप में अच्छा है......उससे इतना ही सार निकालना काफी है कि सन्तानोत्पत्ति के ही अर्थ किया हुआ संयोग ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं है। कामाग्नि की तृप्ति के कारण किया हुआ संभोग त्याज्य है। उसे निंद्य मानने की आवश्यकता नहीं। असंख्य स्त्री-पुरुषों का मिलन भोग के ही कारण होता है, और होता रहेगा।......[2]"

इस विषय में संत टॉल्स्टॉय के विचार प्रायः उपर्युक्त विचारों से मिलते हैं :

"मैं समझता हूँ विवाह में सहवास (संभोग) एक आचारविरुद्ध कर्म (व्यभिचार) नहीं है; परन्तु इस बात को प्रमाण के साथ लिखने के पहले मैं इस प्रश्न पर कुछ अधिक ध्यानपूर्वक विचार कर लेना चाहता हूँ। क्योंकि इस कथन में भी कुछ सत्यता प्रतीत होती है कि काम-पिपासा बुझाने के लिए अपनी धर्म-पत्नी के साथ भी किया गया संभोग पाप है। मैं तो समझता हूँ इन्द्रिय-विच्छेद कर देना वैसा ही पाप-कर्म है, जैसा कि विषय-सुख के लिए संभोग (रति) करना। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि आवश्यकता से अधिक खा लेना। जो भोजन मनुष्य को अपने अन्य भाइयों की सेवा करने के योग्य बनाता है, वह न्यायोचित भोजन है, और इसी प्रकार वह मैथुन भी न्यायोचित (जायज) है, जो सन्तानोत्पत्त्यर्थ (वंश चलाने के उद्देश्य से) किया जाता है।

"......यह कहना सही है कि स्व-पत्नी के साथ किया हुआ संभोग भी आचार-विरुद्ध अर्थात् व्यभिचार है, यदि वह बिना आध्यात्मिक (विशुद्ध) प्रेम के, केवल विषय-सुख के लिए और इसलिए नियत समय के ऊपर न किया गया हो;......पर यह कहना सर्वथा अनुचित और भ्रममूलक है कि सन्तानोत्पत्त्यर्थ और विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम के होते हुए किया गया मैथुन भी पाप है। वास्तव में यह पाप नहीं किन्तु ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है[3]।"

संभोग के दो प्रयोजन हो सकते हैं—एक विषय-वासना की पूर्ति और दो जरूरत से प्रजोत्पादन। ऊपर के दोनों वक्तव्यों का सार यह है कि विवाहित जीवन का यह नियम होना चाहिए कि कोई भी पति-पत्नी बिना आवश्यकता के प्रजोत्पत्ति न करें और प्रजोत्पादन के हेतु बिना संभोग न करें। महात्मा गांधी की दृष्टि से संभोग एक ही सन्तान के लिए हो सकता है; उसके बाद नहीं होना चाहिए। संत टॉल्स्टॉय के अनुसार

१—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० ८४

२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० ८५-८७ का सार

३—स्त्री और पुरुष पृ० ५६-६० से संक्षिप्त

कर्त्तव्यपूर्वक जितनी सन्तानों के पालन की क्षमता दम्पति में हो, उतनी सन्तानों के लिए ही सकता है। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार भी एक सन्तति का विधान नहीं है, जैसा कि उपर्युक्त कथा से स्पष्ट है।

महात्मा गांधी के अनुसार कामाग्नि की तृप्ति के कारण किया हुआ संभोग त्याज्य है—निन्द्य नहीं। संत टॉल्स्टॉय कहते हैं : "यदि तू स्त्री को—भले ही वह तेरी पत्नी हो—एक भोग और आमोद-प्रमोद की सामग्री समझता है तो व्यभिचार करता है। विषयानन्द............... पतन है[1]।"

जैन दृष्टि से विषय-तृप्ति और सन्तानोत्पत्ति—ये दोनों ही हेतु सावद्य—पापपूर्ण हैं। सन्तान की कामना स्वयं एक वासना है। संभोग-क्रिया में—फिर वह भले ही किसी भी हेतु से हो—इन्द्रियों के विषयों का सेवन होता ही है। मोह-जनित नाना प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं। ये सब विकार हैं। यह संभव है कि कोई संभोग तीव्र-परिणामों से करे और कोई हल्के परिणामों से। जो तीव्र परिणामों से प्रवृत्त होता है वह गाढ़ बंधन करता है और जो हल्के परिणामों से प्रवृत्त होता है, उसका बंधन हल्का होता है।

सन्तानोत्पत्ति में स्वधर्म पालन जैसी कोई बात नहीं। अपने पीछे अपना वारिस छोड़ जाने की भावना में मोह और अहंकार ही है। अनासक्तिपूर्वक सन्तानोत्पादन करनेवाला ब्रह्मचारी ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह भी भोगी है। यदि भावों में तीव्रता नहीं है तो उसका बंधन कठोर नहीं होगा। इतनी ही बात है। हेतु से दोषपूर्ण क्रिया निर्दोष नहीं हो सकती। अशुद्ध साधन हेतुवश—प्रयोजनवश शुद्ध नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि से एकबार के संभोग में मनुष्य नौ लाख सूक्ष्म पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करता है (भगवती २.५ और टीका)।

आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं :

> योनियन्त्रसमुत्पन्नाः सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः।
> पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत्[2]॥

प्रश्नव्याकरण सूत्र में अब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कहा है :

"अब्रह्मचर्य चौथा पाप-द्वार है। यह कितना आश्चर्य है कि देवों से लेकर मनुष्य और असुर तक इसके लिये दीन-भिखारी बने हुए हैं।

"यह कादे और कीचड़ की तरह फँसानेवाला और पाश की तरह बंधन-रूप है। यह तप, संयम और ब्रह्मचर्य को विघ्न करनेवाला, चारित्र-रूपी जीवन का नाश करनेवाला और अत्यन्त प्रमाद का मूल है। यह कायर और कापुरुषों द्वारा सेवित और सत्पुरुषों द्वारा त्यागा हुआ है। स्वर्ग, नरक और तिर्यक्, इन तीनों लोक का आधार—संसार की नींव और उसकी वृद्धि का कारण है। जरा-मरण, रोग-शोक की परम्परा वाला है। बध, बन्धन और मरण से भी इसकी चोट गहरी होती है। दर्शन—तत्त्वों में विश्वास करने और चारित्र—सद्धर्म अङ्गीकार करने में विघ्न करनेवाले मोहनीयकर्म का हेतुभूत—कारण है। जीव ने जिस का चिर संग किया फिर भी जिससे तृप्ति नहीं हुई—ऐसा यह चौथा आस्रवद्वार दुरन्त और दुष्फलवाला है[3]। यह अधर्म का मूल और महा दोषों की जन्मभूमि है[4]।

"अब्रह्मचर्य-सेवन से भला इन्द्रिय-सुख मिलता है परन्तु बाद में वह बहुत दुःखों का हेतु होता है। यह आत्मा के लिए महा भय का कारण है। पाप-रज से भरा हुआ है। फल देने में बड़ा कर्कश है—दारुण है। सहस्रों वर्षों तक इसका फल नहीं चुकता—जीव को इसके कुफल बहुत दीर्घ काल तक भोगने पड़ते हैं[5]।"

अब्रह्म की यह प्रकृति सन्तानोत्पत्ति के हेतु से नहीं मिट सकती और वह हमेशा है जैसी ही सदोष रहेगी। श्रमण भगवान् महावीर के अनुसार सन्तानोत्पत्यर्थ किया हुआ मैथुन भी पाप है। पति-पत्नी का विषय-तृप्ति के लिए किया हुआ मैथुन लोक-निंद्य अवश्य नहीं है पर ज्ञानियों की दृष्टि में अपने मूल स्वरूप में वह भी पाप ही है और *जिन-आज्ञा सम्मत नहीं।*

१—स्त्री और पुरुष पृ० १०२
२—योगशास्त्र २.७६
३—प्रश्नव्याकरण सूत्र : चतुर्थ आस्रव द्वार
४—दशवैकालिक सूत्र ६.१७
५—प्रश्नव्याकरण सूत्र : चतुर्थ आस्रव द्वार

१२-भाई-बहिन का आदर्श

संत टॉल्स्टॉय लिखते हैं :

"मनुष्य को चाहिए कि वह संयम के महत्त्व को समझ ले। जो संयम अविवाहित अवस्था में मनुष्य के गौरव की अनिवार्य शर्त है, वह विवाहित जीवन में इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। विवाहित स्त्री-पुरुष वैषयिक प्रेम को शुद्ध भाई-बहिन के प्रेम में परिणत कर दें।

"विवाह अपनी वैषयिकता को तुष्ट करने का एक साधन नहीं; बल्कि एक ऐसा पाप समझा जाय जिसका प्रायश्चित करना परमावश्यक है। इस पाप का इस तरह प्रायश्चित हो सकता है : "पति और पत्नी दोनों विलासिता और विकार से मुक्त होने की कोशिश करें और इसमें एक दूसरे की सहायता करें, तथा आपस में उस पवित्र सम्बन्ध की स्थापना करने की भी कोशिश करें, जो भाई और बहिन के बीच होता है न कि प्रेमी और प्रेमिका के बीच[१]।"

इसी विचार को महात्मा गांधी ने भी दिया है :

"विवाहित अविवाहित-सा हो जाय[२]।"

"मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श अशक्य है और 'तुम स्त्री-पुरुष में जो एक दूसरे के प्रति आकर्षण है, उसका खयाल नहीं करते।' पर जिस काम-प्रेरित आकर्षण की ओर संकेत है मैं उसे स्वाभाविक मानने से इनकार करता हूँ। वह प्रकृति-प्रेरित हो तो हमें जान लेना चाहिए कि प्रलय होने में अधिक देर नहीं है। स्त्री और पुरुष के बीच का सहज आकर्षण वह है जो भाई और बहिन, माँ और बेटे, बाप और बेटी के बीच होता है। संसार इसी स्वाभाविक आकर्षण पर टिका है। मैं सम्पूर्ण नारी-जाति को अपनी बहिन, बेटी और माँ न मानूं तो काम करना तो दूर रहे, मेरे लिए जीना भी कठिन हो जायगा। मैं उन्हें वासनाभरी दृष्टि से देखूं तो यह नरक का सीधा रास्ता होगा[३]।" "नहीं मुझे अपनी सारी शक्ति के साथ कहना होगा कि काम का आकर्षण पति-पत्नी के बीच भी अस्वाभाविक है।...पति-पत्नी के बीच भी कामना-रहित प्रेम होना नामुमकिन नहीं है[४]।"

नीचे हम एक पुरानी जैन-कथा दे रहे हैं जो आज के युग में भी नये मूल्यों की प्रतिष्ठा में सहायक होगी और जो पति-पत्नी में भाई-बहिन के भाव का विचार बहुत पहले से देती आ रही है :

कौशाम्बी नगरी में धनवा सेठ का लड़का विजय कुमार रहता था। एक बार उस नगरी में एक मुनि आये। विजय कुमार उनके दर्शन के लिए गया। मुनि ने दर्शन के लिए आए हुए लोगों को धर्मोपदेश दिया। विजय कुमार उपदेश से प्रभावित हुआ और उसने यावज्जीवन के लिए परदार का त्याग लिया। साथ ही उसने कृष्णपक्ष में स्वदार का भी यावज्जीवन के लिए त्याग किया।

उसी नगरी में एक दूसरा सेठ धनसार था। उसकी पुत्री का नाम विजय कुमारी था। वह बड़ी लावण्यवती और गुणवती थी। यौवनावस्था आने पर विजय कुमार और विजय कुमारी का पाणिग्रहण हुआ। विजय कुमारी जैसी सुन्दर थी वैसा ही विजय कुमार था।

प्रथम रात्रि में विजय कुमारी विजय कुमार के पास आयी। तब कुमार बोला—"तीन दिन मेरे पास नहीं आना है।" कुमारी बोली—"आप इस समय मुझे किस कारण से रोकते हैं?" कुमार बोला—"मुझे कृष्णपक्ष का प्रत्याख्यान है। उसके बीतने में तीन दिन बाकी हैं।" विजय कुमारी चिन्तित होकर बोली—"मुझे शुक्लपक्ष का प्रत्याख्यान है। आप दूसरा विवाह करें।" विजय कुमार बोला—"प्रिये! सहज ही पाप से बचाव हुआ। अब्रह्म अनर्थ का मूल है। हम दोनों यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करें।" विजय कुमारी बोली—"हम लोगों की यह बात छिपी कैसे रह सकेगी? प्रकट होने पर आपको तो विवाह करना ही पड़ेगा।" विजय कुमार बोला—"बात प्रकट होने पर दोनों संयम ग्रहण करेंगे और आत्म-शुद्धि के लिए युद्ध करेंगे। हम लोग अनन्त बार कामभोग भोग चुके। उनसे कभी तृप्ति नहीं हुई।"

पति-पत्नी दोनों साथ-साथ सामायिक पौषध करते। एक ही शय्या पर सोते और एक दूसरे को भाई-बहिन की दृष्टि से देखते हुए

१—स्त्री और पुरुष पृ० ७,२६,७६

२—ब्रह्मचर्य (धी०) पृ० ६७

३—अनीति की राह पर पृ० ७०-१

४—वही पृ० ७१

असिधार व्रत का पालन करने लगे[१]। इस प्रकार बारह वर्ष का समय बीत गया।

ऐसे समय विमल मुनि नामक केवली चम्पानगरी में पधारे। उन्होंने आयी हुई परिषद् को धर्मोपदेश दिया। वहाँ जिनदास नामक सेठ भी उपस्थित थे। उसने पूछा—"मैंने रात्रि में स्वप्न में मासक्षमण के उपवासी ८४ लाख मुनिराजों को प्रतिलाभित किया। उसका क्या फल है?" विमल केवली बोले—"सेठ! कौशाम्बी में विजय कुमार और विजय कुमारी रहते हैं। यह दम्पति तीन करण, तीन योग से ब्रह्मचारी है। पति-पत्नी एक ही शय्या पर शयन करते हैं और उन्हें ब्रह्मचर्य पालन करते हुए बारह वर्ष हो गये हैं। एक को कृष्णपक्ष का प्रत्याख्यान है और दूसरे को शुक्लपक्ष का। ये दोनो चरम शरीरी हैं।" यह सुनकर सब विस्मित हुए। जिनदास बोला—"मैं जाकर उन्हें देखूँगा और उनकी स्तुति करूँगा।" मुनि बोले—"तुम्हारे मिलने पर वे संयम लेंगे।"

जिनदास परिवार सहित कौशाम्बी पहुँच बाहर बाग में ठहरा और फिर विजय कुमार के पिता से मिलने गया। विमल केवली द्वारा कही हुई बात उससे कही। सेठ ने कुमार को बुला कर पूछा—"अब तुम्हारी क्या इच्छा है?" कुमार बोला—"मैंने प्रण ले रखा है कि बात प्रकट होते ही संयम लूँगा। अतः संयम की अनुज्ञा दें।" पिता के आग्रह पर भी कुमार अपने निश्चय से नहीं डिगा। सेठ ने अनुमति दे दी। विजय कुमार ने प्रव्रज्या ली। विजया कुमारी भी प्रव्रजित हुई। दोनों को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और दोनों मुक्त हुए[२]।

यह कथा अनेक तरह से बोधप्रद है और विवाहित जीवन के लिए निम्नलिखित मूल्यों को प्रतिष्ठित करती है :

(१) लिए हुए व्रत को दृढ़ता से निभाना चाहिए।

(२) पति-पत्नी एक दूसरे के व्रत को निभाने में सहधर्मी हों।

(३) पति-पत्नी दोनों अन्त में ऐसी अवस्था में आ जायें कि उनका सम्बन्ध भाई-बहिन का सा हो जाय।

(४) अन्त में गार्हस्थ्य से मुक्त हो दोनों पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण करें।

ईसा ने कहा है—"अपने माता-पिता, बीबी-बच्चे आदि को छोड़ कर मेरा अनुसरण कर।" संत टॉल्स्टॉय लिखते हैं—"स्त्री को छोड़ने के माने हैं, उससे पतित्व का नाता तोड़ देना। संसार की अन्य स्त्रियों की तरह, अपनी बहन की तरह उसे समझना[३]।"

जैन धर्म में भी कहा है—स्त्री, पुत्र, घर, संपत्ति सब को छोड़ कर श्रामण्य (ब्रह्मचर्यवास) ग्रहण करो। इस आदर्श के उदाहरण जैन साहित्य में काफी उपलब्ध हैं। यहाँ हम जम्बूकुमार का जीवन-वृत्त देते हैं, जो इस विषय में एक चरमकोटि का बोध-प्रद प्रसंग है। यह कथा हम यहाँ स्वामीजी की ही कृति के आधार पर दे रहे हैं।

जम्बूकुमार राजगृही के रहनेवाले थे। उनके पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी देवी था।

एक बार भगवान महावीर के पट्टधर सुधर्मा स्वामी राजगृह पधारे। जम्बूकुमार उनके दर्शन के लिए गये। सुधर्मा के उपदेश को सुन कर जम्बूकुमार का हृदय वैराग्य से ओत प्रोत हो गया। अपने माता-पिता की आज्ञा ले उन्होंने श्रामण्य ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और दर्शन कर घर की ओर लौट चले।

जब वे अपने घर के समीप पहुँचे तो एक मकान गिर पड़ने से एक पत्थर की शिला ठीक उनके सामने आकर गिरी। उन्होंने सोचा जीवन का क्या भरोसा? प्रव्रज्या के पहले न जाने कितने विघ्न आ सकते हैं? मुझे यावज्जीवन के लिए ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लेना चाहिए। ऐसा विचार, वे उसी समय सुधर्मा स्वामी के पास पहुँचे और यावज्जीवन के लिए ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लिया।

इसके बाद घर लौटे और माता-पिता से प्रव्रज्या की अनुमति माँगने लगे। माता-पिता उन्हें विविध प्रकार से समझाने लगे पर जम्बूकुमार के विचार नहीं पलटे। आखिर में उन्होंने कहा—"तुम्हारी आठ कन्याओं के साथ सगाई की जा चुकी है। हमारे कहने से इतना

१—वैराग्य मंजरी : विजय सेठ विजया सेठानी को चौढालियो २.७ :

करे समाई पोषा भेला, कांई सूवे हो एक सेज मझार क।

जोवे भगिनी भ्रात ज्यूं, शील पाले हो सांदी धार क॥

२—वैराग्य मंजरी : विजय सेठ विजया सेठाणी को चौढालियो पृ० १८-२४

३—स्त्री और पुरुष पृ० ६७

तो मानो कि उनके साथ विवाह कर बाद में प्रव्रज्या ली। अगर तुम विवाह किए बिना ही संयम लोगे, तो हमे यह बात जीवन-भर अखरती रहेगी कि तुम्हारी मांगो का विवाह अन्य किसी के साथ हुआ।"

माता-पिता को अत्यंत दुःखी और विलाप करते हुए देख जम्बूकुमार सोचने लगे—"मैंने ब्रह्मचर्य ग्रहण किया है, विवाह करने का परित्याग नहीं किया है। क्यों न माता-पिता की बात रख दूं ? विवाह के बाद भी मैं ब्रह्मचर्य के नियम का भङ्ग नहीं करूँगा और दीक्षा लूँगा।"

जम्बूकुमार ने विवाह की स्वीकृति दी। माता-पिता ने बड़े उमङ्ग से दिन निर्धारित किया और हर्षोत्सव मनाये जाने लगे।

जम्बूकुमार ने सोचा—"मेरे ससुरालवालो को मेरे ब्रह्मचर्य ग्रहण करने की बात मालूम नही। मेरा कर्त्तव्य है कि इस बात को प्रकट कर दूं ताकि मेरे आठों ही सास-ससुर और ससुरालवालों को इसका पता रहे, तथा आठ कन्याओं के ध्यान में भी यह बात आ जाय। और वे अपना कर्त्तव्य सोच सकें। यदि अपने नियम की सूचना मैं उन्हें नहीं करता तो मेरी ओर से यह एक बहुत बड़े धोखे की बात होगी।"

ऐसा विचार कर जम्बूकुमार ने दूत द्वारा आठों ससुरालों में इसकी सूचना भेज दी। समाचार पाकर आठों कन्याएँ विचार में पड़ गयी और फिर एकत्र हो विचार किया :

"उधर ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लिया और इधर हम सब से विवाह कर रहे हैं। मालूम होता है उनके परिणाम शिथिल हैं। यदि ब्रह्मचर्य पालन के विचार दृढ़ होते तो विवाह ही क्यों करते ? माता-पिता के प्रेमवश उन्होंने हमलोगों से पाणि-ग्रहण करना मंजूर कर लिया तो हमलोगो के प्रेमवश वे संयम लेने का विचार भी छोड़ देंगे। यदि हम सब के प्रेम-पाश में न पड़ें वे प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे तो हम सब भी उनका साथ देंगी। हम जंबूकुमार के सिवा किसी के साथ विवाह नहीं कर सकती। यह हमलोगों के लिए युक्त नहीं।" इस तरह दृढ़ निश्चय कर सबने विवाह करने का विचार स्थिर रखा।

माता-पिता से वे बोली : "आप फ़िकर न करें। हम विवाह करेंगी तो जंबूकुमार के साथ ही। इस थोड़े जीने के लिए हम अन्य किसी के साथ विवाह नही कर सकती। यदि जंबूकुमार घर में रहते हुए शील का पालन करेंगे तो हम भी वैसा ही करेंगी। यदि वे संयम ग्रहण करेंगे तो हम भी उनका अनुसरण कर संयम ग्रहण करेंगी। यदि वे घर में रह कर गृहवास करेंगे तो वे हमारे कंत होंगे और हम उनकी कामनियां। उनकी इच्छा है वैसा वे करें। उसी के अनुसार हम करेंगी। हमारा प्रण है कि हम जंबूकुमार को छोड़ अन्य से विवाह नही करेंगी।"

इसके बाद आठों कन्याओं का पाणि-ग्रहण जम्बूकुमार के साथ हुआ। विवाह की रात्रि में वे महल में गये। देवाङ्गना सदृश आठोंपत्नियां वहाँ उपस्थित हुई। जंबूकुमार सोचने लगे : इन्होंने मेरा पाणिग्रहण किया है, इसलिए इनके साथ रात बिताऊँ। इनके साथ विवाह हुआ है, इसलिए ये मेरी पत्नियां हैं और मैं इनका पति हूँ। पर मैं शुद्ध ब्रह्मचारी हूँ उस दृष्टि से ये मेरी माता और बहिन की तरह हैं। मैं इनके प्रति जरा भी दोषपूर्ण दृष्टि से नही देखूँगा और अपने शील में दृढ़ रहूँगा। मुझ से विवाह कर ये मेरे पास आयी हैं। मेरा कर्त्तव्य है कि इन्हें भी समझा कर इनके साथ ही घर से निकलूं जिससे मेरे साथ इनकी भी आत्मा का कल्याण हो।

थांरो सुन्दर रूप आकार, मल मूत्र नों भंडार। हाड मांस लोही रुध, मांय, त्यां में रुडी वस्तु न काय॥
असुचि अपवित्र नों छै ठाम, यां सूं मून नहीं म्हारे काम। रहिवो आछो नही थांरे पास, यां सूं कुण करे घरवास॥
पिण थां जोड्या छै म्हो सूं हाथ, ता हिवे आतो पूरीकरूं रात। परणी लेखे छै म्हांरी नार, हूँ पिण थांरो भरतार॥
पिण हूँ ब्रह्मचारी सुधमान, तिण लेखे छै मा बेन समान। तो थांसूं माठी नजर न भालूं, शीलव्रत चोखे चित्तपालूं॥
ए मोनें परणे मो पासे आई, तो आठांई नें हूँ समझाई। यां नें पिण लें निकलूं लार, ज्यूं थांरोई खेवो हुवे पार[1]॥

इसके बाद जम्बूकुमार और उन सब में बड़ा रसप्रद वार्तालाप हुआ। वे जंबूकुमार को अनेक हेतु दृष्टान्तों के द्वारा गृहवास की ओर आकर्षित करने की चेष्टा करने लगीं। जम्बूकुमार वैराग्यपूर्ण हेतु दृष्टान्तों के द्वारा वैराग्य की पिचकारियाँ छोड़ने लगे। रात भर में उन्होंने आठों ही पत्नियों को संयम के लिए तैयार कर लिया।

रात में प्रभव नामक चोर अपने पाँच सौ साथियों के साथ चोरी करने के लिए जम्बूकुमार के महल में घुस गया था। वह दहेज मे आये हुए धन को बटोर ने लगा। तभी उसने जम्बूकुमार और उनकी नव विवाहित पत्नियों के बीच हुई बातचीत को सुना। उसका हृदय वैराग्य से प्लावित हो गया। उसने भी अपने साथियों सहित संयम ग्रहण करने का निश्चय किया। प्रातः सबको लेकर जम्बूकुमार अपने माता-पिता के पास आये। यह सब देखकर उनके मन में भी वैराग्य उमड पड़ा और इन सब ने जम्बूकुमार के साथ दीक्षा ली।

जम्बू स्वामी आखिरी केवली थे। वे संयम का अच्छी तरह पालन कर सिद्ध बुद्ध और मुक्त हुए।

१—भिक्षु-ग्रन्थरत्नाकर (खण्ड २) ग्र० १८ ढाल १४ गा० ४-८

१३-विवाह और जैन दृष्टि

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैनधर्म विवाह-विधान नहीं देता। विवाह को अनाध्यात्मिक समझता है। जैनधर्म अब्रह्म से निवृत्ति रूप है और गार्हस्थ्य उसमें प्रवृत्ति रूप, अतः वह गार्हस्थ्य का विधान नहीं करता। उसका आदर्श महाव्रत है और उसमें प्रवृत्ति रूप है, इसलिए भी उसमें गार्हस्थ्य से निवृत्ति का ही विधान हो सकता है।

ईसा का विवाह सम्बन्धी दृष्टिकोण जैन प्ररूपण के बहुत समीप है। संत टॉल्स्टॉय लिखते हैं :

"रति (संभोग) तथा ऐसी ही अन्य बातों में—जैसे हिंसा, क्रोध आदि—मनुष्य को चाहिए कि वह कभी आदर्श को नीचा न करे और न कभी कोई रूपान्तर ही करे[1]।" "पूर्ण शुद्ध ब्रह्मचर्य आदर्श है। परमात्मा की सेवा करनेवाला विवाह की उतनी ही इच्छा करेगा, जितनी शराब पीने की। पर शुद्ध ब्रह्मचर्य के राजमार्ग में कई मञ्जिलें हैं। यदि कोई पूछे कि हम विवाह करें या नहीं, तो उसे केवल यही उत्तर दिया जा सकता है कि यदि आपको ब्रह्मचर्य के आदर्श का दर्शन नहीं हो पाया हो, तो ख्वामख्वाह उसके सामने अपना सिर न झुकाओ। हाँ, वैवाहिक जीवन में विषयों का उपभोग करते हुए धीरे-धीरे उस आदर्श की ओर बढ़ो। यदि मैं ऊँचा हूँ और दूर की इमारत को देख सकता हूँ और मुझसे छोटे कदवाला मेरा साथी उसे नहीं देख पाता, तो मैं उसे उसी दिशा में कोई नजदीकवाली वस्तु दिखा कर उद्दिष्ट स्थान की कल्पना कराऊँगा। उसी प्रकार जो लोग सुदूरवर्ती ब्रह्मचर्य के आदर्श को नहीं देख पाते, उनके लिए ईमानदारी के साथ विवाह करना उस दिशा की एक पास की मंजिल है। पर यह मेरी और आपकी बतायी मंजिल है। स्वयं ईसा तो सिवा ब्रह्मचर्य के और किसी आदर्श को न तो बता सकते थे और न उन्होंने बताया ही है[2]।

"धर्म-ग्रन्थ में विवाह की आज्ञा नहीं है। उसमें तो विवाह का निषेध ही है। अनीति, विलास तथा अनेक स्त्री-संभोग की कड़े-से-कड़े शब्दों में निन्दा अलबत्ते की गयी है। विवाह-संस्था का तो उसमें उल्लेख भी नहीं है[3]।

"ईसाई-धर्म के अनुसार न तो कभी विवाह हुआ है और न हो ही सकता है, क्योंकि धर्म विवाह की आज्ञा नहीं करता; ठीक उसी तरह जैसे कि धन-संचय करने का भी आदेश नहीं करता। हाँ, इन दोनों का सदुपयोग करने पर अलबत्ता वह जोर देता है[4]।"

वैदिक संस्कृति में गार्हस्थ्य ही प्रधान रहा। क्योंकि वेदों के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम विद्याकाल रहा और उसके बाद गार्हस्थ्य आरंभ होता जो जीवन के अन्त तक रहता। उपनिषद्-काल में वानप्रस्थ और बाद में स्मृतिकाल में संन्यास पल्लवित हुआ, फिर भी गार्हस्थ्य आश्रम ही धन्य कहा जाता रहा। ऐसी स्थिति में विवाह-संस्था का वैदिक संस्कृति में मुख्यत्व रहा है और वैदिक संस्कृति के क्रियाकाण्ड में सन्तान का प्रजनन आवश्यक होने से विवाह और प्रजनन के भी आदेश वेद जैसे धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध हैं।

एक बार महात्मा गांधी से पूछा गया—"क्या आप विवाह के विरुद्ध हैं?" उन्होंने उत्तर दिया—"मनुष्य जीवन का सार्थक्य मोक्ष है। हिन्दू के तौर पर मैं मानता हूँ कि मोक्ष अर्थात् जीवन-मरण की घट-माल से मुक्ति—ईश्वर-साक्षात्कार। मोक्ष के लिए शरीर के बन्धन टूटने चाहिएँ। शरीर के बन्धन तोड़नेवाली हरएक वस्तु पथ्य और दूसरी अपथ्य है। विवाह बन्धन तोड़ने के बदले उसे उलटा अधिक जकड़ लेता है। ब्रह्मचर्य ही ऐसी वस्तु है जो कि मनुष्य के बन्धन मर्यादित कर ईश्वरार्पित जीवन बिताने में उसे शक्तिमान करता है।...विवाह में तो सामान्य रूप से विषय-वासना की तृप्ति का ही हेतु रहा हुआ है। इसका परिणाम शुभ नहीं। ब्रह्मचर्य के परिणाम सुन्दर हैं[5]।"

जैन दृष्टि का स्पष्टीकरण करते हुए पं० सुखलालजी एवं बेचरदासजी लिखते हैं—"जीवन में गृहस्थाश्रम रागद्वेष के प्रसंगों के विधान का केन्द्र है। इससे जिस धर्म में गृहस्थाश्रम का विधान किया गया है, वह प्रवृत्तिधर्म और जिस धर्म में गृहस्थाश्रम का नहीं पर मात्र त्याग का विधान है, वह निवृत्तिधर्म है। जैन धर्म निवृत्तिधर्म होने पर भी उसके पालन करनेवालों में जो गृहस्थाश्रम का विभाग देखा जाता है, वह निवृत्ति की अपूर्णता के कारण है। सर्वांश में निवृत्ति प्राप्त करने में असमर्थ व्यक्ति जितने-जितने अंशों में निवृत्ति का सेवन करता है उतने-उतने अंशों में वह जैन है। जिन अंशों में निवृत्ति का सेवन न कर सके, उन अंशों में अपनी परिस्थिति अनुसार विवेकदृष्टि से वह प्रवृत्ति की रचना कर ले; पर इस प्रवृत्ति का विधान जैन शास्त्र नहीं करता। उसका विधान तो मात्र निवृत्ति का है। इससे जैन धर्म को विधान की दृष्टि से एकाश्रमी कहा जा सकता है। वह एकाश्रम याने ब्रह्मचर्य और संन्यास आश्रम का एकीकरणरूप त्याग का आश्रम[6]।"

१—स्त्री और पुरुष पृ० ४१ २—वही पृ० ४७ ३—वही पृ० ७७
४—वही पृ० ७१ ५—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ८२-८३ ६—जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्यविचार पृ० २

१४-ब्रह्मचर्य के विषय में दो बड़ी शंकाएँ

ब्रह्मचर्य के विषय में प्रायः दो शंकाएँ सामने आती हैं—(१) क्या ब्रह्मचर्य अव्यावहारिक नहीं ? और (२) उसके पालन से क्या मनुष्य-जाति का नाश नहीं हो जायगा ? इन दोनों का निराकरण नीचे दिया गया है :

(१) क्या ब्रह्मचर्य अव्यावहारिक नहीं ?

इस प्रश्न पर टॉल्स्टॉय ने बड़े अच्छे ढंग से विचार किया है। उन्होंने कहा है :

"कुछ लोगों को ब्रह्मचर्य के विचार विचित्र और विपरीत मालूम होंगे, और सचमुच विपरीत हैं भी। किन्तु अपने प्रति नहीं, हमारे वर्तमान जीवन-क्रम के एकदम विपरीत हैं।

"लोग कहेंगे—ये तो सिद्धान्त की बातें हैं। भले ही वे सच्ची हों तो भी हैं वे आखिर उपदेश। ये आदर्श अप्राप्य हैं। ये संसार में हमारा हाथ पकड़कर नहीं ले जा सकते। ये प्रत्यक्ष जीवन के लिए एकदम निरुपयोगी हैं इत्यादि-इत्यादि।

"दिक्कत यही है कि अपनी कमजोरी से मेल बैठाने के लिए आदर्श को ढीला करते ही यह नहीं सूझ पड़ता है कि कहाँ ठहरा जाय ?

"यदि एक जहाज का कप्तान कहे कि मैं कम्पास द्वारा बतायी जानेवाली दिशा में ही नहीं जा सकता, इसलिए मैं उसे उठाकर समुद्र में डाल दूँगा, उसकी तरफ देखना ही बन्द कर दूँगा या मैं कम्पास की सुई को पकड़ कर उस दिशा में बाँध दूँगा, जिधर मेरा जहाज जा रहा है (अर्थात् अपनी कमजोरी तक आदर्श को नीचे खींच लूँगा), तो निस्सन्देह बेवकूफ़ कहा जायगा।

"नाविक का अपने कम्पास अर्थात् दिशा-दर्शक यन्त्र में विश्वास करना जितना आवश्यक है, उतना ही मनुष्य का इन उपदेशों में विश्वास करना भी है। मनुष्य चाहे किसी परिस्थिति में क्यों न हो, आदर्श का उपदेश उसे यह निश्चित रूप से बताने के लिए सदा उपयोगी होगा कि उस मनुष्य को क्या-क्या बातें नहीं करनी चाहिएँ ? पर चाहिए उस उपदेश में पूरा विश्वास, अनन्य श्रद्धा। जिस प्रकार जहाज का मल्लाह या कप्तान उस कम्पास को छोड़ दायें-बायें आनेवाली और किसी चीज का ख़याल नहीं करता, उसी प्रकार मनुष्य को भी इन उपदेशों में पूरी श्रद्धा रखनी चाहिए।

"बतलाये हुए आदर्शों से हम कितने दूर हैं, यह जानने से मनुष्य को कभी डरना न चाहिए। मनुष्य किसी भी सतह पर या किसी भी हालत में क्यों न हो, वहाँ से वह बराबर आदर्श की तरफ बढ़ सकता है। साथ ही वह कितना ही आगे क्यों न बढ़ जाये, वह कभी यह नहीं कह सकता कि अब मैं ठेठ तक पहुँच गया या अब आगे बढ़ने के लिए कोई मार्ग ही न रहा।

"आदर्श के प्रति और खासकर ब्रह्मचर्य के प्रति मनुष्य की यह वृत्ति होनी चाहिए।

"यह सत्य नहीं कि आदर्श के ऊँचे, पूर्ण और दुरूह होने के कारण हमें अपने मार्ग में आगे बढ़ने में कोई सहायता नहीं मिलती। हमें उससे प्रेरणा और स्फूर्ति इसलिए नहीं मिलती कि हम अपने प्रति असत्य आचरण करके अपने आपको धोखा देते हैं।

"हम अपने आपको समझाते हैं कि हमारे लिए अधिक व्यावहारिक नियमों का होना जरूरी है, क्योंकि ऐसा न होने पर हम अपने आदर्श से गिरकर पाप में पड़ जायेंगे। इसके स्पष्ट मानी यह नहीं कि आदर्श बहुत ऊँचा है, बल्कि हमारा मतलब यह है कि हम उसमें विश्वास नहीं करते और न उसके अनुसार अपने जीवन का नियमन ही करना चाहते हैं।

"लोग कहते हैं, मनुष्य स्वभावतः अपूर्ण है। उसे वही काम दिया जाये, जो उसकी शक्ति के अनुसार हो। इसके मानी तो यही हुए कि मेरा हाथ कमजोर होने से मैं सीधी रेखा नहीं खींच सकता, इसलिए सीधी रेखा खींचने के लिए मेरे सामने टेढ़ी या टूटी लकीर का ही नमूना रखा जाय। पर बात यह है कि मेरा हाथ जितना ही कमजोर हो, बस, उतना ही पूर्ण नमूना मेरे सामने होना आवश्यक है।

"किनारे के नजदीक से होकर चलनेवाले जहाज के लिए यह भले ही कहा जा सकता है कि उस सीधी-ऊँची चट्टान के नजदीक से होकर चलो, उस अन्तरीप के पास से उस मीनार के बायें होकर चले चलो। पर अब तो हमने जमीन को बहुत दूर पीछे छोड़ दिया। अब तो नक्षत्रों और दिशा-दर्शक-यंत्र की सहायता से ही हमें अपना रास्ता ढूँढ़ना होगा और ये दोनों हमारे पास मौजूद हैं[१]।"

१—स्त्री और पुरुष पृ० २० से २८ तक का सार

(२) क्या ब्रह्मचर्य से मनुष्य जाति नाश को प्राप्त न हो जायेगी ?

इस प्रश्न का भी उत्तर टॉल्स्टॉय ने अतीव सुन्दर-ढंग से इस प्रकार दिया है :

"लोग पूछते हैं—यदि ब्रह्मचर्य विषयोपभोग की अपेक्षा श्रेष्ठ है, तो यह स्पष्ट है कि मनुष्य को श्रेष्ठमार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। पर यदि वे ऐसा करें तो मनुष्य-जाति नष्ट न हो जायगी ?

"किन्तु पृथ्वीतल से मनुष्य-जाति के मिट जाने का डर कोई नवीन बात नहीं है। धार्मिक लोग इस पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं और वैज्ञानिकों के लिए सूर्य के ठण्डे होने के बाद यह एक अनिवार्य बात है।

"इस तरह की दलील पेश करनेवालों के दिमाग में नीति नियम और आदर्श का भेद स्पष्ट नहीं है।

"ब्रह्मचर्य कोई उपदेश अथवा नियम नहीं, वह तो आदर्श अथवा आदर्शों की शर्तों में से एक है। आदर्श तो तभी आदर्श कहा जा सकता है जब उसकी प्राप्ति कल्पना द्वारा ही सम्भव हो, जब उसकी प्राप्ति अनन्त की 'आड़' में छिपी हो। और इसलिए उसके पास जाने की संभावना भी अनन्त है। यदि आदर्श प्राप्त हो जाये, अथवा हम उसकी प्राप्ति की कल्पना भी कर सकें, तो वह आदर्श ही नहीं रहा।

"पृथ्वी पर परमात्मा के राज्य की अर्थात् स्वर्ग की स्थापना करने का आदर्श ऐसा ही था।...अतः इस उच्च आदर्श की पूर्णता की तरफ कदम बढ़ाने और ब्रह्मचर्य को उस आदर्श का एक अङ्ग मानकर चलने से जीवन का विनाश संभव नहीं, बल्कि उसके विपरीत बात तो यह ठीक है कि इस आदर्श का अभाव ही हमारी प्रगति के लिए हानिकारक और इसलिए सच्चे जीवन के लिए घातक होगा।

"जीवन कलह को छोड़कर यदि हम मित्र-शत्रु, प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम-धर्म के आदेश के अनुसार रहने लग जायं, तो क्या मनुष्य जाति नष्ट हो जायगी ? प्रेम-धर्म के पालन से मनुष्य-जाति के विनाश का सन्देह करने के समान ही ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य-जाति का विनाश होने की शंका करना है[१]।

"पूर्णता को प्राप्त करने की कुंजी है ब्रह्मचर्य। "......यदि मनुष्य सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने लग जाय, तो मानव-जाति का जीवनोद्देश्य ही सफल हो जाय। फिर मनुष्य के लिए पैदा होने और जीने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाय[२]।"

महात्मा गांधी के सामने प्रश्न आया—"आप तो ब्रह्मचर्य का सबके लिए ही आग्रह करते होंगे?" उन्होंने उत्तर दिया—"हाँ, सबके लिए।" प्रश्नकर्ता ने कहा—"तब तो संसार मिट जायगा ?" महात्माजी बोले—"नहीं, संसार नहीं मिटेगा। ऐसी आदर्श स्थिति हो जाय तो सब मोक्षेच्छुओं का ही समाज होकर रहे—मनुष्य मनुष्य न रहें, पर अतिमानव होकर खड़े रहें[३]।"

१५-क्या ब्रह्मचर्य एक आदर्श है ?

संत टॉल्स्टॉय सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य को एक आदर्श और शरीरधारी द्वारा अप्राप्य मानते हैं। उनके विचार इस प्रकार हैं :

"इस बात को कभी न भूल कि तू न तो कभी पूर्णतः ब्रह्मचारी रहा है और न रह सकता है। हाँ, तो उसके नजदीक जरूर पहुँच सकता है और इस प्रयत्न में कभी निराशा न होनी चाहिए[४]।

"सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य को नहीं; पर इसके अधिक-से-अधिक नजदीक पहुँचने को ध्येय मानकर अपना बढ़ना शुरू कीजिए। सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य तो एक आदर्श सृष्टि की वस्तु है। सच-सच कहा जाय तो शरीरधारी मनुष्य उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो केवल उस तरफ बढ़ने का प्रयत्न मात्र कर सकता है क्योंकि वह ब्रह्मचारी नहीं, विकारपूर्ण है। यदि आदमी विकारपूर्ण नहीं होता, तो उसके लिए न तो ब्रह्मचर्य के आदर्श की और न उसकी कल्पना ही की आवश्यकता होती। गलती तो यह है कि मनुष्य अपने सामने सम्पूर्ण (बाह्य—शारीरिक) ब्रह्मचर्य का आदर्श रखता है, न कि उसके लिए प्रयत्न करने का। प्रयत्न में एक बात गृहीत समझी जाती है—यह कि हर हालत में और हमेशा ब्रह्मचर्य विकारवशता से श्रेष्ठ है। सदा अधिकाधिक पवित्रता को प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है[५]।"

१—स्त्री और पुरुष पृ० ११ से १३ तक का सार
२—वही पृ० ४७
३—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ८२
४—स्त्री और पुरुष पृ० ४६
५—वही पृ० ४६-७

महात्मा गांधी ने कहा है :

"ब्रह्मचर्य का मानी है सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार। पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी अशक्य नहीं। पर यह आदर्श स्थिति है जिस तक विरले ही पहुँच पाते हैं। इसे ज्यामिति की रेखा कह सकते हैं, जिसका अस्तित्व केवल कल्पना में होता है, दृश्य रूप में कभी खींची ही नहीं जा सकती। फिर भी रेखागणित की यह एक महत्वपूर्ण परिभाषा है जिससे बड़े-बड़े नतीजे निकलते हैं। इसी तरह हो सकता है, पूर्ण ब्रह्मचारी भी केवल कल्पना जगत में ही मिल सकता हो। फिर भी अगर हम इस आदर्श को सदा अपने मानस-नेत्रों के सामने न रखें तो हमारी दशा बिना पतवार की नाव जैसी हो जायगी। ज्यों-ज्यों हम इस काल्पनिक स्थिति के पास पहुँचेंगे त्यों-त्यों अधिकाधिक पूर्णता प्राप्त करते जायंगे[1]।"

ऐसा लगता है जैसे संत टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी एक ही विचार के हों पर दोनों में अन्तर है।

महात्मा गांधी आदर्श ब्रह्मचर्य को प्राप्य और उसका अखण्ड पालन संभव मानते थे और इस बात में संत टॉल्स्टॉय से भिन्न मत रखते थे, यह बात निम्न प्रसंग से स्पष्ट होगी। एक बार उनसे पूछा गया—"ब्रह्मचर्य के मानी क्या है? क्या उसका पूर्ण पालन शक्य है? और है तो क्या आप उसका पालन करते हैं?" उसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया था—"ब्रह्मचर्य का पूरा और सच्चा अर्थ है—ब्रह्मचर्य की खोज। ब्रह्म सब में वसता है, इसलिए यह खोज अन्तर्ध्यान और उससे उपजनेवाले अन्तर्ज्ञान के सहारे होती है। अन्तर्ज्ञान इन्द्रियों के सम्पूर्ण संयम के बिना अशक्य है अतः मन, वाणी और काया से संपूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है। ऐसे ब्रह्मचर्य का संपूर्ण पालनकरनेवाला स्त्री या पुरुष नितान्त निर्विकार होता है।......ऐसा ब्रह्मचर्य कायमनोवाक्य से अखण्ड पालन हो सकनेवाली बात है, इस विषय में मुझे तिल भर भी शंका नहीं; इस संपूर्ण ब्रह्मचर्य की स्थिति को मैं अभी नहीं पहुँच सका हूँ। और इस देह में ही वह स्थिति प्राप्त करने की आशा भी मैंने नहीं छोड़ी है[2]।"

जैन धर्म के अनुसार संसारी जीव भिन्न-भिन्न प्रकृति (स्वभाव) के कर्मों से बंधा हुआ है। इनमें से एक कर्म मोहनीय कहलाता है। जिस तरह मदिरा-पान से मनुष्य अपने भान को भूल जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के कारण यह मतवाला—मूढ़ होता है। इस मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय शुद्ध दृष्टि—श्रद्धा को आवरित करता है, उसे प्रकट नहीं होने देता। इससे धर्म में श्रद्धा—विश्वास—रुचि उत्पन्न नहीं होती। चारित्र मोहनीय का उदय चारित्र उत्पन्न नहीं होने देता। वह धर्म को जीवन में नहीं उतरने देता। इसके उदय से कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद (पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा), पुरुष वेद (स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा) और नपुंसक वेद (स्त्री-पुरुष दोनों के साथ भोग की अभिलाषा) उत्पन्न होते हैं। जैन धर्म मानता है कि इस मोहनीय कर्म का सर्वक्षय मनुष्य-जीवन में संभव है। इसका अर्थ है दृष्टि और चारित्र की परिपूर्णता का होना। इस स्थिति में ब्रह्मचर्य आदि चारित्र गुण पूर्ण शुद्धता के साथ प्रकट होते हैं। इस तरह जैन धर्म ब्रह्मचर्य का उसके सम्पूर्ण रूप में पालन संभव मानता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र (संवरद्वार च० सं०) में कहा है —"ब्रह्मचर्य सरल साधु पुरुषों द्वारा आचरित है (अज्जवसाहुजणाचरितं); श्रेष्ठ यतियों द्वारा सुरक्षित और सु-आचरित है (जतिवरसारक्खितं सुचरियं); महा पुरुष, धीर, वीर, धार्मिक और धृतिवान् पुरुषों ने इसका सेवन किया है (महापुरिसधीरसूरधम्मियधितिमंताण य), भव्य जनों से अनुचीर्ण है (भव्वजणाणुचिन्नं)—अतः जब तक मनुष्य श्वेत अस्थियों से संयुक्त है, उसे सर्वथा विशुद्ध ब्रह्मचर्य का यावज्जीवन के लिए पालन करना चाहिए।" इस महाव्रत को इसकी भावना के साथ पालन करनेवाले के द्वारा यह ब्रह्मचर्य स्पर्शित, पालित, शोधित, तीर्ण, कीर्तित, आज्ञानुसार अनुपालित होता है—ऐसा वहाँ कहा गया है। यह सर्व मैथुन-विरमण रूप ब्रह्मचर्य की बात है। सम्पूर्ण संयम रूप ब्रह्मचर्य को भी वह प्राप्य और उसका पालन संभव मानता है—"क्लीब के लिए यह अप्राप्य है। जो तृष्णा रहित है उसके लिए दुष्कर नहीं"—'इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचिवि दुक्करं'[3]।

ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य केवल काल्पनिक आदर्श नहीं, वह सम्पूर्ण साध्य है। अतीत में लोगों ने इसका पालन किया है, वर्तमान में करते हैं और भविष्य में भी करेंगे।

१—अनीति की राह पर पृ० ५०

२—वही पृ० ५६

३—उत्तराध्ययन १९.४४

१६-ब्रह्मचर्य स्वतंत्र सिद्धान्त है या उपसिद्धान्त

गांधीजी लिखते हैं—"पतंजलि भगवान के पाँच महाव्रतों में से''''''चार तो सत्य में छिपे हुए हैं।''''''सब व्रत सत्य के पालन में से निकाले जा सकते हैं। तो भी एक सबसे बड़े सिद्धान्त को समझने के लिए अनेक उप-सिद्धान्त जानने पड़ते हैं[१]।" "वास्तव में देखने पर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्य व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसके लिए उनका अस्तित्व है[२]।"

उन्होंने अन्यत्र कहा है—"अहिंसा को हम साधन मानें, सत्य को साध्य।''''''हम एक ही मंत्र जपें—जो सत्य है वही है। वही एक परमेश्वर है।''''''उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग, एक ही साधन, अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ूंगा[३]।"

उन्होंने फिर कहा है—"अहिंसा के पालन को लें उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है।''''''अहिंसा व्रत का पालन करने वाले से विवाह नहीं बन सकता; विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या[४]!" इसी तरह "जिस मनुष्य ने सत्य को वरा है उसकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है[५]।"

महात्मा गांधी के कहने के अनुसार "परम सत्य अकेला खड़ा रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा एक साधन है[६]।" अन्य व्रत अहिंसा के रक्षक हैं और इसके द्वारा सत्य के गर्भ में रहते हैं।

उनके कहने का तात्पर्य है—'सत्य की उपासना करो'—यही विशाल सिद्धांत है। इस सिद्धांत में से अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों की उत्पत्ति है।

संत टॉल्स्टॉय इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखते हैं:

"ईसा ने कहा है—"अपने स्वर्गस्थ पिता के समान पूर्ण बन"—यह आदर्श है।

"जिस प्रकार पथिक को रास्ता बताने के दो मार्ग होते हैं, उसी प्रकार सत्य की शोध करनेवाले के लिए भी नैतिक जीवन का मार्ग दिखानेवाले केवल दो ही उपाय हैं। एक उपाय के द्वारा पथिक को उसके रास्ते में मिलनेवाले चिन्हों और निशानों की सूचना दी जाती है, जिनको देख कर वह अपना रास्ता ढूंढ़ता चला जाये, और दूसरे के द्वारा उसको अपने पासवाले दिशा-दर्शक कम्पास की भाषा में रास्ता समझाया जाता है।

"नैतिक मार्ग-दर्शक पहले उपाय के अनुसार मनुष्य को बाहरी नियम बताते हैं। उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इसका साधारण ज्ञान दिया जाता है—मसलन सत्य का पालन कर, चोरी मत कर, किसी प्राणी की हत्या न कर, इत्यादि इत्यादि। धर्म के ये बाहरी नीति-नियम हैं और किसी-न-किसी रूप में ये प्रत्येक धर्म में पाये जाते हैं।

"मनुष्य को नीति की ओर ले जाने का दूसरा उपाय वह है, जो उस पूर्णता की ओर इशारा करता है, जिसे आदमी कभी प्राप्त ही नहीं कर सकता। हां, उसके 'हृदय' में यह आकांक्षा जरूर रहती है कि वह इस पूर्णता को प्राप्त करे। एक आदर्श बता दिया जाता है, उसको देख कर मनुष्य अपनी कमजोरी या अपूर्णता का अन्दाज लगा सकता है और उसे दूर करने का प्रयत्न करता रहता है।

"बाह्य नियमों का जो मनुष्य पालन करता है, वह उस मनुष्य के समान है, जो खम्भे पर लगी हुई लालटेन के प्रकाश में खड़ा हो। वह प्रकाश में खड़ा है, प्रकाश उसके चारों ओर है, पर उसके आगे बढ़ने के लिए मार्ग नहीं है। उपदेशों पर जिसका विश्वास है, वह उस मनुष्य के समान है, जिसके आगे-आगे लालटेन चलती है। प्रकाश हमेशा उसके सामने ही रहता है और उसे बराबर अपना अनुसरण करते हुये आगे बढ़ते जाने की प्रेरणा करता रहता है। वह बराबर नये-नये दृश्यों को आकर्षित करता रहता है।...एक सीढ़ी पर चढ़ते ही दूसरी पर पैर रखने की

१—ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग) पृ० ५३

२—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ४

३—सत्य महाव्रत अहिंसा पृ० ८

४—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ४

५—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ४

६—सत्य महाव्रत पृ० १६-२०

आवश्यकता हो जाती है, दूसरी पर पहुँचते ही तीसरी सीढ़ी दीखने लग जाती है। इस तरह वह आगे ही आगे बढ़ता जाता है। उसकी प्रगति का कदम अनन्त है[1]।"

जैन धर्म के अनुसार मोक्ष साध्य है और अहिंसा उसका साधन। सर्व महाव्रत अहिंसा को पाने के लिए हैं और अहिंसा का महाव्रत मोक्ष को पाने के लिए। इस बात को आचार्यों ने इस रूप में रखा है :

"व्रत एक ही है। सब जिनवरों ने एक ही व्रत निर्दिष्ट किया है और वह है प्राणातिपात विरमण व्रत। अन्य सब व्रत उसकी रक्षा के लिए हैं[2]।" "अहिंसा ही मुख्य है। सत्यादि के पालन का विधान उसके संरक्षण के लिए है[3]।" "अहिंसा धान की तरह है। सत्यादि व्रत उसके संरक्षण के लिए बाड़ों की तरह हैं[4]।" "अहिंसा जल है। अन्य व्रत उसके बाँध की तरह[5]।"

इस तरह जैन धर्म के अनुसार ब्रह्मचर्य अहिंसा से निकलता है और उसमें गर्भित है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में सत्य को ईश्वर कहा है[6]। वहीं कहा है—"सत्य ही लोक में सारभूत है[7]।" आचाराङ्ग सूत्र में कहा है : "पुरुष ! सत्य की आराधना कर। सत्य की आज्ञा में उपस्थित मेधावी मौत को तर जाता है[8]।" आचाराङ्ग में ही कहा है—"सत्य में धृति कर[9]।"

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—"आत्मा के द्वारा सत्य की गवेषणा कर[10]।" यह सत्य क्या है ? यह सत्य कोई वाचा सत्य नहीं। यह सत्य कोई ऐसा साध्य है जो सब से इष्ट है—आत्मा का सब से बड़ा श्रेयस् है। यह और कुछ नहीं, आत्मा का शुद्ध स्वरूप अथवा मोक्ष है।

सत्य की खोज के उपाय को बताते हुए कहा है—"सर्व भूतों से मैत्री कर[11]।" मैत्री का अर्थ है अद्रोह-भाव याने हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत होना। इस तरह सत्य—आत्म-स्वरूप—मोक्ष की गवेषणा अहिंसा आदि से होती है। सत्य—मोक्ष साध्य है और अहिंसा और उसके उपसिद्धांत ब्रह्मचर्यादि साधन हैं।

इस तरह जैन दृष्टि से ब्रह्मचर्य अहिंसा के गर्भ में समाता है। उसकी पुष्टि के द्वारा वह मोक्ष का द्वार है।

१—स्त्री और पुरुष पृ० १३-१५ का सार

२—एक्कं चिय एक्कवयं निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
पाणाइवाय विरमण—सव्वासत्तस्स रक्खट्ठा ॥

३—अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
एतत्संरक्षार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥

४—अहिंसा शस्य-संरक्षणे वृतिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम् ।

५—अहिंसा पयसः पालि—भूतान्यन्यव्रतानि यत् ॥

६—द्वितीय संवर द्वार :
सच्चं भगवं

७—वही :
जं तं लोगम्मि सारभूयं

८—आचाराङ्ग १।३.३.११२ :
पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ

९—वही १।२।१.७
सच्चम्मि धिइं कुव्वहा

१०—उत्तराध्ययन ६.२ :
अप्पणा सच्चमेसेज्जा

११—(क) उत्तराध्ययन ६.२ :
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए

(ख) सूत्रकृताङ्ग १.१५.३ :
सया सच्चेण संपन्ने, मेत्तिं भूएहिं कप्पए

१७-ब्रह्मचर्य की दो स्तुतियाँ

(क) वैदिक स्तुति

अथर्ववेद (११।५) में निम्न सूक्त मिलता है :

''आकाश-पृथ्वी दोनों लोकों को तप से व्याप्त करनेवाले ब्रह्मचारी के प्रति सब देवता समान मनवाले होते हैं। वह पृथ्वी तथा आकाश का पोषण करता है और अपने आचार्य का भी पोषण करता है ॥ १ ॥

''ब्रह्मचारी के रक्षार्थ पितर, देवता, इन्द्रादि उसके अनुगत होते हैं। विश्वावसु आदि भी उसके पीछे चलते हैं। तेंतीस देवता, इनकी विभूति रूप तीन सौ तीन देवता और छः सहस्र देवता, इन सबका ब्रह्मचारी अपने तप द्वारा पोषण करता है ॥ २ ॥

''उपनयन करनेवाला आचार्य, विद्यामय शरीर के गर्भ में उसे स्थापित करता हुआ तीन रात तक ब्रह्मचारी को अपने उदर में रखता है, चौथे दिन देवगण उस विद्या-देह से उत्पन्न ब्रह्मचारी के सम्मुख आते हैं ॥ ३ ॥

''पृथ्वी इस ब्रह्मचारी की प्रथम समिधा है और आकाश द्वितीय समिधा। आकाश-पृथ्वी के मध्य अग्नि में स्थापित हुई समिधा से ब्रह्मचारी संसार को संतुष्ट करता है। इस प्रकार समिधा, मेखला, मौञ्जी, श्रम, इन्द्रियनिग्रहात्मक खेद और देह को संताप देनेवाले अन्य नियमों को पालता हुआ पृथिव्यादि लोकों का पोषण करता है ॥ ४ ॥

''ब्रह्मचारी ब्रह्म से भी पहले प्रकट हुआ, वह तेजोमय रूप धारण कर तप से युक्त हुआ। उस ब्रह्मचारी रूप से तपते हुए ब्रह्म द्वारा श्रेष्ठ वेदात्मक ब्रह्म प्रकट हुआ और उसके द्वारा प्रतिपादित अग्नि आदि देवता भी अपने अमृतत्व आदि गुणों के सहित प्रकट हुए ॥५॥

''प्रातः सायं अग्नि में रखी समिधा और उससे उत्पन्न हुए तेज से तेजस्वी, मृग चर्मधारी ब्रह्मचारी अपने भिक्षादि नियमों का पालन करता है, वह शीघ्र ही पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र पर पहुँचता है और सब लोकों को अपने समक्ष करता है ॥६॥

''ब्रह्मचर्य से महिमा युक्त ब्रह्मचारी ब्राह्मण जाति को उत्पन्न करता है। वही गंगा आदि नदियों को प्रकट करता है। स्वर्ग, प्रजापति, परमेष्ठी और विराट् को उत्पन्न करता है। वह अमरणशील ब्रह्म की सत्-रज-तम गुण से युक्त प्रकृति में गर्भ रूप होकर सब वर्णन किये हुए प्राणियों को प्रकट करता है और इन्द्र होकर राक्षसों का नाश करता है ॥७॥

“यह आकाश और पृथिवी विशाल हैं। इन पृथिवी और आकाश के उत्पादक आचार्य की भी ब्रह्मचारी रक्षा करता है। सब देवता ऐसे ब्रह्मचारी पर कृपा रखते हैं ॥८॥

''पृथिवी और आकाश को ब्रह्मचारी ने भिक्षा रूप में ग्रहण किया, फिर उसने उन आकाश पृथिवी को समिधा बनाकर अग्नि की आराधना की। संसार के सब प्राणी उन्हीं आकाश-पृथिवी के आश्रय में रहते हैं ॥९॥

''पृथिवी लोक में आचार्य के हृदय रूप गुहा में एक वेदात्मक निधि है। दूसरी देवात्मक निधि उपरि स्थान में है। ब्रह्मचारी इन निधियों की अपने तप से रक्षा करता है। वेदविद् ब्राह्मण शब्द और उसके अर्थ से सम्वन्वित दोनों निधियों को ब्रह्म रूप करता है ॥१०॥

''उदय न हुआ सूर्य रूप अग्नि पृथ्वी से नीचे रहते हैं। पार्थिव अग्नि पृथ्वी पर रहते हैं। सूर्योदय होने पर आकाश पृथ्वी के मध्य यह दोनों अग्नियाँ संयुक्त होती हैं। दोनों की किरणें संयुक्त होकर दृढ़ होती हुईं आकाश-पृथिवी की आश्रित होती हैं। इन दोनों अग्नियों से सम्पन्न ब्रह्मचारी अपने तेज से अग्नि देवता होता है ॥११॥

''जल पूर्ण मेघ को प्राप्त हुये वरुण देव अपने वीर्य को पृथ्वी में सींचते हैं। ब्रह्मचारी अपने तेज से उस वरुणात्मक वीर्य को ऊँचे प्रदेश में सींचता है। उससे चारों दिशायें समृद्ध होती हैं ॥१२॥

''ब्रह्मचारी, पार्थिव अग्नि में चन्द्रमा, सूर्य, वायु और जल में समिधायें डालता है। इन अग्नि आदि का तेज पृथक्-पृथक् रूप से अन्तरिक्ष में रहता है। ब्रह्मचारी द्वारा समिद्ध अग्नि वर्षा, जल, घृत, प्रजा आदि कार्य को करते हैं ॥१३॥

''आचार्य ही मृत्यु है, वही वरुण है, वही सोम है। दुग्ध, व्रीहि; यव और औषधियाँ आचार्य की कृपा से ही प्राप्त होती हैं। अथवा यह स्वयं ही आचार्य हो गए हैं ॥१४॥

"आचार्य रूप से वरुण ने जिस जल को अपने पास रखा, वही वरुण प्रजापति से जो फल चाहते थे, वही मित्र ने ब्रह्मचारी होकर आचार्य को दक्षिणारूप से दिया ॥१५॥

"विद्या का उपदेश देकर आचार्य ब्रह्मचारीरूप मे प्रकट हुये हैं। वही तप से महिमावान् हुए, प्रजापति बने। प्रजापति से विराट् होते हुये वही विश्व के स्रष्टा परमात्मा हो गये ॥१६॥

"वेद को ब्रह्म कहते हैं। वेदाध्ययन के लिये आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है। उसी ब्रह्मचर्य के तप से राजा अपने राज्य को पुष्ट करता है और आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाने की इच्छा करता है ॥१७॥

"जिसका विवाह नहीं हुआ है ऐसी, स्त्री ब्रह्मचर्य से ही श्रेष्ठ पति प्राप्त करती है। अनड्वान् आदि भी ब्रह्मचर्य से ही श्रेष्ठ स्वामी को प्राप्त करते हैं। अश्व ब्रह्मचर्य से ही भक्षण योग्य तृणों की इच्छा करता है ॥१८॥

"अग्नि आदि देवताओं ने ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को दूर किया। ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र ने देवताओं को स्वर्ग प्राप्त कराया ॥१९॥

"व्रीहि, जौ आदि औषधियाँ, वनौषधियाँ, दिन, रात्रि, चराचरात्मक विश्व, षट् ऋतु और द्वादश मासवाला वर्ष ब्रह्मचर्य की महिमा से ही गतिमान हैं ॥२०॥

"आकाश के प्राणी, पृथ्वी के देहधारी पशु आदि, पंखवाले और बिना पंखवाले ये सभी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही उत्पन्न हुये हैं ॥२१॥

"प्रजापति के बनाये हुये देवता, मनुष्य आदि सब प्राणों को धारण-पोषण करते हैं। आचार्य के मुख से निकला वेदात्मक ब्रह्म ही ब्रह्मचारी में स्थित होता हुआ सब प्राणियों की रक्षा करता है ॥२२॥

"यह परब्रह्म देवाताओं से परोक्ष नहीं है। यह अपने सच्चिदानन्द रूप से दीप्तिमान रहता है, उससे श्रेष्ठ कोई नही है, उन्ही से ब्राह्मण का सर्व श्रेष्ठ धन वेद प्रकट हुआ है, और उससे प्रतिपाद्य देवता भी अमृतत्व सहित प्रकट हुये हैं ॥२३॥

"ब्रह्मचारी वेदात्मक ब्रह्म को धारण करता और सब प्राणियों के प्राणापानों को प्रकट करता है। फिर व्यान नामक वायु को, शब्दात्मिका वाणी को अन्तःकरण और उसके आवास रूप हृदय को, वेदात्मक ब्रह्म और विद्यात्मिका बुद्धि को वही ब्रह्मचारी उत्पन्न करता है ॥२४॥

"हे ब्रह्मचारिन्! तुम हम स्तुति करनेवालों में रूप-ग्राहक नेत्र, शब्द-ग्राहक श्रोत्र, यश और कीर्ति की स्थापना करो। अन्न, वीर्य, रक्त, उदर आदि की कल्पना करता हुआ ब्रह्मचारी तप में लीन रहता और स्नान से सदा पवित्र रहता है तथा वह अपने तेज से दमकता है ॥२५,२६॥

श्री काने के अनुसार इस सूक्त में ब्रह्मचारी (वेद-विद्यार्थी) और ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन है[1]।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री लिखते हैं—"स्पष्ट प्रतीत होता है कि कम-से-कम मंत्र-काल में चारों आश्रमों की व्यवस्था का प्रारंभ नहीं हुआ था। ऐसा होने पर भी ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—इन दो आश्रमों के सम्बन्ध में वेद-मन्त्रों में जो उत्कृष्ट और भव्य विचार प्रकट किये हैं, उनको हम बिना किसी अतिशयोक्ति के भारतीय संस्कृति की स्थायी एवं अमूल्य संपत्ति कहते हैं। वेदों के अनेकानेक मंत्रों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ का बड़ा हृदय-स्पर्शी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११।५) में ब्रह्मचर्य की महिमा का ही वर्णन है[2]।"

इस सूक्त के २४, ४ और १७ वें मंत्र पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है—"यहाँ स्पष्ट शब्दों मे राष्ट्र की चतुरस्र उन्नति के लिए और मानवजीवन के विभिन्न कर्तव्यों के सफलता पूर्वक निर्वाह के लिए श्रम और तपस्या द्वारा विद्या-प्राप्ति (ब्रह्मचर्य) की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है……श्रम और तपस्या पर निर्भर ब्रह्मचर्य-आश्रम की उद्भावना वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का निसन्देह एक समुज्ज्वल प्रमाण है[3]।"

श्री काने और शास्त्री के उल्लिखित मतों के अनुसार ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है—वेदाध्ययन, ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ है—वेद-पाठी और ब्रह्मचर्य आश्रम का अर्थ है—वेदाध्ययन के लिए आचार्य-कुल में वास करना। इससे इतना स्पष्ट है कि अथर्ववेद के उक्त सूक्त में संयम रूप ब्रह्मचर्य का नही, पर वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन है।

१—History of Dharmasastra Vol. II Part I P. 270
२—भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिकधारा) पृ० १३०
३—वही

(ख) जैन-स्तुति

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य की महिमा का बड़ा हृदय-ग्राहक वर्णन जैनागम "प्रश्न व्याकरण" में भी है। वहाँ ब्रह्मचर्य को ३२ उपमाओं से उपमित किया गया है और उसे सब व्रतों में उत्तम कहा गया है। यह अंश पृ० ७ पर दिया गया है। इसके अतिरिक्त भी उस आगम में ब्रह्मचर्य का बड़ा सुन्दर गुण-वर्णन है। इसका कुछ अंश उद्धृत किया जा चुका है (देखिए पृ० ६ टि० ३)। यहाँ पूरा अवतरण दिया जाता है :

"ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है। यम और नियम रूप प्रधान गुणों से युक्त है। हिमवान् पर्वत से महान् और तेजस्वी है।

"ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने से मनुष्य का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और स्थिर हो जाता है।

"ब्रह्मचर्य सरल साधुजनों द्वारा आचरित है, मोक्ष का मार्ग है, निर्मल सिद्ध-गति का स्थान है।

"यह शाश्वत, अव्याबाध और पुनर्भव को रोकनेवाला है। यह प्रशस्त, सौम्य, शुभ और शिव है। यह अचल है, अक्षयकारी है, यति-वरों द्वारा सुरक्षित है, सु-आचरित एवं सुभाषित है।

"मुनिवरों ने, महापुरुषों ने, धीर वीरों ने, धर्मात्माओं ने, धृतिमानों ने ब्रह्मचर्य का सदा पालन किया है। यह भव्य है। भव्यजनों ने इसका आचरण किया है।

"यह शंका रहित है, भय रहित है, तुष रहित है, खेद के कारणों से रहित है, निर्लेप है।

"यह समाधि का घर है, निश्चल नियम है, तप-संयम का तना है; पाँचों महाव्रतों में अत्यन्त सुरक्षित है। समिति गुप्ति से युक्त है। उत्तम ध्यान की रक्षा के लिए उत्तम कपाटों के समान है, शुभ ध्यान की रक्षा के लिए अर्गला के समान है। दुर्गति के मार्ग को रोकने तथा आच्छादित करनेवाला है, सद्गति का पथ प्रदर्शक है और लोक में उत्तम है।

"यह व्रत पद्मसरोवर और तालाब की पाल के समान है। महा शकट के आरों की नाभि के समान है। अत्यन्त विस्तारवाले वृक्ष के स्कंध के समान है। किसी विशाल नगर के प्राकार के किवाड़ों की अर्गला के समान है। रस्सी से बंधे हुए इन्द्रध्वजा के समान है। तथा अनेक विशुद्ध गुणों से युक्त है।

"ब्रह्मचर्य का भङ्ग होने पर सहसा सभी व्रतों का तत्काल भंग हो जाता है। सभी व्रत, विनय, शील, तप, नियम, गुण आदि दही के समान मथित हो जाते हैं, चूर-चूर हो जाते हैं; बाधित हो जाते हैं, पर्वत के शिखर से गिरे हुए पत्थर के समान भ्रष्ट हो जाते हैं, खण्डित हो जाते हैं, उनका विध्वंस हो जाता है, विनाश हो जाता है।

"ब्रह्मचर्य पाँच महाव्रतों का मूल है, कषाय रहित साधुजनों ने भावपूर्वक इसका आचरण किया है। वैर की शान्ति ब्रह्मचर्य का फल है। महा समुद्र के समान संसार से पार होने के लिए घाट रूप है।

"तीर्थङ्करों द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रदर्शित मार्ग है। नरक गति और तिर्यञ्च गति से बचने का मार्ग है, समस्त पावन वस्तुओं का सार है। मोक्ष और स्वर्ग का द्वार खोलनेवाला है।

"ब्रह्मचर्य देवेन्द्र और नरेन्द्रों के नमस्यों का भी नमस्य है। समस्त संसार में उत्तम मङ्गलों का मार्ग है। उसको कोई अभिभव नहीं कर सकता, वह श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति का अद्वितीय साधन है और मोक्ष मार्ग के हेतुओं में शिरोमणि है।

"ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन करनेवाला ही सुब्राह्मण है, सुश्रमण, सुसाधु है। जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध रूप से पालन करता है वही ऋषि है, वही मुनि है, वही संयमी और वही भिक्षु है।

"यह परलोक में हितकारी है, आगामी काल में कल्याणकारी है, निर्मल है, न्याययुक्त है, सरल है, श्रेष्ठ है, समस्त दुःखों और पापों का शान्त करनेवाला है[1]।"

अथर्ववेद के सूक्त में वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य और वेदाभ्यासी ब्रह्मचारी की महिमा है और जैन आगम में संयम रूप ब्रह्मचर्य और उसके पालन करनेवाले ब्रह्मचारी की महिमा।

पहली स्तुति जटिल और दुरूह है और यदि वह वास्तव में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी की स्तुति है तो अतिरंजित और जीवन की वास्तविकता से दूर सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है। दूसरी स्तुति अनुभव की वाणी है और उसमें बताये ब्रह्मचर्य का स्थान और उसकी महिमा जग विदित और सर्वमान्य है।

१—प्रश्नव्याकरण २.४

१७-ब्रह्मचर्य की बाड़ें

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपायों को आगम में गुप्तियाँ अथवा समाधि के स्थान कहा गया है[1]। इन्हें साधारणतः ब्रह्मचर्य की बाड़ें भी कहा जाता है। इन उपायों की संख्या श्वेताम्बर आगमों में नौ अथवा दस दोनों ही प्राप्त हैं[2]।

स्थानाङ्ग के अनुसार ये नियम इस प्रकार हैं :

१—ब्रह्मचारी विविक्त शयनासन का सेवन करनेवाला हो। स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त स्थान में न रहे।

२—स्त्री-कथा न कहे।

३—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे।

४—स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों का अवलोकन न करे।

५—सरस आहार का भोजन न करे।

६—जल-भोजन का अतिमात्रा में सेवन न करे।

७—पूर्व क्रीड़ा का स्मरण न करे।

८—वह शब्दानुपाती, रूपानुपाती और श्लोकानुपाती न हो।

९—सात और सुख में प्रतिबद्ध न हो।

उत्तराध्ययन और दशवैकालिक के अनुसार उनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है :

१—ब्रह्मचारी स्त्री-पशु-नपुंसक सहित मकान का सेवन न करे।

२—स्त्री-कथा न कहे।

३—स्त्री-सहित आसन अथवा शय्या पर न बैठे।

४—स्त्री की मनोहर इन्द्रियों पर दृष्टिपात न करे।

५—स्त्री के हास्य, विलास आदि के शब्दों को न सुने।

६—पूर्व क्रीड़ाओं का स्मरण न करे।

७—सरस आहार का भोजन न करे।

८—अति मात्रा में जल-भोजन का सेवन न करे।

९—विभूषा—शृंगार न करे।

१०—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शानुपाती न हो।

प्रथम निरूपण में स्त्री के हास्य, विलास, कूजन आदि को न सुनने रूप पाँचवें समाधि-स्थान का उल्लेख नहीं है।

दिगम्बर विद्वान् पण्डित आशाधरजी ने ब्रह्मचर्य के दस नियमों को निम्न रूप में उपस्थित किया[3] :

१—मा रूपादिरसं पिपासु सुदृशां—ब्रह्मचारी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द के रसों को पान करने की इच्छा न करे।

२—वस्ति मोक्षं मा कृथा—वह ऐसे कार्य न करे जिससे लिंग-विकार होने की सम्भावना हो।

३—वृष्यं मा भज—ब्रह्मचारी वृष्य-आहार—कामोद्दीपक आहार का सेवन न करे।

४—स्त्री शयनादिकं च मा भज—स्त्रियों से सेवित शयन, असनादि का उपयोग न करे।

५—वराङ्गे दृशं मा दा—स्त्रियों के अङ्गों को न देखे।

६—स्त्री मा सत्कुरु—स्त्री का सत्कार न करे।

७—मा च संस्कुरु—शरीर-संस्कार न करे।

१—देखिए पृ० १२१,१२६

२—वही

३—अनगारधर्मामृतम् ४.६१

८—रत वृत्तं मा स्मर—पूर्व सेवित का स्मरण न करे।

९—वत्स्यद् मा इच्छ—भविष्य में क्रीड़ा करने का न सोचे।

१०—इष्ट विषयान् मा जुजस्व—इष्ट रूपादि विषयों में मन को युक्त न करे।

इन नियमों में १, ३, ४, ५, ७, ८ तो वे ही हैं, जो श्वेताम्बर आगमों में हैं। अन्य भिन्न हैं।

वेद अथवा उपनिषदों में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे शृंखलाबद्ध नियमों का उल्लेख नहीं मिलता। स्मृति में कहा है—"स्मरण, क्रीड़ा, देखना, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया—इस प्रकार मैथुन आठ प्रकार के हैं। इन आठ प्रकार के मैथुन से अलग हो ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए[१]।"

स्वामीजी ने इस कृति में उत्तराध्ययन के दस समाधि-स्थानों के अनुक्रम से बाड़ों का विवेचन किया है।

१८-मूल कृति का विषय :

अब हम मूल कृति के विषय पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

पहली ढाल में मङ्गलाचरण के रूप में अहिंसा की वेदी पर सर्वस्व त्याग कर विवाह के मंडप से लौट कर आजीवन ब्रह्मचर्यवास करनेवाले बाइसवें जैन तीर्थंकर अरिष्टनेमि भगवान की स्तुति की गई है। ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में वे जगद्गुरु थे क्योंकि उन्होंने पूर्ण युवावस्था में विवाह करने से इन्कार किया। इनका जीवन-वृत्त परिशिष्ट-क कथा-१ में दिया गया है।

राजिमती और अरिष्टनेमि की कथा इतनी रसपूर्ण है कि उसने अनेक काव्य-कृतियों को जन्म दिया है। अपने विवाह के निमित्त से होने वाली पशुओं की आसन्न हत्या के विरोध और असहयोग में नेमिनाथ ने आजीवन विवाह न करने का व्रत लिया, यह इतिहास के पन्नों में अहिंसा के लिए एक महान बलिदान की कथा है। विवाह-सम्पन्न होने के पूर्व ही नेमिनाथ प्रव्रज्या के लिए निकल पड़े थे अतः राजिमती कुमारी ही थी फिर भी उस महाधन्या कुमारी ने पाणि-ग्रहण का विचार तक नहीं किया और स्वयं भी ब्रह्मचर्यवास में स्थित हुई। इतना ही नहीं अपने प्रति मोह से विह्वल मुनि रथनेमि को साध्वी राजिमती ने एक बार ऐसा गंभीर उपदेश दिया कि उनका पुरुषार्थ पुनः जागृत हो गया और वे संयम में इतने दृढ़ हुए कि उसी भव में मोक्ष को प्राप्त हुए। गिरते पुरुषार्थ को इस प्रकार दृढ सम्बल देनेवाली नारियों में राजिमती का स्थान भी इतिहास के पन्नों में अद्वितीय है। उस समय का उनका उपदेश ठोकर खा कर गिरते हुए ब्रह्मचारी के लिए युग-युग में महान् प्रकाश-पुञ्ज का काम करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

मङ्गलाचरण के द्योतक दोहों के बाद ढाल में ब्रह्मचर्य की सुन्दर महिमा है। ब्रह्मचर्य को कल्पवृक्ष की उपमा देकर उसके सारे विस्तार को अनुपम ढंग से उपस्थित किया है।

महात्मा गांधी कहते हैं—"ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण पालन करनेवाला स्त्री या पुरुष नितान्त निर्विकार होता है। अतः ऐसे स्त्री-पुरुष ईश्वर के पास रहते हैं। वे ईश्वर तुल्य होते हैं[२]।...जो काम को जीत लेता है, वह संसार को जीत लेता है और संसार-सागर को तर जाता है[३]।" सन्त टॉल्स्टॉय ने लिखा है—"जितना ही तुम ब्रह्मचर्य के नजदीक जाओगे उतना ही अधिक परमात्मा की दृष्टि में प्यारे होगे और अपना अधिक कल्याण करोगे[४]।"

भगवान महावीर ने कहा था—"जो ब्रह्मचारी होते हैं वे, मोक्ष पहुँचने में सब से आगे होते हैं।" "जो काम से अभिभूत नहीं होते उन्हें मुक्त पुरुषों के समान कहा गया है। स्त्री-परित्याग के बाद ही मोक्ष के दर्शन सुलभ होते हैं[५]।" "विषयों में अनाकुल और सदा इन्द्रियों

१—दक्ष स्मृति ७.३२

२—अनीति की राह पर पृ० ४६

३—वही पृ० १३५

४—स्त्री और पुरुष पृ० १४३

५—देखिए पृ० ६

को वश में करनेवाला पुरुष अनुपम भावसन्धि—(कर्म-क्षय की मानसिक दशा) को प्राप्त करता है" (सूत्र० १।१५ : १२)। "उत्तम समाधि में अवस्थित ब्रह्मचारी इस संसार-सागर को उसी तरह तिर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्र को[१]।"

महात्मा गांधी और टाल्स्टॉय के विचार आगमिक विचारधारा से अद्भुत सामञ्जस्य रखते हैं।

आगम में ब्रह्मचर्य महापुरुष की गरिमा का माप दण्ड बना है। उदाहरणस्वरूप आगम में कहा है—"जैसे तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, उसी तरह महावीर लोगों में उत्तम श्रमण थे[२]।"

ब्रह्मचर्य की महिमा सभी धर्म-ग्रन्थों में पाई जाती है। उपनिषद् में कहा है: "जिसे क्षीणदोष सयमी देखते हैं, उस ज्योतिमय शुभ्र आत्मा को सत्य द्वारा, तप द्वारा, सच्चे ज्ञान द्वारा और ब्रह्मचर्य के नित्य सेवन द्वारा अन्तःकरण में देखा जा सकता है[३]।" अन्य उपनिषद् में कहा है: "जिसे 'यज्ञ' कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि जो ज्ञाता है, वह इसके द्वारा ही ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। जिसे 'इष्ट' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि इसके द्वारा खोज करके ही पुरुष आत्मा को प्राप्त करता है। जिसे 'सत् त्रायण' कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि उसके द्वारा ही वह सत्—आत्मा का त्राण प्राप्त करता है। जिसे 'मौन' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि इसके द्वारा ही आत्मा को जान कर पुरुष उसका मनन करता है[४]...।"

बुद्ध कहते हैं: "ब्रह्मचर्य बिना पानी का स्नान है[५]।"

पहली बाड़ (ढाल २) : विविक्त शयनासन

आगम में ब्रह्मचारी के शयन—वास-स्थान और आसन—उठने-बैठने के स्थान के सम्बन्ध में समुच्चय आज्ञा यह है कि जिस स्थान में मन विभ्रम को प्राप्त हो, व्रत के सम्पूर्ण रूप से या अंश रूप से भग होने की आशंका हो और आर्त एवं रौद्र ध्यान उत्पन्न होते हों, उस स्थान का पाप-भीरु ब्रह्मचारी वर्जन करे[६]। ब्रह्मचारी का शयन-आसन विविक्त—एकांत होना चाहिए। जहाँ स्त्री-पशु-नपुंसक बसते हों उस स्थान में उसे वास अथवा उठ-बैठ नहीं करनी चाहिए[७]।

स्वामीजी ने इस बाड़ का स्वरूप बतलाते हुए तीन बातें कही है:

(१) ब्रह्मचारी स्त्री आदि से शून्य एकांत में रात्रि-वास करे[८]।

(२) अकेली नारी की संगति न करे[९]।

(३) अकेली स्त्री के साथ आलाप-सलाप न करे; यहाँ तक कि उससे धर्म-कथा भी न कहे[१०]।

इस प्रकार पहली बाड़ में संसक्तवास, स्त्री-संगति और स्त्री के साथ एकान्त में आलाप-संलाप करने का वर्जन है।

१—देखिए पृ० ९-१०

२—सूत्र० १।६.२३:

तवेसु वा उत्तम बम्भचेरं लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते

३—मुंडकोपनिषद् ३.१.५:

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

४—छान्दोग्योपनिषद् ५.८: १-४

५—संयुक्तनिकाय १.८.६

६—पृ० १५ टि० ५

७—पृ० १५ टि० ३,४

८—ढाल २ दो० ५,८, गा० ३,४,५

९—ढाल २ दो० ६, गा० ३

१०—ढाल २ दो० ६

इस आगमिक आज्ञा का कारण संकुचित दृष्टि नहीं, परंतु पुरुष-स्त्री के स्वभाव का मनोवैज्ञानिक ज्ञान है। ज्ञानियों का ज्ञान कहता है—स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिए 'पंकभूग्राउ' पंकभूत—कादे के समान हैं[1]। स्त्री का शरीर पुरुष के लिए और पुरुष का शरीर स्त्री के लिए उसी प्रकार भय का स्थान है जिस प्रकार कुक्कुट के बच्चे के लिए बिल्ली[2]। जिस तरह अग्नि के पास रखा हुआ लाख का घड़ा शीघ्र तप्त होकर नाश को प्राप्त होता है, वैसे ही संसक्त सहवासवाले ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुष का संयम शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है[3]।

बाड़ में आए हुए बिल्ली और चूहा, बिल्ली और कुक्कुट आदि के जो उदाहरण हैं, वे आगमोक्त ही हैं। ये स्त्री और पुरुष दोनों के प्रति समान रूप से लागू पड़ते हैं। इनका भावार्थ है—ब्रह्मचारिणी स्त्री के लिए पुरुष का सहवास बुरा है और ब्रह्मचारी पुरुष के लिए स्त्री का संग। ब्रह्मचारिणी अपने को चूहे, मोर और कुक्कुट के बच्चे के स्थान में समझे और पुरुष को बिल्ली के स्थान में। इसी तरह ब्रह्मचारी स्त्री को बिल्ली के स्थान में समझे और अपने को चूहे, मोर और कुक्कुट के स्थान में। सहवास से मूर्ख ब्रह्मचारी मनोहर स्त्री के वश में होता है और मूर्ख ब्रह्मचारिणी पुरुष के वश मे हो जाती है। ज्ञानियों का अनुभव है कि ससंक्तवास 'लाख और अग्नि', 'दूध और विष' की तरह द्रावक और घातक है[4]।

कहा है : "माता, बहन, या पुत्री किसी के साथ एकान्त में न बैठना चाहिए। क्योंकि इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान होता है, वह विद्वानों को भी अपनी ओर खींच लेता है[5]।" इसी तरह जैन आगमों में कहा है "जो मन, वचन और काय से गुप्त है और जिसे विभूषित देवाङ्गनाएँ भी काम-विह्वल नहीं कर सकती, ऐसे मुनि के लिए भी एकान्त-वास ही हितकर और प्रशस्त है[6]। जिसके हाथ, पैर एवं कान कटे हुए हैं तथा जो सौ वर्ष की वृद्धा है, ऐसी स्त्री की संगति का भी ब्रह्मचारी वर्जन करे[7]।"

ये बातें ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी दोनों के लिए लागू होती हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यह कोई शाश्वत नियम नहीं है। अन्यथा मुनि स्थूलिभद्र कोशा गणिका के यहाँ चातुर्मास कैसे कर सकते? उन्होंने गुरु की आज्ञा ले कोशा गणिका के घर चातुर्मास व्यतीत किया। भोग के सारे साधन थे। साधु बनने के पूर्व वे उसी वेश्या के साथ बारह वर्ष तक भोगासक्त रहे। अत. वह सुपरिचित थी। षट्रसयुक्त भोजन, सुन्दर महल, सारा शृंगार उपस्थित था। ऋतु अनुकूल थी। कोशा की ओर से बड़ा अनुनय-विनय और भोग-सेवन के लिए आमन्त्रण था। ऐसी स्थिति में भी वेश्या के साथ एक मकान में रहने पर भी स्थूलिभद्र का कुछ नहीं बिगड़ा। 'मनचंगा तो कठौती में गङ्गा।'

स्थूलिभद्र की कथा पृ० ८२ पर दी हुई है। स्थूलिभद्र की यह जीवन-घटना इस बात के लिए प्रमाण है कि ब्रह्मचारी को अपने व्रत में कितना दृढ होना चाहिए। पर इस बात का प्रमाण नहीं कि मोह-जनक स्थानों में रहना ब्रह्मचारी के लिए खतरे का घर नहीं और न इस बात का सबूत है कि ब्रह्मचारी को ऐसे स्थानों में रहने की भी आज्ञा है। और न इससे यह फलित होता है कि ब्रह्मचारी को ऐसे स्थानों में रह कर ही अपने ब्रह्मचर्य की साधना करनी चाहिए अथवा ब्रह्मचारी होने का सबूत पेश करना चाहिए। यह उदाहरण तो इस बोध के लिए है कि अनायास ऐसा विकट प्रसग उपस्थित हो जाय, तो भी ब्रह्मचारी मोह-ग्रस्त होकर विचलित न हो। ऐसे सब संयोगों के अवसर पर भी वह असीम

१—उत्तराध्ययन २.१७

२—पृ० १६ टि० ६

३—सूत्रकृताङ्ग १।४.१ : २७ :

जतुकुम्भे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ।
एवित्थियाहि अणगारा, संवासेण णासमुवयंति॥

४—पृ० १७ टि० १३

५—पृ० १६ टि० ८

६—पृ० १६ टि० ८

७—मनुस्मृति २.२१५ :

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो, विद्वांसमपि कर्षति॥

मनोबल का परिचय दे और कामराग को पूर्णरूप से जीते। जो एकान्त स्थान में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसमें कोई दोष नहीं, पर उसकी परीक्षा तब होती है जब वह मोह उत्पन्न करनेवाले संयोगों में आ फँसता है। ऐसे अवसर पर इन्द्रियों पर सम्पूर्ण संयम रखना ही ब्रह्मचारी की कसौटी है। ऐसे समय उसे स्थूलिभद्र की कथा याद कर अपने को उस आँच से भी सम्पूर्णतः निदाग रखना चाहिए।

सो पढियं सो गुणियं सो मुणियं सो अचेइओ अप्पा।
आवडियं पल्लियपा मंतओवि, जइ न कुणइ अकज्जं॥

—उसी का पढ़ना, गुनना, जानना और आत्म-स्वरूप का चिंतन करना प्रमाण है, जो आपत् में पड़ने पर भी अकार्य की ओर कदम नहीं बढ़ाता।

जो ब्रह्मचारी मोह-जनक सशक्त स्थानो का वर्जन नही करता और जान बूझकर ऐसे स्थानो का प्रसंग करता है, उसकी गति वही होती है जो सिंहगुफावासी यति की हुई। स्थूलिभद्र के गुरुभाई इस मुनि ने उनकी स्पर्धा से उसी कोशा गणिका के यहाँ चातुर्मास किया और काम-विह्वल हो भोग की प्रार्थना करने लगा। वेश्या कोशा, जो मुनि स्थूलिभद्र के प्रयत्न से श्राविका हो चुकी थी, उसे प्रतिबोध न देती तो उनका पतन अन्तिम सीमा तक पहुँचे बिना नही रहता। ब्रह्मचारी कैसे स्थानो में रहे, इसका सम्यक्‌बोध स्थूलिभद्र की कथा में नहीं पर सिंह-गुफावासी यति के प्रसंग से समझना चाहिए[1]।

ब्रह्मचारी अपने मनोबल पर खूब भरोसा न करे, बल्कि वह विनम्र रहे, अहंकार न रखे। वह निरहंकार-भाव से अपने को अनुकूल वास में रखे।

इस बाड़ से सम्बन्धित कुलबालुड़ा की कथा इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि जो ब्रह्मचारी स्त्री के साथ एकांत-सेवन करने लगता है तथा उसकी संगति, सहवास और स्पर्श का निवारण नहीं करता, उसका पतन कितना शीघ्र होता है। कोणिक की मागधिका गणिका ने स्वस्थ न हो तब तक रुग्ण मुनि कुलबालुड़ा की सेवा करने की छूट उनसे चाही। मुनि कुलबालुड़ा ने उसको सेवा के लिए सहवास की यह छूट दी। अन्त में यह सहवास मुनि कुलबालुड़ा के पतन का कारण हुआ।

श्रीमद् भागवत में कहा है :

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथाऽरुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत्स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत्॥

१०।३३।३०-३२

—कभी कभी महान शक्ति संपन्न व्यक्ति साहस के साथ नियमों का उल्लंघन (व्यतिक्रम) करते हुये देखे गये हैं। परन्तु जिस प्रकार सर्वभुक्—संपूर्ण वस्तुओं को जलानेवाली—अग्नि को दोष नही होता, उसी प्रकार नियमो के ये व्यतिक्रम तेजस्वियों के लिये दोष के कारण नही होते।

—अनीश्वर—जिसके पास असाधारण दिव्य शक्तियाँ नही हैं, ऐसा व्यक्ति—ऐसी वस्तुओं को करने का कभी मन से भी विचार न करे, क्योंकि उनको करने से वह विनाश को प्राप्त होगा। जैसे कि शंकर ने समुद्र से उत्पन्न विष को पान कर लिया था, यह सुनकर कोई मूर्खता से विष पान करने लगे तो उसकी मृत्यु ही होगी।

—महान व्यक्तियों की वाणी सत्य होती है और उनके द्वारा किये कार्य कभी ठीक होते हैं (और कभी ठीक नही भी होते)। अतः बुद्धिमान व्यक्ति उनके उसी आचरण का अनुवर्तन करे, जो उनकी वाणी (आज्ञाओं) के अनुकूल पड़ते हों।

आचार्य तुलसी कहते हैं : "एकान्तवासी भी विचलित हो जाते हैं तब स्त्री के संसर्ग में रहकर ब्रह्मचर्य को निभानेवाले विरले ही मिलेंगे। रात में स्त्री रहे वहाँ पुरुष न रहे, पुरुष हो वहाँ स्त्री न रहे।"

१—देखिए पृ० ८३। ब्रह्मचर्य के विषय पर इतनी मार्मिक, रसयुक्त और बोधप्रद कथा अन्यत्र देखने में नहीं आती।

दूसरी बाड़ (ढाल ३) : स्त्री-कथा वर्जन

दूसरी बाड़ में ब्रह्मचारी को स्त्री-कथा से दूर रहने का नियम दिया गया है[1]। इस विषय में आगमों में साधारण आज्ञा यह है कि जो भी कथा मन को चंचल करे, काम-राग को बढ़ावे, हास्य, शृंगार तथा मोह उत्पन्न करे तथा तप, संयम और ब्रह्मचर्य का विनाश करे, उसका ब्रह्मचारी वर्जन करे[2]। यहाँ वर्जन करने का अर्थ है ऐसी विलासयुक्त कथा न कहे, न सुने और न उसका चिन्तन करे[3]।

निम्न कथाएँ स्त्री-कथाएँ हैं :

(१) स्त्री के मुख, नेत्र, नासिका, होठ, हाथ, पाँव, कटि, नाभि, कोख तथा अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्गों का मोह उत्पन्न करनेवाला वर्णन। उनकी बोली, चाल-ढाल, हाव-भाव और चेष्टाओं का शृङ्गारपूर्ण वर्णन[4]।

(२) नव विवाहित पति-पत्नी की कथा।

(३) विवाह करनेवाले वर-वधू की कथा।

(४) स्त्रियों के सौभाग्य-दुर्भाग्य की कथा।

(५) कामशास्त्र की बातें।

(६) शृंगार रस के कारण मोह उत्पन्न करनेवाली कथा-कहानी।

स्त्री-कथा से किस प्रकार विकार उत्पन्न होता है, यह बताने के लिए स्वामीजी ने नीबू का दृष्टान्त दिया है। जैसे नीबू की बात कहने, सुनने या चिन्तन करने से मुह में पानी छूटने लगता है, उसी तरह स्त्री-कथा कहने, सुनने या चिन्तन करने से ब्रह्मचारी का मन विषय-राग से ग्रसित हो जाता है। उसके परिणाम चलित हो जाते हैं[5]।

जिसके मन में विषयों के प्रति रस न हो, वही ब्रह्मचारी कहा जा सकता है। जिस ब्रह्मचारी का मन वश में होगा उसके मुह से विकार पूर्ण शब्द ही नहीं निकल सकते। न वह विषय को उत्तेजित करनेवाली बातों में रस लेकर उन्हें सुनेगा और न उनका चिन्तन ही करेगा।

स्वामीजी कहते हैं—जो बार-बार स्त्री-कथा करता है, उसे ब्रह्मचर्य व्रत से प्रेम नहीं रहता। उसके विषय-विकार की वृद्धि होगी और अन्त में परिणाम विचलित होने से वह व्रत से च्युत होगा। इसी तरह जो स्त्री-कथा सुनता है या चिन्तन करता है उसकी गति भी ऐसी ही होती है[6]।

आज कथाएँ कही नहीं जाती; पुस्तकों में कहानी, उपन्यास, कविता और कामशास्त्र के रूप में आती हैं। शृंगारिक चित्रों में आती हैं। अतः सुनने का अर्थ आज पढ़ना भी हो जायगा। आज इस बाड़ का अर्थ ऐसा भी होगा कि ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी हो तो स्त्री-कथा न कहे, न लिखे, न पढ़े, न सुने और न उसका चिन्तन करे।

जिस अनुचित भावुकता के साथ स्त्रियों का चरित्र-चित्रण किया जाता है, उनके शरीर-सौंदर्य का जैसा अश्लील और असभ्यतापूर्ण वर्णन किया जाता है, उसके विषय में महात्मा गान्धी ने कहा था—"क्या स्त्रियों का सारा सौंदर्य और बल केवल शारीरिक सुन्दरता ही में है? पुरुषों की लालसा भरी विकारी आँखों की तृप्ति करने की क्षमता में ही है?...जैसी वे हैं वैसी ही उन्हें क्यों नहीं बताया जाता? वे कहती हैं, 'न तो हम स्वर्ग की अफसराएँ है, न गुड़िया हैं, और न विकार और दुर्बलताओं की गठरी ही हैं। पुरुषों की भाँति हम भी तो मानव प्राणी ही हैं।' मुझ

१—ढाल ३ दो० १-२ गा० १४ ; पृ० २१ टि० १

२—पृ० २१ टि० १,२

३—पृ० २१ टि० १,२

४—ढाल ३ गा० १-४

५—ढाल ३ गा० १२

६—ढाल ३ गा० १,६, ११-१३

से यह भी कहा गया है—हमारे साहित्य में स्त्रियों का खामखा देवता के सदृश वर्णन किया गया है। मेरी राय में इस तरह का चित्रण भी बिलकुल गलत है[1]।"

ऐसे साहित्य से जो हानि होती है, उसके बारे में वे कहते हैं :

"कितने ही लेखक स्त्रियों की आध्यात्मिक प्यास को शांत करने के बजाय उनके विकारों को जाग्रत करते हैं। नतीजा यह होता है कि बेचारी कितनी ही भोली स्त्रियां यही सोचने में अपना समय बरबाद करती रहती हैं कि उपन्यासों में चित्रित स्त्रियों के वर्णन के मुकाबले में वे किस तरह अपने को सजा और बना सकती हैं। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि साहित्य में उनका नख-शिख वर्णन क्या अनिवार्य है ? क्या आप को उपनिषदों, कुरान और बाइबिल में ऐसी चीजें मिलती हैं ? फिर भी क्या पता नहीं कि बाइबिल को अगर निकाल दें तो अंग्रेजी भाषा का भण्डार सूना हो जायगा।...कुरान के अभाव में अरबी को सारी दुनिया भूल जायगी और तुलसीदास के अभाव में जरा हिन्दी की कल्पना तो कीजिए। आजकल के साहित्य में स्त्रियों के विषय में जो कुछ मिलता है, ऐसी बातें आपको तुलसीकृत रामायण में मिलती हैं[2] ?"

टॉल्स्टॉय लिखते हैं—"मानव स्वभाव का वह कितना घोर पतन है जब मनुष्य पाशविक विकार को सिंहासन पर अभिषिक्त कर इसकी सहायक इन्द्रियों की तारीफों के पुल बाँधता है। पर आजकल के चित्रकार, सङ्गीतशास्त्री और सभी ललितकलाविद् यही करते हैं[3]।"

ब्रह्मचर्य की दूसरी बाड़ ने आज राष्ट्रीय महत्व ग्रहण कर लिया है। शृंगारपूर्ण कथाओं को उपस्थित करनेवाले चित्रकार, सङ्गीतशास्त्री, शिल्पकार, कथाकार, उपन्यासकार सब देश के जीवन की आध्यात्मिक भित्ति को हिला रहे हैं। राष्ट्र की शील-वृत्ति को कामुक कथाओं से विनष्टकर रहे हैं। उनकी कृतियों को पढ़ने, देखने और सुननेवालों का जो अधःपतन हो रहा है, वह स्त्री-कथा परिहार न करने का ही परिणाम है। यदि राष्ट्र में संयम की भावना को पुनः प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है और जिसे कोई अस्वीकार नहीं करता तो स्त्री-कथा का त्रिविध रूप में—"न कहियव्वा, न सुणियव्वा, न चिंतियव्वा" वर्जन मानव-मात्र के जीवन में लाना आवश्यक है।

राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से ऐसा साहित्य सर्जित न हो, इस भावना से महात्मा गांधी ने निम्न विचार दिये थे :

"एक सीधी-सी कसौटी मैं आपके सामने रखता हूँ। उनके विषय में लिखते समय आप उनकी किस रूप में कल्पना करते हैं ? आपको मेरी सूचना है कि आप कागज पर कलम चलाना शुरू करें, उससे पहले यह खयाल कर लें कि स्त्री जाति आपकी माता है। और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आकाश से जिस तरह प्यासी धरती पर सुन्दर शुद्ध जल की वर्षा होती है, उसी तरह आपकी लेखनी से भी शुद्ध से-शुद्ध साहित्य बहने लगेगा। याद रखिए एक स्त्री आपकी पत्नी बनी, उससे पहले एक स्त्री आप की माता थी[4]।"

इस बाड़ से सम्बन्धित मल्लिकुमारी, मृगावती और द्रौपदी की कथाएँ परिशिष्ट-क में पृ० ८६,८७,६५ पर दी हुई हैं।

स्त्री के रूपादि के वर्णन को सुनने से किस तरह मोह उत्पन्न होता है, उसका हृदयग्राही वर्णन इन कथाओं में है।

मल्लिकुमारी के लावण्य की कथा को सुन और चित्रपटों से जान कर उसे प्राप्त करने के लिए उसके पिता राजा कुम्भ पर भिन्न-भिन्न देशों के नृपतियों ने एक साथ चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से युद्ध छिड़ गया।

मल्लि ने नृपतियों की चढ़ाई की आशंका से पहले से ही अपने रूप-रंग से मिलती हुई एक स्वर्ण-प्रतिमा बनवा रखी थी। उसमें प्रति दिन भोजन डाला जाता जो सड़ता जाता था। वह प्रतिमा पेचदार ढक्कन से बंद होती थी। मल्लि ने अपने पिता से युद्ध बंद करने का अनुरोध किया। उन नृपतियों को निमंत्रित कर अपने महल में बुलाया। प्रतिमा को मल्लिकुमारी समझ सब और भी विमुग्ध हो गये। अब मल्लिकुमारी स्वयं उपस्थित हुई और प्रतिमा के ढक्कन को दूर कर दिया। महल दुर्गन्ध और बदबू से भर गया। सब ने अपने नाक ढक लिए। मल्लि ने पूछा—"ऐसा क्यों ?" नृपों ने उत्तर दिया—"इस प्रतिमा में से भयङ्कर दुर्गन्ध निकल रही है।" मल्लि बोली—"मेरा यह शरीर, जिसके सौन्दर्य पर तुम

१—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १४७-१४८
२—ब्रह्मचर्य (प० भा०) १४८-६
३—स्त्री और पुरुष
४—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १४६

इतने मुग्ध हो भी तो ऐसा ही दुर्गन्धयुक्त है। वह भी अशुचि से भरा है।" इस तरह अशुचि भावना को जाग्रत कर मल्लि ने नृपों को मोह-रहित किया।

दूसरी कथा में राजा चन्द्रप्रद्योत मृगावती के रूप के वर्णन को सुन कर उस पर मुग्ध होता है। विधवा मृगावती को पाने के लिए उसके राज्य पर चढ़ाई कर देता है। इसी बीच श्रमण भगवान महावीर पधारते हैं। मृगावती भगवान महावीर की शरण में पहुँच राजा चन्द्रप्रद्योत को विचारपूर्ण दृष्टि से अपनी रक्षा करती है।

कुमारी मल्लि और विधवा रानी मृगावती दोनों ने पाँचों महाव्रत ग्रहण कर प्रव्रज्या ग्रहण की।

तीसरी कथा में नारद द्वारा वर्णित द्रौपदी के रूप को सुन कर राजा पद्मनाभ उन पर मुग्ध हो उसका हरण करवाता था। फिर कृष्ण द्रौपदी का उद्धार करते हैं।

तीसरी बाड़ (ढाल ४) : एक आसन का वर्जन

तीसरी बाड़ में ब्रह्मचारी साधु के लिए यह नियम है कि वह स्त्री के साथ एक शय्या या आसन पर न बैठे। पहली बाड़ में स्त्री आदि से संसक्त स्थान में रहने का वर्जन है। इस बाड में सह-आसन तथा सह-शय्या का वर्जन है। यह स्थूल वर्जन है। सूक्ष्म रूप में स्त्री-संसर्ग, स्त्री-परिचय, स्त्रियों से ममता, उनकी आगत-स्वागत, उनसे बार-बार बात-चीत, यदा-कदा मिलना-जुलना और उनके साथ घूमना-फिरना और उनके स्पर्श आदि के परिवर्जन की भी शिक्षा इस बाड़ में है[1]। नारी और पुरुष की पारस्परिक, शारीरिक या वाचिक सन्निकटता ब्रह्मचर्य के लिए वैसी है जैसे कि घी, लाख, लोह आदि की अग्नि के साथ सन्निकटता। घी और लाख की तो बात ही क्या लोह जैसी कठोर वस्तु भी अग्नि के संसर्ग से पिघल जाती है। वैसे ही घोर ब्रह्मचारी भी स्त्री-संसर्ग से ब्रह्मचर्य को खो बैठता है[2]। इस दृष्टि से राजमार्ग यही दिया गया है कि सुतपस्वी भी स्त्री के साथ एकासन पर न बैठे। ब्रह्मचारी यह नियम पराई स्त्रियों के साथ ही नहीं, माँ, बेटी, बहिन जैसी स्त्रियों के साथ भी पालन करे, ऐसा कहा है[3]। ब्रह्मचारी के लिए स्त्रियों का संसर्ग विष-लिप्त कंटक के समान है। वह ताल विष की तरह है[4]। ब्रह्मचारिणियों के लिए भी पुरुष-संसर्ग को ऐसा ही समझना चाहिए।

स्वामीजी ने इस बाड़ के महत्व को हृदयंगम कराने के लिए काचर, कोहला तथा आटे का मौलिक दृष्टान्त दिया है। काचर, कोहला को आटे में डालकर गूंधने से आटा लसरहित हो जाता है—वह संधता नहीं। वैसी ही नारी-प्रसंग से, स्त्री के साथ एक शय्या, आसनादि पर बैठने आदि से ब्रह्मचारी के परिणाम चल-विचलित हो जाते हैं और ब्रह्मचर्य से ध्यान छूट जाता है। वह समाधियोग से भ्रष्ट हो जाता है। एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचारी का किस प्रकार पतन होता है, इसका क्रम इस ढाल में बड़े ही सुन्दर ढंग से बतलाया है[5]।

'स्त्रीशयनादिकं च मा भज'—इस नियम के पीछे एक विशेष वैज्ञानिक भूमिका है जिसका उल्लेख ढा० ४ गा०५–७, १० में आया है। वहाँ इस बात का जिक्र है कि नारी वेद के पुद्गलो का स्पर्श पुरुष में और पुरुष वेद के पुद्गलो का स्पर्श नारी में काम-विकार उत्पन्न करता है। इस वेद-स्वभाव को ध्यान में रखकर ज्ञानियों ने यहाँ तक नियम किया है कि जिस स्थान पर नारी बैठ चुकी हो उस स्थान पर ब्रह्मचारी एक मुहूर्त तक न बैठे।

ब्रह्मचारी को सावधान किया गया है कि वह वेद-स्वभाव को हमेशा स्मृति में रखे और नारी-प्रसंग का सदा परिवर्जन करता रहे। स्त्री-संस्पर्श से सम्भूत मुनि का पतन किस प्रकार हुआ, इसका रोमाञ्चकारी उल्लेख इस बाड़ की ढाल में है। यह कथा परिशिष्ट—क में पृ० १०१ पर दी गई है[6]।

१—ढाल ४ दो० २,३ तथा पृ० २६ टि० १

२—ढाल ४ दो० २,४ पृ० २६ टि० २,३

३—ढाल ४ गा० १३ ; पृ० २८ टि० १२

४—पृ० २६ टि० १ अन्तिम पेरा : पृ० २८ टि० १२

५—ढाल ४ गा० २ ; पृ० २७ टि० ४

६—ढाल ४ गा० ८-६

पहली और तीसरी बाड़ में जो नियम दिए गये हैं, उनकी आवश्यकता टॉल्स्टॉय भी महसूस करते थे। उन्होंने एक बार कहा :

"कोई पूछ सकता है कि हम अपने जाति के व्यक्तियों के साथ जिस मित्रता से रहते हैं, वैसे स्त्री पुरुष-जाति के साथ या पुरुष स्त्री-जाति के साथ मित्रतापूर्वक क्यों नहीं रह सकते ? क्या यह बुरा है ? ठीक है, यदि हम अपने हृदय को कलंकित न होने दें, तो हम जरूर ऐसा कर सकते हैं।......पर एक सच्चा और विवेकशील प्राणी फौरन कहेगा कि ऐसे सम्बन्ध बड़े नाजुक होते हैं[१]।" परस्पर सान्निध्य न करने के पीछे उन्होंने यह मनोवैज्ञानिक कारण बतलाया है · "यदि आदमी अपने को धोखा न दे, तो वह ध्यान से देख सकता है कि बनिस्बत पुरुषों के सान्निध्य के उसे स्त्रियों के सान्निध्य में एक विशेष आनन्द आता है। वे आपस में जल्दी-जल्दी मिलने की उत्कण्ठा रखने लगते हैं[२]। "आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र से तुच्छ वैषयिक क्षेत्र में उतर आना सबके लिए साधारण है[३]।"

इस सम्बन्ध में विनोबाजी लिखते हैं : "मैं तो मानता हूँ कि पुरुष-पुरुष के बीच भी शारीरिक परिचय होना गलत बात है। परिचय तो मानसिक होना चाहिए। शारीरिक परिचय भी केवल सेवा के वास्ते जितना आवश्यक है, उतना ही होना चाहिए। हम देखते हैं कि पुरुष नाहक दूसरे पुरुष मित्र के गले में हाथ डालते हैं। इस तरह जो चलता है वह हमें पसन्द नहीं आता है।···शरीर परिचय की जो एक सामान्य मर्यादा है वह न सिर्फ स्त्री और पुरुष के बीच होनी चाहिए, बल्कि पुरुष-पुरुष के बीच और स्त्री-स्त्री के बीच भी वही मर्यादा होनी चाहिए। यह दर्शन ही गलत है कि स्त्री और पुरुषों में भेद किया जाय। स्त्री-पुरुषों का भेद तो हम आकृतिमात्र से ही पहचानते हैं। अन्दर की आत्मा तो एक ही है। मनुष्य ने माना है कि दोनों के बीच मर्यादाएँ होनी चाहिए। लेकिन यह कोई सर्वोत्तम वस्तु नहीं है। होना तो यह चाहिए कि दोनों खुले दिल से एक-दूसरे के सामने आयें। वैसे शरीर-सम्पर्क की एक सर्व सामान्य मर्यादा हो। पुरुष-पुरुष के बीच भी ज्यादा सम्पर्क न हो[४]।"

पाठक देखेंगे कि तीसरी बाड़ में स्त्री-परिचय, स्त्री-संसर्ग, यदा-कदा मिलना-जुलना आदि के परिवर्जन की जो बात कही गयी है, वह आधुनिक चिन्तकों द्वारा भी समर्थित है।

इस बाड़ का एक नियम खास ध्यान आकर्षित करने जैसा है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपायों को बताते हुए पं० आशाधरजी ने लिखा है—"मा स्त्री सत्कुरु।" इसका अर्थ है—स्त्रियों का सत्कार मत करो। आचाराङ्ग में कहा है "णो संथसारए, णो ममाए, णो कयकिरिए, अर्थात् स्त्रियों के साथ एकान्त का सेवन मत करो, उनके प्रति ममत्व मत करो, उनके प्रति कृतक्रिय मत हो।" यहाँ स्त्री के प्रति दाक्षिण्यभाव के प्रदर्शन की मनाही की गई है।

आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है : "आजकल समाज मे सुधरे हुए लोगो में अधिकाधिक कृत्रिमता आ गयी है। इसलिए स्त्री के लिए ज्यादा आदर दिखाना, जिसे 'दाक्षिण्य भाव' कहते हैं, चलता है। स्त्री को देवी कहा जाता है। इस तरह एक बाजू से तो स्त्री के लिए घृणा और तिरस्कार होता है, अपात्रता होती है और दूसरी तरफ से स्त्री के लिए अधिक भावना होती है। पुरुष अपने को स्त्री का सेवक मानता है।···हम मानते हैं कि इससे विषय-वासना बढ़ती ही है। जैसे स्त्री के लिए कोई अपात्रता समझना गलत है, उसी तरह स्त्री के लिए अधिक भाव या ऊँची भावना रखना भी गलत है। होना तो यह चाहिए कि आत्मा में तो स्त्री और पुरुष का भेद नहीं है, यह भेद तो शरीर का है, इसका भान हो जाय। यह भान होने से वासना से निवृत्त होना आसान हो जायगा[५]।"

स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध में दोष पैदा होने के कारणों को गिनाते हुए श्री किशोरलाल मशरूवाला ने 'अनावश्यक स्त्री-दाक्षिण्य' को भी गिनाया है[६]। उनके विचारों की भूमिका इस प्रकार है : "स्त्रियों को अपने शील की रक्षा के लिए हमेशा अधिक अभिमान और अधिक चिंता रहती है। इसलिए जब मैं स्त्री के पतन की बात सुनता हूँ, तब कुछ दिङ्मूढ़ सा बन जाता हूँ।······इङ्गलैण्ड के मशहूर मानसशास्त्री

१—स्त्री और पुरुष पृ० १३६-३७
२—वही :
३—स्त्री और पुरुष पृ० १४२
४—कार्यकर्ता-वर्ग पृ० ४२,४३,४४
५—कार्यकर्ता-वर्ग पृ० ४५
६—स्त्री-पुरुष-मर्यादा पृ० ३६-३७

डॉ० मेकडूगल इस बारे में जो थोड़ा स्पष्टीकरण करते हैं, वह विचारने जैसा है। उनका कहना है कि स्त्री का स्वभाव अधिक भावनावश होता है। उसके लिए जो ममता या सहानुभूति बताई जाती है, उसका असर उस पर पुरुष की बनिस्बत ज्यादा होता है।······इसलिए उसके प्रति जो दाक्षिण्य (Chivalry) बताया जाता है, उसकी प्रतिध्वनि उसके हृदय में उठे बिना नहीं रहती।···अपने प्रति ममता या सहानुभूति बतानेवाले को सन्तुष्ट करने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार हो जाती है।······धूर्त पुरुष स्त्री के इस स्वभाव का लाभ उठाता है और उसे अपना शिकार बनाता है।

"इसका यह मतलब नहीं कि स्त्रियां कभी पुरुष से ज्यादा विकारवश या धूर्त होतीं ही नहीं, और पुरुष उन्हें फंसाने के बजाय उसके जाल में कभी फसता ही नहीं[१]।"

ऐसी स्थिति में दोषोत्पत्ति से बचने का राजमार्ग क्या है, यह बताते हुए उन्होंने लिखा है :

"इसलिए राजमार्ग—सैंकड़ों स्त्रियों के लिए निर्भयता से चलने का मार्ग—तो यही है कि पर-पुरुष चाहे जितना सच्चा, सादा, प्रेमल, शुद्ध और आदर्शवादी मालूम हो, तो भी उसके साथ एकान्त में न रहा जाय, उससे हंसी मजाक न किया जाय, विशेष प्रयोजन के बिना उसका अंग-स्पर्श न किया जाय या न होने दिया जाय, अर्थात् मर्यादा को लांघ कर उसके साथ बरताव न किया जाय।

"लाखों मनुष्यों में कोई बिरले स्त्री-पुरुष ही ऐसे हो सकते हैं, जो मर्यादा के बन्धन में न रहते हुए भी पवित्र रहें। वे अपनी उमर हमेशा पांच वर्ष के बालक जितनी ही अनुभव करते हैं और दूसरे स्त्री-पुरुषों के लिए माता या पिता अथवा लड़की या लड़के के सिवा दूसरी दृष्टि को समझ ही नहीं सकते। ऐसी साध्वी स्त्री या साधु पुरुष पूजने लायक है। लेकिन जो कभी भी विकार का अनुभव कर चुके हैं, उन्हें तो भागवत का यह वचन सच मानकर ही चलना चाहिए :

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु कोऽन्वखंडितधीः पुमान्।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ?

—एक नारायण ऋषि को छोड़ कर ब्रह्मा, देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि में से कोई एक भी ऐसा है जो सर्जन कार्य में स्त्रीरूपी माया से खंडित न हुआ हो ?

"जो पुरुष को लागू होता है, वह स्त्री को भी लागू होता है[२]।"

चौथी बाड़ (ढाल ५) : इन्द्रिय-दर्शन-परिहार

चौथी बाड़ में यह शिक्षा है कि ब्रह्मचारी नारी के रूप को 'न निरखे'। 'वराङ्ग दृशं मा दा'—वह उसके अङ्गों पर दृष्टि न डाले। प्रश्न हो सकता है—स्त्रियाँ सर्वत्र हैं। स्थान-स्थान और घर-घर में विहार करनेवाला साधु उनके दर्शन से कैसे बच सकता है? इस नियम का तात्पर्य आचाराङ्ग से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा गया है—"यह संभव नहीं कि आँखों के सामने आए हुए रूप को कोई न देखे परन्तु भिक्षु उसमें राग-द्वेष न करे[३]।"

स्वामीजी ने 'जोइये नहीं धर राग' (५.१), 'निजर भरे ने निरखता रे' (५.४) आदि वाक्यों द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्मचारी को रागपूर्वक, टकटकी लगा कर, नजर गडा कर स्त्री के रूप को नहीं देखना चाहिए। वह नारी के रूप में मोहित, मूर्च्छित,आसक्त न हो। बिना राग-भाव स्त्रियों का दर्शन होता है, वह ब्रह्मचारी के लिए दोषरूप नहीं माना गया है और ऐसा दर्शन इस बाड़ का वर्ज्य नहीं है। इस बाड़ का प्रतिपाद्य है—'नो तासु चक्खु संधेज्जा'—ब्रह्मचारी स्त्रियों पर चक्षु न साधे—उन पर ताक न लगावे। जो ब्रह्मचारी स्त्रियों के रूप का लोभी होता है और उनके प्रति प्रेमभाव से ताका करता है, उसको भ्रष्ट होते देर नहीं लगती। रूप में ऐसे आसक्त मनुष्य के लिए स्वामीजी ने 'चक्षु-कुशील' (५-१०) शब्द का प्रयोग किया है।

१—स्त्री-पुरुष मर्यादा पृ० ३९-४१
२—स्त्री-पुरुष मर्यादा पृ० ४२-४३
३—आचाराङ्ग २।१५ :
नो सक्का रूवमद्दठुं चक्खुविसयमागयं
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

वासना की तृप्ति के लिए स्त्रियों से सम्पर्क साधने की कभी चेष्टा नहीं की। मैं इस बात का दावा नही करता कि मैं अपने में से काम-विकार को सम्पूर्णतः दूर कर सका हूं, पर मेरा यह दावा है कि मैं इसे काबू में रख सकता हूं।"

प्रश्न: "हम लोगों की यह जानकारी नहीं है कि आपने जनता के सामने अपने इन विचारों को रखा है। इसके विपरीत आपने जनता के सामने ऐसे ही विचार रखे हैं, जिनके साथ हम लोग परिचित हैं। आपके प्रयत्नों के साथ उन विचारों को ही समझा है। आपका क्या खुलासा है?"

गान्धीजी: "आज भी मैं, जहाँ तक सर्वसाधारण का सवाल है, उन्हीं विचारों को उनके सामने रखता हूँ, जिनको आप मेरे पुराने विचार कहते हैं। साथ ही जैसा कि मैंने कहा है, मैं आधुनिक विचारों से बहुत गहराई तक प्रभावित हूं। हम लोगों में तांत्रिक विचार-धारा भी है, जिसने कि न्यायाधीश, सर जोन उड्रफ जैसे पश्चिमी विद्वानों को भी प्रभावित किया है। मैंने यरवदा जेल में उनकी कृतियों का अध्ययन किया। आप रूढिगत संस्कारों में पले-पुसे हैं। मेरी परिभाषा के अनुसार आप ब्रह्मचारी नहीं माने जा सकते। आप जब-कभी बीमार पड़ जाते हैं। सब तरह की शारीरिक व्याधियों से ग्रसित हैं। मैं यह दावा करता हूं कि सच्चे ब्रह्मचर्य का प्रतिनिधित्व मैं आपसे अच्छा करता हूं। आप सत्य, अहिंसा, अचौर्य के भङ्ग को इतनी गम्भीर दृष्टि से नहीं देखते। पर ब्रह्मचर्य का—स्त्री और पुरुष के बीच के सम्बन्ध का— काल्पनिक भङ्ग भी आप को पूर्णतः विचलित कर देता है। ब्रह्मचर्य की इस कल्पना को मैं संकुचित, प्रतिगामी और रूढिग्रस्त मानता हूं। मेरे लिए सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य के आदर्श समान महत्व रखते हैं। और सबके सब हमारी ओर से समान प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं। उनमें से किसी का भी भङ्ग मेरे लिए समान चिन्ता का विषय होता है। मैं यह मानता हूं कि मेरा आचरण ब्रह्मचर्य के सच्चे आदर्श से दूर नहीं गया है। इसके विपरीत उस ब्रह्मचर्य का, जो क्या करना और क्या नहीं करना, यहीं तक सीमित रहता है, असर समाज पर बुरा ही पड़ता है। उसने आदर्श को नीचे गिरा दिया है। और उसके सच्चे तत्त्व को छीन लिया है। यह मैं अपना उच्चतम कर्तव्य समझता हूं कि मैं इन नियमों और बन्धनों को समुचित स्थान में रखूं और ब्रह्मचर्य के आदर्श को उन बेड़ियों से मुक्त कर दूं, जिनमें कि यह जकड़ लिया गया है।"

प्रश्न: "यदि आपके विचार और आचार आत्म-संयम के पालन में इतने आगे बढ़ गये हैं तो इनका आपके चारों ओर के वातावरण पर लाभकारी असर क्यों नहीं दिखाई देता? हम आपके चारों ओर इतनी अशान्ति और दुःख को क्यों पाते हैं? आपके साथी विकारों से मुक्त क्यों नहीं होते?"

गान्धीजी—"मैं अपने साथियों के गुण और कमियों को अच्छी तरह जानता हूं। आप उनके दूसरे पक्ष को नहीं जानते। ऊपराऊपरी निरीक्षण के आधार पर तुरन्त किसी निर्णय पर पहुंच जाना सत्य-शोधक के लिए अशोभनीय है। आप लोग सोचते हैं, वैसा मैं खो नहीं गया हूं। मैं तो आपसे इतना ही कह सकता हूं कि आप लोग मुझ में विश्वास रखें। मैं आपके कहने पर उस बात को नहीं छोड़ सकता, जो मेरे लिए गहरे विश्वास का विषय है। मुझे खेद है, मैं असहाय हूं।"

प्रश्न: "हम नहीं कह सकते कि आपने हमें समझा दिया। हम संतुष्ट नहीं हैं। हम लोग इस बात को यहीं नहीं छोड़ सकते। हम लोग आपके साथ निरन्तर प्रयास करते रहेंगे। यदि आप बनी हुई मर्यादा के खिलाफ फिर जाने को प्रेरित हों तो अपने दुःखित मित्रों का भी खयाल करें।"

गान्धीजी—"मैं जानता हूं। पर मैं क्या कर सकता हूं, जब कि मैं कर्तव्य-भावना से प्रेरित हूं। मैं ऐसी परिस्थिति की कल्पना कर सकता हूं, जब कि मैं स्थापित नियमों के विरुद्ध जाना अपना स्पष्ट कर्तव्य समझूं। ऐसी परिस्थितियों में मैं अपने को किसी भी कायदे के द्वारा बंधन में डालना नहीं चाहता।"

इस वार्तालाप के बाद ता० १६-३-'४७ की डायरी में महात्मा गांधी ने लिखा :

"ब्रह्मचर्य की मेरी परिभाषा के अनुसार आज के इनके ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचार दूषित अथवा अधूरे लगे। उनमें मेरे मार्ग के अनुसार सुधार की अति आवश्यकता है। मैंने विकार पोसने के लिए कभी भी जानबूझ कर स्त्री-संग का सेवन नहीं किया। एक अपवाद बतलाया है। अपने आचार से मैं आगे बढ़ा हूं और अभी अधिक की आशा करता हूं[1] ......।"

१—बिहारनी कोमी आगमां पृ० ६१

इसके बाद भी पत्र-व्यवहार चलता ही रहा। अन्त में महात्माजी के सामने यह सुझाव आया कि चूंकि दोनों ही पत्र एक दूसरे को नहीं समझा सके हैं, अतः स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध और स्त्री-पुरुष-व्यवहार के सम्बन्ध में वर्तमान स्थितियों के अनुकूल मर्यादा स्थिर करने का प्रश्न कितने ही व्यक्तियों पर छोड़ा जाय।

१—गान्धीजी का मत रहा—प्रस्तावक पुराने परम्परा के नियमों से दूर जाना नहीं चाहते और मैं सत्य की अनन्त खोज में उन शर्तों से बद्ध नहीं हो सकता, जो उस खोज में बाधक हो। उन्होंने लिखा—आप ही की स्वीकृति के अनुसार नया विधान आप पर लागू नहीं होगा। जहां तक मेरा सवाल है, वहां तक मैं अपनी ही मर्यादाओं से बंधा रहूंगा। इस तरह दोनों जहां हैं, वहीं रहेंगे। ऐसी परिस्थिति में कोई लाभ नहीं कि हम लोग भूसी में से धान निकालने के काम में लोगों को लगावें।

उपर्युक्त वार्तालाप के दो दिन बाद (ता० १८-३-'४७ को) महात्मा गांधी ने श्रीमती अमृतकौर को जो पत्र लिखा, वह इस प्रकार है:

"तुम्हें मेरे इस वक्तव्य को मंजूर करने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि हम लोगों में से ब्रह्मचर्य की पूरी कीमत और उसका अर्थ कोई नहीं जानता और हम मूर्खों में, मैं ही कम मूर्ख हूं और अधिक से अधिक अनुभवी।......मैंने हजारों स्त्रियों का स्पर्श किया है, परन्तु मेरे स्पर्श का अर्थ कभी भी विकार-भाव नहीं रहा। मेरा स्पर्श दोनों के हित के लिए रहा। जिनका अनुभव इससे भिन्न हो, वे मेरे विरुद्ध अपने सबूत पेश करें।......ब्रह्मचर्य का मेरा अर्थ यह है—वह ब्रह्मचारी है जिसके मन में कभी भी विकार नहीं होता। और जो ईश्वर के प्रति अपनी निरन्तर मौजूदगी के द्वारा ऐसा संयमी हो गया है कि वह नग्न स्त्रियों के साथ नग्नरूप में सो सकता है, चाहे वह कितनी भी सुन्दर क्यों न हो और ऐसा करने पर भी जिसमें किसी तरह की विषय-भावना की जागृति नहीं होती। ऐसा व्यक्ति कभी झूठ नहीं बोलेगा। दुनिया में किसी भी स्त्री व पुरुष के प्रति किसी तरह की क्षति नहीं करेगा व क्रोध और द्वेष से मुक्त होगा और भगवद्गीता की परिभाषा के अनुसार स्थितप्रज्ञ होगा। ऐसा पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचारी का शाब्दिक अर्थ है—वह व्यक्ति जो कि ईश्वर की ओर क्रमशः हमेशा बढ़ता जाता है और जिसका प्रत्येक कार्य इसी ध्येय से किया जाता है और किसी अभिप्राय से नहीं[१]।"

प्रयोग स्थगित करने के पहले और बाद में महात्मा गांधी की जो भावना रही, वह उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। प्रयोग स्थगित किया गया, उसका कारण ठक्कर बापा के अनुरोध की रक्षा और लोगों को इस प्रयोग के मर्म को समझने के लिए कुछ अवकाश देना मात्र था[२]। इस प्रयोग के विषय में निम्न बातें चिन्तनीय हैं:

महात्मा गांधी ने इस प्रयोग पर विचार जानने के लिए अनेक मित्र और साथियों से पत्र-व्यवहार किया। उपर्युक्त दोनों पुस्तकों से जो पत्र सामने आते हैं, उनमें प्रयोग के साथ उनकी पौत्री मनु बहन का ही नामोल्लेख है[३]। सार्वजनिक भाषण में भी उन्होंने मनु बहिन का ही उल्लेख किया[४]। जिन्होंने इस प्रयोग में कोई दोष नहीं देखा, उनके विचार भी प्रायः इसी बात पर आधारित थे अथवा महात्मा गांधी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा पर अवलम्बित थे। इसके दो नमूने नीचे दिये जाते हैं:

(१) श्री अब्दुल गफ्फारखां ने एक बार कहा: "उनमें तो साधारण सन्तुलन भी नहीं। वे यह क्यों नहीं देखते हैं कि मनु तो आपके लिए एक ६ महीने की बच्ची के तुल्य है।......मनु आपके साथ एक ही बिछौने पर सोती है, इसमें मैं जरा भी दोष नहीं देखता। मैं समझ नहीं पाता कि एक विचारशील व्यक्ति ऐसी साधारण बात भी क्यों नहीं समझ सकता[५]।"

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 591

२—Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 587: The concession was only to feelings and sentiments of those who could not understand his stand and might need time for new ideas to sink into their minds.

३—My days with Gandhi p. 136 (Letter to a friend name not mentioned); वही पृ० १५५ (श्री सतीश चन्द्र मुखर्जी के नाम पत्र); Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 581 (श्री आचार्य कृपलानी के नाम पत्र); वही पृ० ५८० (हारेस एलेक्जेण्डर के नाम पत्र)।

४—My days with Gandhi p. 154; Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 580

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 592

इसमें प्रयोग पर सार्वभौम दृष्टि से विचार नहीं है।

(२) आचार्य कृपलानी ने महात्मा गांधी के ता० २४-२-४७ के पत्र[१] का उत्तर देते हुए ता० १-३-४७ के पत्र में उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा व्यक्त करते हुए लिखा :

"ऐसे प्रश्न मेरे बूते के बाहर हैं। दूसरों का न्याय करने बैठूं—खास कर उनका जो नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से मुझसे अनेक कोस दूरी पर हैं—उसके पहले अपने को नैतिक दृष्टि से सीधा रखने के लिए मुझे बहुत कुछ करना है। मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि मुझे आपमें पूर्ण विश्वास है। कोई भी पापी मनुष्य आपकी तरह कार्य नहीं कर सकता। अगर कोई सन्देह होता भी तो मैं अपनी आँखों और कानों का ही अविश्वास करता। क्योंकि मैं मानता हूं कि मेरी इन्द्रियां मुझे अधिक धोखा दे सकती हैं, बनिस्बत आप, अत: मैं तो निश्चित हूं। कभी मैं सोचा करता हूं······आप कहीं मनुष्यों का प्रयोग साध्य के रूप में न कर, साधन के रूप में तो नहीं कर रहे हैं। पर मैं यह विचार कर धैर्य ग्रहण कर लेता हूं कि आप अवश्य ही ऐसा ऊहापोह रखते होंगे। यदि आप स्वयं अपने विषय में निश्चित हैं, तो दूसरों को इससे हानि नहीं हो सकेगी। मुझे आश्चर्य हुआ कहीं आप गीता के लोक-संग्रह का भंग तो नहीं कर रहे हैं। परन्तु इस प्रयोग में यह विचार भी आप की दृष्टि से ओझल नहीं होगा।······मैं जानता हूं स्त्रियों के प्रति आपकी जो भावना है, वही सही है। क्योंकि आप उनमें से हैं, जो स्त्री को साध्य मानते हैं केवल साधन नहीं। आपने कभी स्त्री-जाति से अनुचित लाभ नहीं उठाया[२]।"

यह उत्तर श्रद्धा भावना से प्रेरित है और प्रकारान्तर से उसमें आपत्तियाँ दिखा ही दी गयी हैं।

२—महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में इस प्रयोग के पीछे जो दृष्टियाँ बतलायी हैं, वे ऐसी नहीं जो सहज हृदयंगम हो सकें। मनु बहिन के मन की स्थिति के परीक्षण के लिए ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। मनु बहिन जैसी सच्ची, निश्छल स्त्री अपने पितामह को अपने मनोभाव बिना प्रयोग के ही सही-सही कह देगी, ऐसा महात्मा गांधी को विश्वास होना चाहिए था। जो बात, बातचीत से जानी जा सकती थी, उसके लिए ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। सम्पर्क में आनेवाली बहिनों के मनोभावों को जानने के लिए ऐसे प्रयोग की सार्वभौम प्रयोजनीयता सिद्ध नहीं होती, फिर भले ही ऐसा प्रयोग कोई ब्रह्मचारी ही करे।

३—योगसूत्र में यह अवश्य कहा है कि—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"—अहिंसक के सान्निध्य में वैर नहीं टिकता, पर यहाँ सान्निध्य का अर्थ खूब सन्निकटता नहीं है। दूर या समीप, अहिंसक का ऐसा प्रभाव पड़ता है। ब्रह्मचारी के समीप भी विकार शान्ति को प्राप्त होते हैं, यह सत्य है, पर इसके लिए क्या एक शय्या के सान्निध्य की आवश्यकता होगी? पतञ्जलि का सूत्र ऐसी बात नहीं कहता।

४—यह पौत्री मनु के शिक्षण की दिशा में जरूरी कदम किस दृष्टि से था, यह भी स्पष्ट नहीं है। ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में किसी भी बहिन के शिक्षण के साथ इस प्रयोग का सीधा सम्बन्ध कैसे बैठता है, यह समझ में नहीं आता। नोआखाली जैसे भयंकर क्षेत्र में अपनी पौत्री के साथ स्थित हो, वहाँ की जनता में अदम्य साहस लाने और परिस्थिति का निर्भयता के साथ-साथ मुकाबिला करने का अनुपम आदर्श जरूर रखा गया था, पर बहिनों के सह-शय्या-शयन के साथ उसका सम्बन्ध नहीं बैठता।

५—नपुंसकत्व-प्राप्ति की साधना के लिए भी ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं। बिना ऐसे प्रयोग के नपुंसकत्व सिद्ध हुआ है, ऐसा इतिहास बतलाता है। कोई स्वयं ब्रह्मचर्य में कहाँ तक बढ़ा हुआ है, इस बात को जानने के लिए ऐसा प्रयोग उन्हीं आपत्तियों को सामने लाता है, जो आचार्य कृपलानी द्वारा प्रस्तुत हुई थी।

६—मनु बहिन का एक आदर्श नारी के रूप में निर्माण करने की भावना के साथ भी सह-शय्या के प्रयोग का सीधा सम्बन्ध नहीं बैठाया जा सकता। इस प्रयोग के न करने से वह कैसे रुकता, यह बुद्धिगम्य नहीं होता।

७—सह-शय्या-शयन नोआखाली यज्ञ का सायुज्य अङ्ग कैसे था, इस पर महात्मा गांधी का कथन स्पष्ट नहीं है।

१—इस पत्र में बात इस रूप में रखी हुई है—Manu Gandhi my grand-daughter, as we consider blood-relation, shares the bed with me, strictly as my very blood······as part of what might be called my last yajna.

२—Mahatma Gandhi The Last Phase pp. 582-3

८—महात्मा गांधी को मानव-मात्र का प्रतीक मानें और मनु बहिन को बहिन-मात्र का, तो इस प्रयोग का सार यह हो सकता है कि सब मनुष्य स्त्री-मात्र को अपनी पौत्रियाँ समझें और स्त्रियाँ पुरुष-मात्र को अपना पितामह। यह प्रयोग ऐसे पदार्थ-बोध के लिए हो तो भी उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा आदर्श महापुरुष हमेशा देते आए हैं, पर ऐसा करने के लिए उन्हें कभी ऐसा प्रयोग करना पड़ा हो, ऐसा इतिहास नहीं बताता।

२२-बाड़ें और महात्मा गांधी

ऊपर महात्मा गांधी के प्रयोगों का जो उल्लेख आया है, उससे स्पष्ट है कि महात्मा गांधी ने प्रथम तीन बाड़ों की अवगणना की है। निर्विकार संसर्ग, स्पर्श, एक शय्या-शयन और एकान्त में अकेली स्त्री को धर्मोपदेश—यह उनके जीवन में चलते रहे। महात्मा गांधी शील की नव बाड़ों के सम्बन्ध में अपना स्वयं का चिन्तन रखते थे। वे इस विषय में सापेक्ष दृष्टि से चलते रहे। नीचे काल क्रम से उनके विचारों को दिया जा रहा है :

१—एक भाई ने पूछा—"मेरी दशा दयनीय है, दफ्तर में, रास्ते में, रात में, पढ़ते समय, काम करते हुए और ईश्वर का नाम लेते समय भी वही विचार मन में आते रहते हैं। विचारों को किस तरह काबू में रखूं? स्त्री-मात्र के प्रति मातृ-भाव कैसे पैदा हो?" महात्मा गांधी ने जवाब दिया—"यह स्थिति हृदय-द्रावक है। यह स्थिति बहुतों की होती है। पर जब तक मन उन विचारों से लड़ता रहे, तब तक डरने का कोई कारण नहीं। आँखें दोष करती हों तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिए। कान दोष करें तो उनमें रुई भर लेनी चाहिए। आँखों को सदा नीची रख कर चलने की रीति अच्छी है। इससे उन्हें और कुछ देखने का अवकाश ही नहीं रहता। जहां गन्दी बातें होती हों, या गन्दे गीत गाये जा रहे हों, वहां से तुरन्त रास्ता लेना चाहिए। जीभ पर पूरा काबू हासिल करना चाहिए। पर विषय-वासना को जीतने का रामबाण उपाय तो रामनाम या ऐसा ही कोई मंत्र है[१]।" (२५-४-'२४)

२—ब्रह्मचर्य का यह अर्थ नहीं है कि मैं स्त्री-मात्र का, अपनी बहन का भी, स्पर्श न करूं। ब्रह्मचारी होने का यह अर्थ है कि जैसे कागज को छूने से मेरे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही स्त्री का स्पर्श करने से भी नहीं होना चाहिए। मेरी बहन बीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण मुझे उसकी सेवा करने से हिचकना पड़े तो वह ब्रह्मचर्य कौड़ी काम का नहीं। मुर्दे को छूकर हम जिस अविकार दशा का अनुभव कर सकते हैं; उसी अविकार दशा का अनुभव जब किसी परम सुन्दरी युवती को छूकर भी कर सकें, तभी हम सच्चे ब्रह्मचारी हैं[२]। (२६-२-'२५)

३—विवाहित जीवन में ब्रह्मचर्य-पालन के उपाय बताते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है :

(१) विवाहित पुरुष को अपनी स्त्री के साथ एकान्त में मिलना-जुलना बन्द करना होगा। थोड़ा विचार करने से हर आदमी देख सकता है कि संभोग के सिवा और किसी बात के लिए अपनी स्त्री से एकान्त में मिलने की जरूरत नहीं होती।

(२) रात में पति-पत्नी को अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए।

(३) दिन में दोनों को अच्छे कामों और अच्छे विचारों में सदा लगे रहना चाहिए।

(४) जिनसे अपने सद्विचार को उत्तेजना मिले, ऐसी पुस्तकें पढ़ें। ऐसे स्त्री-पुरुष के चरित्रों का मनन करें। और विषय-भोग में दुःख ही दुःख है, इसे सदा स्मरण रखें[३]।

जो भगवान को पाने के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत लेगा, उसे जीवन की लगाम ढीली कर देने से मिलनेवाले सुखों का मोह छोड़ना ही होगा। और इस व्रत के कड़े बन्धनों में ही सुख मानना होगा। वह दुनिया में रहे भले ही, पर उसका होकर नहीं रहेगा। उसका भोजन, उसका काम-धन्धा, उसके काम करने का समय, उसके मनबहलाव के साधन, उसका साहित्य, जीवन के प्रति उसकी दृष्टि, सभी साधारण जन-समुदाय से भिन्न होंगे[४]। (५-६-'२६)

१—अनीति की राह पर पृ० ५६, ६०

२—वही पृ० ६४-६५

३—वही पृ० ६८-६६

४—वही पृ० १०६

४—आज मेरे ५६ साल पूरे हो चुके हैं ; फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। यह असि-धारा व्रत है—इस बात को दिन-दिन अधिकाधिक समझ रहा हूं। निरन्तर जाग्रत रहने की आवश्यकता देख रहा हूं।

ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय—'जीभ' को वश में करना ही होगा।''''''हमारी खुराक थोड़ी, सादी और बिना मिर्च मसाले की होनी चाहिए। ब्रह्मचर्य का आहार वनपक्व फल है। दुग्धाहार से यह कष्ट-साध्य हो जाता है।

बाह्य उपचारों में जैसे आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है, वैसे ही उपवास को भी समझना चाहिए। इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि उन पर चारों ओर से, ऊपर और नीचे से, दसों दिशाओं से घेरा डाला जाय, तभी काबू में रहती हैं। आहार के बिना वे काम नहीं कर सकतीं। उपवास से इन्द्रियों को काबू में लाने में मदद मिलती है। उपवास का सच्चा उपयोग वहीं है, जहाँ मन भी देह-दमन में साथ देता है। मन में विषय-भोग के प्रति विरक्ति हो जानी चाहिए। विषय-वासना की जड़ें तो मन में ही होती हैं। उपवास के बिना विषयासक्ति का जड़ मूल से जाना संभव नहीं। अतः उपवास ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अङ्ग है।

संयमी और स्वच्छंद, त्यागी और भोगी के जीवन में भेद होना ही चाहिए। दोनों का भेद स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। आँख का उपयोग दोनों करते हैं। पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है। भोगी नाटक सिनेमा में लीन रहता है। कान से दोनों काम लेते हैं। पर एक भगवद् भजन सुनता है, दूसरे को विलासी गाने सुनने में आनन्द आता है। जागरण दोनों करते हैं। पर एक जाग्रत अवस्था में हृदय-मन्दिर में विराजनेवाले राम को भजता है, दूसरे को नाच-रंग की धुन में सोने का खयाल ही नहीं रहता। खाते दोनों हैं। पर एक शरीररूपी तीर्थ क्षेत्र की रक्षार्थ देह को भोजनरूपी भाड़ा देता है, दूसरा जबान के मजे की खातिर देह में बहुत सी चीजों को ठूंसकर उसे दुर्गंधमय बना देता है। यों दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अंतर दिन-दिन बढ़ता जाता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य के मानी है, मन-वचन-काय से सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम। इस संयम के लिए ऊपर बताये हुए त्यागों की आवश्यकता है, यह मुझे आज भी दिखाई दे रहा है।

प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो अपनी कमियों को हर वक्त देखता रहेगा। अपने मन के कोने में छिपे हुए विकारों को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने की कोशिश सदा करता रहेगा।

जब तक विचारों पर यह काबू न मिल जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आये, तब तक ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण नहीं। उन्हें वश में करने का मानी है, मन को वश में करना।

जो लोग ईश्वर साक्षात्कार के उद्देश्य से, जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या मैंने ऊपर की है, वैसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, वे अपने प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उनके निराश होने का कोई कारण नहीं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते[1] ॥

अतः रामनाम और रामकृपा, यही आत्मार्थी का अन्तिम साधन है, इस सत्य का साक्षात्कार मैंने हिन्दुस्तान आने पर किया। आत्म-कथा ख० ३ अ० ८

५—विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्संदेह, जो अन्य इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकारी बातें सुनना, आँख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारनेवाली चीज को छूना और फिर भी जननेंद्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेंद्रिय को रोकने का निश्चय करनेवाले के लिए इंद्रिय-मात्र का, उनके विकारों से रोकने का निश्चय होना ही चाहिए[2]। (५-८-'३०)

६—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अपनी या परायी स्त्री के लिए विकारवश होने में, उन्हें विकारी बनकर छूने में, ब्रह्मचर्य का भंग नहीं

१—निराहार रहनेवाले के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस बना रहता है। ईश्वर के दर्शन से वह भी चला जाता है। गीता २.५९

२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) : पृ० ७

होता। यह भयकंर भूल है। इसमें स्थूल ब्रह्मचर्य का सीधा भंग है। इस तरह रमनेवाले स्त्री-पुरुष अपने को और दुनिया को धोखा देते हैं। ...ऐसे लोगों की अन्तिम क्रिया बाकी रहती है, तो उसका श्रेय उन्हें नहीं, हालात को है। वे पहले ही मौके पर फिसलनेवाले हैं[१]। (१६-६-'३२)

७—ब्रह्मचर्य के पालन के लिए सिर्फ इतना ही काफी नहीं है कि ब्रह्मचारी स्त्री या पुरुष को बुरी नजर से न देखें। लेकिन वह मन से भी विषयों का चिन्तन या भोग न करे।

अपनी पत्नी या दूसरी स्त्री हो, अपना पति हो या दूसरा पुरुष हो किसी के भी विकारमय स्पर्श, या वैसी बातचीत या फिर कोई वैसी ही चेष्टा से भी स्थूल ब्रह्मचर्य टूटता है। यह विकारमय चेष्टा यदि पुरुष-पुरुष के बीच ही हो या स्त्री-स्त्री के बीच ही हो या दोनों की किसी चीज के लिए हो, तो भी स्थूल ब्रह्मचर्य का भंग होता है[२]।

८—स्त्री-संग न करने में जो ब्रह्मचर्य का आदि और अन्त मानते हैं, वे ब्रह्मचारी नहीं हैं।......दूसरे सब भोग भोगते हुए जो पुरुष स्त्री-संग से दूर रहने की इच्छा रखता होगा, या ऐसी कोई स्त्री पुरुष-संग से दूर रहना चाहती होगी, उसकी कोशिश बेकार है। कूएँ में जानबूझ कर उतर कर पानी से अछूता रहने के प्रयत्न जैसा ही यह प्रयत्न है। जो स्त्री-पुरुष संग के त्याग को आसान बनाना चाहते हैं, उन्हें उसे उत्तेजना देनेवाली सभी जरूरी चीजें छोड़नी चाहिएँ। उन्हें जीभ के स्वाद छोड़ने चाहियें, शृंगार-रस छोड़ना चाहिए। और विलास मात्र छोड़ना चाहिए। मुझे जरा भी शक नहीं कि ऐसे लोगों के लिए ब्रह्मचर्य आसान है[३]। (१६-६-'३२)

६—गीता के दूसरे अध्याय में कहा है कि "निराहारी के विषय तबतक भले ही दब गये, जब तक निराहार जारी रहे। मगर उसका रस नहीं मिटता। वह तो तभी मिटेगा जब पर के यानी सत्य के यानी ब्रह्म के दर्शन हो जायँगे।"......इस श्लोक में,......पूर्ण सत्य कह दिया है। उपवास से लगाकर जितने संयमों की कल्पना की जा सकती है, वे सब ईश्वर की कृपा के बिना बेकार हैं। ब्रह्म का दर्शन यानी ब्रह्म हृदय में निवास करता है, ऐसा अनुभव ज्ञान। यह न हो तब तक रस नहीं मिटता। इसके आते ही रस मात्र सूख जाते हैं। ......यह ज्ञान लगातार अभ्यास से ही होता है।......सत्य के दर्शन के अन्त में परमानन्द है[४]। (१६-६-'३२)

१०—......उपवास करके उलटे सिर लटक कर, हाथ सुखाकर, पैर सुखाकर किसी भी तरह विषयों की निवृत्ति करनी ही है[५]। (२५-६-'३२)

११—शुद्ध प्रेम में शरीर-स्पर्श करने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु उसका अर्थ यह तो नहीं है कि स्पर्श मात्र अपवित्र होता है। मेरा मेरी माँ पर शुद्ध प्रेम था। जब उसके पांव दर्द करते, तब मैं उन्हें दबाता था। उसमें कोई अपवित्रता नहीं थी। विकारी स्पर्श दूषित है। अतः मैं ऐसा कहूंगा कि शरीर-स्पर्श के बिना शुद्ध प्रेम अशक्य है, ऐसा कहनेवाले ने शुद्ध प्रेम समझा ही नहीं[६]। (२६-५-'३७)

१२—......मेरा ब्रह्मचर्य पुस्तकीय नहीं है। मैंने तो अपने तथा उन लोगों के लिए जो मेरे कहने पर इस प्रयोग में शामिल हुए हैं, अपने ही नियम बनाए हैं। और अगर मैंने इसके लिए निर्दिष्ट निषेधों का अनुसरण नहीं किया है, तो स्त्रियों को धार्मिक साहित्य में जो सारी बुराई और प्रलोभन का द्वार बताया गया है, उसे मैं इतना भी नहीं मानता। पुरुष ही प्रलोभन देनेवाला और आक्रमण करनेवाला है। स्त्री के स्पर्श से वह अपवित्र नहीं होता; बल्कि वह खुद ही उसका स्पर्श करने लायक पवित्र नहीं होता। लेकिन हाल में मेरे मन में संदेह जरूर उठा है कि स्त्री या पुरुष के संपर्क में आने के लिए ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी को किस तरह की मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। मैंने जो मर्यादायें रखी हैं, वे मुझे पर्याप्त नहीं मालूम पड़ती, लेकिन वे क्या होनी चाहिएँ, यह मैं नहीं जानता[७]। हरिजन सेवक, (२३-७-'३८)

१—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४२

२—वही पृ० ६१

३—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४०-४१

४—वही पृ० ४२-४४

५—वही पृ० ४५

६—भगवनवाणी पृ० १५५

७—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२, १०३-४

१३—ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक मानी जानेवाली बाड़ को मैंने हमेशा के लिए आवश्यक नहीं माना है। जिसे किसी बाह्य रक्षा की जरूरत है, वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं। इसके विपरीत, जो बाड़ को तोड़ने के ढोंग से प्रलोभनों की खोज में रहता है, वह ब्रह्मचारी नहीं, किन्तु मिथ्याचारी है।

ऐसे निर्भय ब्रह्मचर्य का पालन कैसे हो? मेरे पास इसका कोई अचूक उपाय नहीं, क्योंकि मैं पूर्ण दशा को नहीं पहुंचा हूं। पर मैंने अपने लिए जिस वस्तु को आवश्यक माना है, वह यह है:

विचारों को खाली न रहने देने की खातिर निरतर उन्हें शुभ चिन्तन में लगाये रहना चाहिए।

रामनाम का इकतारा तो चौबीसों घंटे, सोते हुए भी, श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से, चलता रहना चाहिए।

वाचन हो तो शुभ, और विचार किया जाय, तो अपने पारमार्थिक कार्य का।

विवाहितों को एक-दूसरे के साथ एकान्त-सेवन नहीं करना चाहिए।

एक कोठरी में एक चारपाई पर नहीं सोना चाहिए।

यदि एक दूसरे को देखने से विकार पैदा होता हो तो, अलग-अलग रहना चाहिए।

यदि साथ-साथ बातें करने में विकार पैदा होता हो, तो बातें नहीं करनी चाहिए।

जो मनुष्य कान से बीभत्स या अश्लील बातें सुनने में रस लेते हैं, आंख से स्त्री की तरफ देखने में रस लेते हैं, वे ब्रह्मचर्य का भंग करते हैं।

अनेक······ब्रह्मचर्य-पालन में हताश हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे श्रवण, दर्शन, वाचन, भाषण आदि की मर्यादा नहीं जानते।······जो पुरुष स्त्री के चाहे जिस अङ्ग का सविकार स्पर्श करता है, उसने ब्रह्मचर्य का भङ्ग किया है, यह समझना चाहिए।

जो ऊपरी मर्यादा का ठीक-ठीक पालन करता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सुलभ हो जाता है।

आलसी मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। वीर्य-सग्रह करनेवाले में एक अमोघ-शक्ति पैदा होती है। उसे अपने शरीर और मन को निरंतर कार्यरत रखना ही चाहिए।

हर एक साधक को ऐसा सेवा-कार्य खोज लेना चाहिए कि जिससे उसे विषय-सेवन करने के लिए रंचमात्र भी समय न मिले।

साधक को अपने आहार पर पूरा काबू रखना चाहिए। वह जो कुछ खाये, वह केवल औषधिरूप में शरीर-रक्षा के लिए, स्वाद के लिए कदापि नहीं। इसलिए मादक पदार्थ, मसाले वगैरह उसे खाना ही नहीं चाहिए। ब्रह्मचारी मिताहारी नहीं, किन्तु अल्पाहारी होना चाहिए।

सब अपनी मर्यादा को बांध लें।

उपवासादि के लिए ब्रह्मचर्य-पालन में अवश्य स्थान है।

'क्षणिक रस के लिए मैं क्यों तेजहीन होऊं? जिस वीर्य में प्रजोत्पत्ति की शक्ति भरी हुई है, उसका पतन क्यों होने दूं?······' इस विचार का मनन यदि साधक नित्य करे, और रोज ईश्वर-कृपा की याचना करे, तो संभवतः वह इस जन्म में ही वीर्य पर काबू प्राप्त कर ब्रह्मचारी बन सकता है[1]। (२८-१०-'३६)

१४—पर मेरा ब्रह्मचर्य उसका पालन करने के लिए बने हुए कट्टर नियमों के बारे में कुछ नहीं जानता। मैंने तो जब जैसी जरूरत देखी, उसके अनुसार नियम बना लिये। लेकिन मेरा यह विश्वास कभी नहीं रहा कि ब्रह्मचर्य का उपर्युक्त रूप में पालन करने के लिए स्त्रियों के किसी भी तरह के संसर्ग से बिल्कुल बचना चाहिए। जो संयम अपने विपरीत वर्ग के सब संसर्गों से, फिर वह विकार के निमित्त क्यों न हो, बचने के लिए कहे, वह बलात् संयम है, जिसका कोई महत्त्व नहीं। इसलिए सेवा या काम-काज के लिए स्वाभाविक संसर्गों पर कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा[2]। (४-११-'३६)

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७-१०

२—वही पृ० २६-३१

१५—एक भाई ने गांधीजी से प्रश्न किया : "मैं जानना चाहता हूं कि क्या आप पुरुष और स्त्री सत्याग्रहियों का स्वच्छन्दतापूर्वक मिलना-जुलना और उनका एक साथ काम करना पसन्द करेंगे अथवा अलग इकाइयों के रूप में उनका संगठन करना'''।"

गांधीजी ने उत्तर दिया : "मैं तो अलग इकाइयां रखना ही पसन्द करूंगा। औरत के पास औरतों के बीच करने के लिए काफी से ज्यादा काम है।...सिद्धान्त की दृष्टि से भी मैं स्त्री-पुरुष दोनों के अलग-अलग अपना काम करने में विश्वास रखता हूं। लेकिन इसके लिए कोई कठोर नियम नहीं बना सकता। दोनों के बीच के सम्बन्ध पर विवेक का नियंत्रण होना चाहिए। दोनों के बीच कोई अंतराय न होना चाहिए। उनका परस्पर का व्यवहार प्राकृतिक और स्वेच्छापूर्ण होना चाहिए[1]।" (१-६-'४०)

१६—...जो ब्रह्मचर्य-पालन के सामान्य नियमों की अवगणना करके वीर्य-संग्रह की आशा रखते हैं, उन्हें निराश होना पड़ता है, और कुछ तो दीवाने-जैसे बन जाते हैं। दूसरे निस्तेज देखने में आते हैं। वे वीर्य-संग्रह नहीं कर सकते, और केवल स्त्री-संग न करने में सफल हो जाने पर अपने आपको कृतार्थ समझते हैं[2]। (११-१०-'४१)

१७—ब्रह्मचर्य स्त्रियों के साथ पवित्र सम्बन्ध रखने से, या उनके आवश्यक स्पर्श से अशुद्ध नहीं हो जायगा। ब्रह्मचारी के लिए स्त्री और पुरुष का भेद नहीं-सा हो जाता है। इस वाक्य का कोई अनर्थ न करे। इसका उपयोग स्वेच्छाचार का पोषण करने के लिए कभी नहीं होना चाहिये[3]। (१०-११-'४२)

१८—अगर मन कमजोर है तो बाहर की सब सहायता बेकार है, और मन पवित्र है, तो सब अनावश्यक है। इसका यह मतलब कदापि नहीं समझना चाहिए कि एक पवित्र मनवाला आदमी सब तरह की छूट लेते हुए भी बेदाग बचा रह सकता है। ऐसा आदमी खुद ही अपने साथ कोई छूट न लेगा। उसका सारा जीवन उसकी अंदरूनी पवित्रता का सच्चा सबूत होगा[4]। (२-५-'४६)

१९—"मैं पुरानी धारणा से जैसा कि हम उसे जानते हैं, आगे जाता हूं। मेरी परिभाषा ढिलाई को स्थान नहीं देती। मैं उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहता—जिसका अर्थ है स्त्री का स्पर्श न करना। मैं जो आज करता हूं वह मेरे लिए नया नहीं है। जहां तक मैं अपने को जानता हूं, मैं आज वही विचार रखता हूं जो कि मैं ४५ वर्ष पूर्व, जब कि मैंने व्रत ग्रहण किया था, रखता था। व्रत लेने के पहले जब मैं इंग्लैण्ड में विद्यार्थी था, तब भी मैं स्वतंत्रता पूर्वक स्त्रियों से मिलता जुलता था, और फिर भी वहां रहते समय मैं अपने को ब्रह्मचारी कहता था। मेरे लिए, ब्रह्मचर्य वह विचार और चर्या है, जो कि ब्रह्म के साथ सम्पर्क कराता है और उस तक ले जाता है। दयानन्द इस अर्थ में ब्रह्मचारी नहीं थे। निश्चय ही मैं भी नहीं हूं, परन्तु मैं उस दशा को पहुंचने की चेष्टा कर रहा हूं और मेरे विचार से मैंने काफी प्रगति की है।

मैं उस अर्थ में आधुनिक नहीं हूं जिस अर्थ में आप समझते हैं। मैं उतना ही पुराना हूं, जितनी कल्पना की जा सकती है। और अपने जीवन के अन्त तक वैसा ही रहने की आशा करता हूं[5]। (१७-३-'४७)

२०—जिस ब्रह्मचर्य की चर्चा की है, उसके लिए कैसी रक्षा होनी चाहिए? जवाब तो सीधा है। जिसे रक्षा की जरूरत हो, वह ब्रह्मचर्य ही नहीं। मगर यह कहना आसान है। उसे समझना और उस पर अमल करना बहुत मुश्किल है। यह बात पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए ही सच्ची है। ''''''जो ब्रह्मचारी बनने की कोशिश कर रहा है, उसके लिए तो अनेक बंधनों की जरूरत है। आम के छोटे पेड़ को सुरक्षित रखने के लिए उसके चारों तरफ बाड़ लगानी पड़ती है। छोटा बच्चा पहले मां की गोद में सोता है, फिर पालने में और फिर चालन-गाड़ी लेकर चलाता है। जब बड़ा होकर खुद चलने-फिरने लगता है, तब सहारा छोड़ देता है। न छोड़े तो उसे नुकसान होता है। ब्रह्मचर्य पर भी यही चीज लागू होती है।

ब्रह्मचर्य की मर्यादा या बाड़ एकादश व्रतों का पालन है। मगर एकादश व्रतों को कोई बाड़ न माने। बाड़ तो किसी खास हालत

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ ४०
२—आरोग्य की कुंजी पृ० ३०
३—वही पृ० ३६-३७
४—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ४५-४६
५—My days with Gandhi pp. 176-77

टॉल्स्टॉय लिखते हैं—"सभी बाह्य इन्द्रियों को लुभानेवाली चीजों से विकार उत्पन्न होता है। घर की सजावट, चमकीले कपड़े, सङ्गीत, सुगन्ध, स्वादिष्ट भोजन, मृदुल स्पर्शवाली चीजें—सभी विकारोत्तेजक होती हैं[१]।"

एकबार लड़कियाँ लड़कों की हरारतों से अपना बचाव कैसे करें—यह प्रश्न महात्मा गांधी के सामने आया। इन हरकतों का आधार कुछ अंश में स्वयं लड़कियाँ ही किस प्रकार हैं, यह बताते हुए महात्मा गांधी ने लिखा :

"मुझे डर है कि आजकल की लड़की को भी तो अनेकों की दृष्टि में आकर्षक बनना प्रिय है। वे अति साहस को पसंद करती हैं। आजकल की लड़की वर्षा या धूप से बचने के उद्देश्य से नहीं, बल्कि लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए तरह-तरह के भड़कीले कपड़े पहनती है। वह अपने को रंगकर कुदरत को भी मात करना और असाधारण सुन्दर दिखाना चाहती है। ऐसी लड़कियों के लिए कोई अहिंसात्मक मार्ग नहीं है। हमारे हृदय में अहिंसा की भावना के विकास के लिए भी कुछ निश्चित नियम होते हैं। अहिंसा की भावना बहुत महान् प्रयत्न है। विचार और जीवन के तरीके में यह क्रांति उत्पन्न कर देता है। यदि लड़कियाँ......बताये गये तरीके से अपने जीवन को बिल्कुल ही बदल डालें तो उन्हें जल्दी ही अनुभव होने लगेगा कि उनके सम्पर्क में आनेवाले नौजवान उनका आदर करना तथा उनकी उपस्थिति में भद्रोचित व्यवहार करना सीखने लगे हैं।"

टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी दोनों ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए आगम के 'विभूषानुपाति' न होने की बात का समर्थन किया है। ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुष दोनों ही अपने वेषभूषा और रहन-सहन में सादा हों, यह ज्ञानियों का निष्कर्ष है। 'मा च संस्कुरु'—शरीर-संस्कार मत करो, यह सूत्र स्त्री-पुरुष दोनों को आपत से बचाता है।

कोट (ढाल ११) : इन्द्रिय-जय और विषय-परिहार

रूपादि रसं मा पिपास'—रूप आदि रसों का पिपासु मत हो। यही दसवां समाधि-स्थान है। आगम में दसवें समाधि-स्थान में ब्रह्मचारी के लिए शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच दुर्जय काम-गुणों का परिवर्जन आवश्यक बतलाया है[२]। ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में प्रेम अनुराग न करे—*'विसएसु मणुन्नेसु पेमं नाभिनिवेसए'* (दश० ८.५८)। *वह आत्मा को शीतल कर तृष्णा-रहित हो जीवन-यापन करे*—*'विणीय-तण्हो* **विहरे सीईभूएण अप्पणा'** (दश० ८.५६)।

श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—ये क्रमशः उपर्युक्त इन्द्रियों के विषय हैं। ये विषय अच्छे या बुरे दो तरह के होते हैं। स्वामीजी ने बतलाया है कि अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में मध्यस्थ भाव रखना—निरपेक्ष रहना यही कामगुणों का जीतना है। ब्रह्मचारी के लिए अच्छे-बुरे सब विषयों में समभाव रखना परमावश्यक है। स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है—"मनोरम शब्दादि में हेत—प्रीति न करना और अमनोरम के प्रति द्वेष नहीं करना, यही इन्द्रियों का निग्रह, दमन, वश करना और संवरण है।

शब्दादिक पांचूं उपरे राग धेष न करनी हेत पीत।
इम निग्रह करणी दमणी जीतणी, वस करणी संवरणी इण रीत[३]॥
सरतइन्द्री नें निग्रह इण विध करणी, मन गमता शबद सूं मगन न थाय।
अमनोगम उपरे धेष न आणे, तिण सरतइन्द्री निग्रह कीधी छे ताय॥
सरतइन्द्री नें निग्रह कही जिण रीतें, दमणी नें जीतणी इमहीज जाणो।
इमहिज वस करणी ने संवर लेणी, या पांचां रो परमारथ एक पिछांणो[४]॥

१—स्त्री और पुरुष पृ० १४६

२—उत्त० १६.१० :

सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए॥

३—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड: १) : इन्द्रियवादी री चौपइ ढाल १४ दोहा ६

४—वही गा० ५.६

इस तरह काम-गुणो के परिहार का अर्थ है—सब इन्द्रियों का सम्पूर्ण संयम। जो ब्रह्मचारी काम-गुणों का परिहार अथवा इन्द्रिय-संयम करता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सहज-साध्य हो जाता है।

स्वामीजी ने इस नियम को सर्वोपरि महत्त्व का स्थान दिया है। प्रथम नौ नियम बाड़ों की तरह हैं और दसवाँ नियम उन नौ नियमों के चतुर्दिक् परकोटे की तरह है। जो परकोटे की रक्षा नही करता, वह अन्य बाड़ों के द्वारा अपने ब्रह्मचर्य रूपी खेत की रक्षा नहीं कर सकता। जिस तरह परकोटे के भङ्ग होने पर बाड़ों के भङ्ग होने में समय नही लगता, उसी तरह इस नियम के अभाव में अन्य नियमों के भङ्ग होते देर नही लगती (देखिए पृ० ६४ तथा ६५ टि० १)। परकोटे के अभाव का अर्थ है—बाड़ों का नाश, बाड़ों के नाश का अर्थ है—शस्य का नाश। इसी तरह इन्द्रियों के संयम के अभाव का अर्थ है—दूसरे नियमों का नाश और उन नियमों के नाश का अर्थ है—मूल ब्रह्मचर्य का नाश।

स्वामीजी के भाव इस प्रकार रखे जा सकते हैं :

कान शब्द को ग्रहण करता है और शब्द कान का ग्राह्य विषय है। जिस तरह संगीत में मूर्च्छित रागातुर हरिण बींधा जाकर अकाल में ही मरण पाता है, उसी तरह शब्दों में तीव्र आसक्ति रखनेवाला पुरुष शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

चक्षु रूप को ग्रहण करता है और रूप चक्षु का ग्राह्य विषय है। जिस तरह रागातुर पतङ्ग दीपक की ज्योति में पड़कर अकाल में ही मरण पाता है, उसी तरह रूप में आसक्त ब्रह्मचारी शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

नाक गंध को ग्रहण करता है और गंध नाक का ग्राह्य विषय है। जिस तरह औषधि की सुगन्ध में आसक्त रागातुर सर्प पकड़ा जाकर अकाल मे ही मारा जाता है, उसी तरह से सुगन्ध में तीव्र आसक्ति रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

जिह्वा रस को ग्रहण करती है और रस जिह्वा का ग्राह्य विषय है। जिस तरह मांस में आसक्त रागातुर मछली लोहे के कांटे से भेदी जाकर अकाल ही मे मारी जाती है, उसी तरह रस में तीव्र मूर्च्छा रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

शरीर स्पर्श का अनुभव करता है और स्पर्श शरीर का विषय है। जैसे ठंडे जल में आसक्त भैंस मगरमच्छ से पकडी जाकर अकाल में ही मारी जाती है, उसी तरह स्पर्श में तीव्र मूर्च्छा रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

मन भाव को ग्रहण करता है और भाव मन का विषय है। जिस तरह कामाभिलाषी रागातुर हाथी हथिनी के पीछे भागता हुआ कुमार्ग में पड़ कर अकाल ही में मारा जाता है, उसी तरह भाव में तीव्र आसक्ति रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

महात्मा गांधी ने लिखा है : "ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है—ब्रह्म-प्राप्ति की चर्या। संयम के बिना ब्रह्म मिल ही नही सकता। संयम में सर्वोपरि इन्द्रिय-संयम है[१]।" "इन्द्रियों को निरङ्कुश छोड़ देनेवाले का जीवन कर्णधारहीन नाव के समान है, जो निश्चय पहली चट्टान से ही टकरा कर चूर-चूर हो जायगी[२]।" "निस्संदेह······अन्य इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इन्द्रिय (जननेन्द्रिय) को रोकने······का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है[३]।" "हम जननेन्द्रिय का नियमन करना चाहते हैं तो हमें सभी इन्द्रियों पर अंकुश रखना होगा। आँख, कान, नाक, जीभ, हाथ और पांव की लगाम ढीली कर दी जाय तो जननेन्द्रिय को काबू में रखना असंभव होगा[४]।"

भगवान महावीर और स्वामीजी ने जो कहा है उसी को हम महात्मा गांधी की वाणी में अन्य शब्दो में पाते हैं। अनुभव की वाणी एक ही है कि इन्द्रिय-जय बिना ब्रह्मचर्य में सफलता असंभव है।

महात्मा गांधी लिखते हैं : "हृदय पवित्र हो तो इन्द्रिय को विकार की प्राप्ति ही न रहे। जैसे-जैसे हम लोग पवित्रता में चढ़ते हैं, वैसे-वैसे विकारो का शमन होता है। विकार इन्द्रियों में हैं ही नही। इन्द्रियाँ मनोविकार के प्रदर्शित होने के स्थान हैं। इनके द्वारा हम मनोविकार को पहचानते हैं। अतः इन्द्रियो के नाश करने से मनोविकार जाता नही। हिजड़े लोग विकार से भरे-पूरे देखे जाते हैं। जन्म से नपुसक पुरुष में इतने विकार होते हैं कि वे अनेक काम करते हुए देखे जाते हैं[५]।"

१—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० १०६
२—वही पृ० १०२
३—वही पृ० ६
४—वही पृ० ४१
५—वही पृ० १०६-७

भगवान महावीर ने कहा है : "इन्द्रियों और मन के विषय (शब्दादि) रागी मनुष्य को ही दुःख के हेतु होते हैं। ये ही विषय वीत-राग को कदाचित् किंचित् मात्र भी दुःख नहीं पहुंचा सकते। शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भाव—इन विषयों से विरक्त पुरुष शोक रहित होता है।......कामभोग—शब्दादि समभाव के हेतु नही हैं और न विकार के हेतु हैं। किन्तु जो उनमें परिग्रह—राग अथवा द्वेष करता है, वही मोह—राग-द्वेष के कारण विकार उत्पन्न करता है। जो इन्द्रियों के शब्दादि विषयों से विरक्त है, उसके लिए ये सब विषय मनोज्ञता या अमनोज्ञता का भाव पैदा नहीं करते। जो वीतराग है वह सर्व तरह से कृतकृत्य है...[१]।"

स्वामीजी ने इसके मर्म का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है "इन्द्रियों के विकार राग-द्वेष हैं। वे इन्द्रियों और उनके गुणो से अलग हैं। इन्द्रियां शब्दादि सुनती-देखती आदि हैं। राग होने पर शब्दादिक प्रिय लगते हैं। शब्दादिक को यथातथ्य जानने-देखने से पाप नहीं लगता। पाप तो राग-द्वेष आने से लगता है। राग-द्वेष ही विषय-विकार हैं। राग और द्वेष के क्षय होने से वीतराग-गुण की प्राप्ति होती है[२]।"

इसी बात को स्वामीजी ने दूसरे शब्दो में इस प्रकार कहा है : -

"पाँचो इन्द्रियाँ और राग-द्वेष के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। इन्द्रियों के स्वभाव में दोष नही। कषाय और राग-द्वेष के परिणाम बुरे हैं। शब्दादिक काम और भोग हैं; वे समभाव के हेतु नहीं और न वे असमभाव के हेतु हैं। इनसे विकार की उत्पत्ति नहीं होती। शब्दादिक काम-भोगों पर राग-द्वेष लाना ही विकार, विषय और कषाय है[३]।"

काम-भोग अनर्थ के मूल नही हैं। उनमें गृद्धि भाव अनर्थ का मूल है। इसी तरह इन्द्रियाँ भी शत्रु नहीं हैं। शत्रु तो शब्दादिक से राग-द्वेष के परिणाम हैं[४]। यदि इन्द्रियाँ ही पाप की हेतु हो तब तो वे घटें वैसा उपाय करना ही धर्म हुआ[५]।

पादरी लोग ब्रह्मचारी रहने के लिए अपनी इन्द्रिय को काट लेते थे। इस पर टीका करते हुए टॉलस्टॉय ने लिखा है :

"खासकर अपनी तथा दूसरों की इन्द्रियों को काटना तो सच्ची ईसाइयत के साफ़-साफ़ विपरीत है। ईसा ने ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश

१—उत्त० ३२ : १००, ४७, १०१, १०६, १०८

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड: १) : इन्द्रियवादी री चौपई ढाल १२:४१-४२

इंदरयां रा विकार राग धेष छे, ते इंदरयां रा गुण थी न्यारा रे।
इंदरयां तो शब्दादिक सुणे देखले, शब्दादिक राग सू लागे प्यारा रे॥
शब्दादिक जथातथ जाणयां देषीयां, पाप न लागे लिगारो रे।
पाप लागे छे राग धेष आणियां, राग धेष छे विषय विकारो रे॥

३—वही ढाल १२.३७-३६ :

पांचूं इंदरयां ने राग धेष रो रे, सभाव जूओ २ छे तांम रे।
इंदरयां रा सभाव मांहें अवगुण नहीं रे, कषाय तणा खोटा परिणाम रे॥
काम नें भोग शब्दादिक तेह थी रे, समता नहीं पामें जीव लिगार रे।
असमता पिण नहीं पामें छे एहथी रे, यां सू मूल न पामें जीव विकार रे॥
जो राग ने धेष आणे त्यां ऊपर रे, ते हिज विकार विषय कषाय रे।
ते कह्यो छे उतराधेन बत्तीस में रे, सो उपरली पहली गाथा मांय रे॥

४—वही ढाल १४ : ३७ :

काम नें भोग अनर्थ रा मूल नांहीं, त्यां सू गिध पणे अनर्थ रो मूल जाणो।
ज्यूं इंदरयां पिण सत्रू छै नांहीं, सत्रू तो शब्दादिक सूं राग पिछांणो॥

५—वही ढाल ११ : दो० ५ :

जो इंदरयां सावद्य हुवे, तो इन्द्री घटे ते करणो उपाय।
जे इन्द्रयां नें सावद्य कहे, तिणरी सरधा रो ओहीज न्याय॥

दिया है पर यथार्थत. उसी ब्रह्मचर्य का सच्चा मूल्य और महत्त्व है, जिसका अन्य सद्गुणों की भाँति श्रद्धापूर्वक हर संकल्प से विकारों के साथ युद्ध करने के लिए पालन किया जाता है। उस संयम का महत्त्व ही क्या, जहाँ पाप की सम्भावना ही नहीं। यह तो वही बात हुई कि कोई मनुष्य अधिक खाने के प्रलोभन से बचने के लिए किसी ऐसी दवा को ले जिससे उसकी भूख ही कम हो जाय, या कोई युद्धप्रिय आदमी अपने को लड़ाई में भाग लेने से बचाने के लिए अपने हाथ पैर बंधवा ले; अथवा गाली देने की बुरी आदतवाला अपनी जबान को ही इस खयाल से काट डाले कि उसके मुंह से गाली निकलने ही न पावे। परमात्मा ने मनुष्य को ठीक वैसा ही पैदा किया है जैसे कि वह यथार्थ में है। उसने उसकी मरणाधीन काया में प्राणों को इसलिए प्रतिष्ठित किया है कि वह शारीरिक विकारों को अपने अधीन कर के रखे। यही संघर्ष तो मानव-जीवन का रहस्य है। यह शरीर उसे इसलिए नहीं मिला है कि ईश्वरप्रदत्त कार्य के लिए स्वयं को या दूसरे को विकलांग बना दे।

"मनुष्य पूर्ण बनने के लिए बनाया गया है। "ऐ मनुष्य, अपने स्वगर्स्थ पिता के समान पूर्ण बन।" इस पूर्णता को प्राप्त करने की कुंजी ब्रह्मचर्य है। केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य नहीं, बल्कि मानसिक भी—विषय-वासना का सम्पूर्ण अभाव।

"धर्माचरण कल्याणप्रद होता है (ईसा ने कहा है मेरा जुआ और बोझ हलका है) और हर प्रकार की हिंसा की निन्दा करता है। यदि वह आघात या कष्ट दूसरे को पहुँचाता हो, तब तो पाप ही है। पर खुद अपने उपर भी ऐसा अत्याचार करना नियमों का भङ्ग करना है।

"विवाहित जीवन में भी ईसा ने संयम पर ज्यादा-से-ज्यादा जोर दिया है। मनुष्य के केवल एक ही पत्नी होनी चाहिए। इस पर शिष्यों ने शका की (पद्य १०) कि यह सयम तो बड़ा मुश्किल है; एक ही पत्नी से काम चलना तो नितान्त कठिन है। इस पर ईसा ने कहा कि यद्यपि मनुष्य जन्म-जात अथवा मनुष्यों के द्वारा बनाये गये नपुंसक पुरुष की भाँति विषय-भोग से अलग नहीं रह सकते, तथापि कई ऐसे लोग हैं जिन्होंने उस स्वर्गराज्य की अभिलाषा से अपने को नपुंसक बना लिया है, अर्थात् आत्मबल से विकारों को जीत लिया है और प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह इनका अनुकरण करे। 'स्वर्गीय राज्य की अभिलाषा से अपने को नपुंसक बना लिया।' इन शब्दों का अर्थ—'शरीर पर आत्मा की विजय करना' होना चाहिए न कि जननेन्द्रिय को मिटा देना?

"केवल आत्मा ही जीवन देनेवाली है। ऐच्छिक रूप से या जबरन मनुष्य को विकलांग कर देना धर्म की आत्मा के बिल्कुल विपरीत है[1]।

"वासना शरीर का धर्म तो है नहीं। यह तो एक मानसिक वस्तु है। वैषयिकता से बचने के लिए विचार-शुद्धि परमावश्यक है। प्रलोभनों के सामने आने पर जो विकारोद्भव होता है, अन्तर्युद्ध ही उसका उपाय है।

"इन्द्रिय-विनाश करना तो उसी सिपाही का सा काम है, जो कहता है कि मैं लड़ाई पर जाऊँगा, पर तभी जब मुझे आप यकीन दिला दो कि निश्चय ही मेरी विजय होगी। ऐसा सिपाही सच्चे शत्रुओं से तो दूर ही दूर भागेगा, पर काल्पनिक शत्रुओं से अलबत्ता लड़ेगा। वह कभी युद्ध-कला सीख ही नहीं सकता। उसकी पराजय ही होगी[2]।"

ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में इन्द्रियों की स्वच्छन्दता और शब्दादिक विषयों में आसक्ति के दुष्परिणाम बतलानेवाली दो कथाएँ उपलब्ध हैं। पहली कथा कछुए की है। एक दिन सूर्यास्त हुए काफी समय हो चुका था। सन्ध्या की वेला बीत चुकी थी, मनुष्यों का आवागमन बन्द हो चुका था, उस समय दो कछुए द्रह से बाहर निकल मयंगतीर द्रह के आस-पास आजीविका के लिए फिरने लगे। उस समय दो पापी सियार आहार के लिए वहाँ आये। सियारों को देख कछुओं ने अपने हाथ, पाँव, ग्रीवा आदि अङ्गों को अपने शरीर में छिपा लिया और निश्चल, निस्पंद और चुपचाप हो स्थिर हो गये। सियार समीप पहुँच कछुओं को चारों ओर से देखने लगे। उन्हें नखों से नोचने और दाँतों से काटने की चेष्टा की पर उनके शरीर को जरा भी क्षति नहीं पहुँचा सके। चमड़ी छेदन करने में असमर्थ रहे। सियारों ने एक चाल चली। वे एकांत में जा निश्चल, निस्पंद हो ताक लगाने लगे। एक कछुए ने सोचा—सियारों को गये बहुत देर हो गई। वे बहुत दूर चले गये होंगे। उसने चारों ओर नजर डाले बिना ही अपना एक पैर बाहर निकाल दिया। सियार यह देख कर तेजी से आ नखों से उसके पैर को विदीर्ण कर दाँतों से काट, माँस खा शोणित पिया। इसी तरह सियारों ने क्रमशः उसके अन्य पैर और अन्त में ग्रीवा को खा डाला। दूसरा कछुआ निस्पन्द पड़ा रहा। जब सियारों को गये बहुत देर हो गई तो उसने धीरे-धीरे अपनी ग्रीवा बाहर निकाली। सर्व दिशाओं का अच्छी तरह अवलोकन किया। सियारों को कहीं

१—स्त्री और पुरुष पृ० ४४-४६ से संक्षिप्त

२—स्त्री और पुरुष पृ० ३६-४०

न देख चारों पैर एक साथ बाहर निकाल अत्यन्त तेज गति से दौड़ता हुआ वह मयंगतीर द्रह के समीप पहुँच उसमें प्रविष्ट हो सम्बन्धियों के साथ मिल कर सुखी हुआ। इस कथा का उपनय यह है कि जो ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रखता, विषयार्थी और प्रमादी होता है, वह अगुप्तेन्द्रिय विषयी कछुए की तरह आत्मार्थ से पतित हो दुःखित होता है। जो मुमुक्षु गुप्तेन्द्रिय होता है तथा अप्रमादी कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है और विषयों को पास में नहीं फटकने देता, वह आत्मार्थ को साध कर सुखी होता है[1]।

इसकी तुलना गीता के निम्न श्लोक में है :

यदा संहरते चायं कर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २.५८

दूसरी कथा अश्व की है। हत्थिसीस नामक नगर में अनेक धनाढ्य वणिक रहते थे। एक बार वे सामुद्रिक यात्रा कर लौटे, तब उन्होंने वहाँ के राजा कनककेतु को बहुमूल्य भेंट उपहार में दी। राजा ने प्रसन्नता पूर्वक भेंट स्वीकार कर पूछा—"इस बार की यात्रा में तुम लोगों ने कौन सी आश्चर्य की वस्तु देखी, उसे मुझे बताओ। वणिकों ने कहा—कालिकद्वीप में हमलोगों ने अनेक रङ्ग-बिरंगे सुन्दर जाति के घोड़े देखे। हमारे शरीर की गंध पा वे घबरा उठे और दौड़ लगा अनेक योजन दूर ऐसे स्थान में चले गये जहाँ विस्तृत मैदान, प्रचुर तृण और पेट भर पीने को जल था। वहाँ वे निर्भय, उद्वेगरहित और सुखपूर्वक विचरने लगे। राजा ने अनेक भृत्य साथ में किये। घोड़ों को लुभाने की नानाविध सामग्रियाँ दीं। तथा वणिकों को वापिस जा घोड़े लाने की आज्ञा दी। कालिकद्वीप पहुँच उन्होंने जहाँ-जहाँ घोड़े बैठते, सोया करते, ठहरते या लेटा करते वहाँ-वहाँ सर्वत्र शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श में उत्कृष्ट भोग-सामग्रियों को धर दिया और निश्चल और निःशब्द हो छिप कर घोड़ों को पकड़ने का प्रयत्न करने लगे। घोड़े सदा की तरह वहाँ आये। इन अपूर्व भोग-सामग्रियों को देख कर भी कई घोड़े उनसे मोहित और आकृष्ट नहीं हुए। वे उद्विग्न, भयभीत हो, वहाँ से दूर दौड़ गये। जो मुग्ध हुए वे वहीं रह गए। वे वीणा आदि वाद्य यन्त्रों के मधुर शब्दों से मोहित हो सुन्दर, सुसज्जित, स्वादिष्ट और सुस्पर्शवाली वस्तुओं को भोगने में तल्लीन हो गये। इस तरह निशंक हो विचरने लगे। व्यापारियों ने उनके गले और पैरों में रस्सियाँ डाल उन्हें गाढ़ बन्धन में बांध लिया और वापिस आ राजा को अश्व सौंपे। राजा ने उन्हें अश्व-मर्दकों को सौंपा। अश्व-मर्दकों ने अनेक प्रयोग और उपायों से उन घोड़ों को सुशिक्षित किया। अब वे सवारी के काम में आने लगे।

इस कथा का उपनय है : जो ब्रह्मचारी शब्द (गीत-गान), रूप (स्त्री आदि के सौन्दर्य), रस (खट्टे-मीठे आदि पांच प्रकार के स्वाद—सरस आहार), गंध (सुगन्धित द्रव्य) और स्पर्श (शय्या, स्त्री आदि के सुकोमल स्पर्श) इन पाँच प्रकार के इन्द्रियों के विषय में राग नहीं करते, मूर्च्छित नहीं होते हैं, वे अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं। जन्म, मरण, जरा आदि व्याधियों से मुक्ति प्राप्त करते हैं। जो ब्रह्मचारी शब्द, रूपादि विषयों में राग, मूर्च्छा करते हैं, गृद्ध होते हैं और विषयों में स्वच्छंद विचरते हैं, वे भ्रष्ट हो पापों के शिकार होते हैं[2]।

महात्मा गांधी ने कहा है : "जो ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहते हैं वे विषय-भोग में दुःख ही दुःख है, इसे सदा स्मरण रखें[3]"।

उमास्वाति ने दो सूत्र दिए हैं। पहला सूत्र है : "हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम्[4]"—साधक को हिंसा, मृषा, अदत्त, अब्रह्म और परिग्रह में, इस लोक और परलोक में निरन्तर अपाय और अवद्य का दर्शन—चिन्तन करना चाहिए। अपाय का अर्थ है—अभ्युदय और निःश्रेयस की साधक क्रिया के विनाश का प्रयोग और अवद्य का अर्थ है गर्ह्य। साधक हमेशा यह भावना रखे कि अब्रह्म अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों अर्थों के विनाश का हेतु है और इसलिए गर्ह्य है। वह सोचे : "अब्रह्मचारी विभ्रम को प्राप्त हो उद्भ्रान्त-चित्त बन जाता है। उसकी इन्द्रियाँ बेलगाम होती हैं। वह मदांध हाथी की तरह निरङ्कुश हो जाता है। वह मोह से अभिभूत हो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भान भूल जाता है। ऐसा कोई बुरा काम नहीं, जो वह न कर बैठे। लम्पट को इस लोक में वैरानुबन्ध, वध आदि क्लेश प्राप्त होते हैं। परलोक में दुर्गति होती है[5]"।

१—ज्ञाताधर्मकथा अ० ४ देखिए; लेखक की 'दृष्टान्त और धर्मकथाएँ' नामक पुस्तक पृ० २६-२९

२—ज्ञाताधर्मकथा अ० १७ देखिए; लेखक की 'दृष्टान्त और धर्म कथाएँ' नामक पुस्तक पृ० ८७-९२

३—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ० ३३

४—तत्त्वार्थसूत्र ७.४

५—वही भाष्य

उनका दूसरा सूत्र है : "दुःखमेव वा[१]"—"हिंसा यावत् परिग्रह में दुःख ही है। साधक सोचे : स्पर्शन-इन्द्रिय जन्य सुखरूप मालूम होने पर भी वास्तव में मैथुन राग-द्वेष रूप होने से दुःखरूप ही है। अब्रह्म व्याधि का प्रतिकार मात्र है। जिस प्रकार कोई दाद या खाज का रोगी खुजाते समय सुख का अनुभव करता है परन्तु वह सुख नहीं सुखाभास है उसी तरह मैथुन की बात है[२]।"

उमास्वाति कहते हैं कि ऐसी भावनाएँ रखने से ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य में स्थैर्य को प्राप्त करता है—"इत्येवं भावयतो व्रतिनो व्रते स्थैर्यं भवति[३]"

महावीर कहते हैं—"काम शल्य रूप है, काम विषरूप है, काम-दृष्टि विष की तरह है। कामों की प्रार्थना करते-करते प्राणी उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गति को जाते हैं[४]।" "काम-भोग क्षण मात्र ऐन्द्रिय-सुख देनेवाले हैं और बहुकाल दुःख देनेवाले। उनमें सुख तो अणु मात्र है और दुःख का ठिकाना नहीं[५]।" "काम-भोग अनर्थ की खान हैं। देवताओं से लेकर सारे लोक को जो भी कायिक या मानसिक दुःख हैं, वे कामासक्ति से उत्पन्न हैं। काम-भोगों में वीतराग पुरुष सर्व दुःखों का अन्त करता है[६]।" "जिस तरह किम्पाक फल खाते समय रस और वर्ण में मनोरम होने पर भी पचने पर जीवन का अन्त करते हैं, उसी तरह से भोगने में मनोहर काम-भोग विपाक काल में—फल देने की अवस्था में अधोगति के कारण होते हैं[७]।" "काम-भोग संसार को बढ़ानेवाले हैं। गृद्ध पक्षी के दृष्टान्त को जान कर विवेकी पुरुष, गरुड़ के समीप सर्प की तरह काम-भोगों से सशंकित रहता हुआ डर-डर कर चले[८]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं :

"विकार उत्पन्न न हो और इन्द्रिय न चले, इसके लिए तात्कालिक उपाय मांगना यह वंध्यापुत्र के इच्छा करने के सदृश है। यह काम बहुत धीरज से होता है। एकान्त सेवन, सत-संग-शोधन, सत्कीर्तन, सत्‌वाचन, निरंतर शरीरमंथन, अल्पाहार, फलाहार, अल्प निद्रा, भोग-विलास-त्याग—इतना जो कर सकता है, उसे मनोराज्य हस्तामलक की तरह प्राप्त होता है। जब-जब मनोविकार हो तब-तब उपवासादिक व्रतों का पालन करना चाहिए[९]।"

महावीर कहते हैं—"ये काम-भोग सरलता से पिण्ड नहीं छोड़ते। अधीर पुरुषों से तो वे सुगमता से छोड़े ही नहीं जा सकते। सुव्रती साधु इन दुस्तर भोगों को उसी तरह पार कर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्र को[१०]।" "एकान्त शय्यासन के सेवी, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय पुरुष के चित्त को विषयरूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकता। औषध से जैसे व्याधि पराजित हो जाती है, वैसे ही इन नियमों के पालने से विषय रूपी शत्रु पराजित हो जाता है[११]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं : "ब्रह्मचारी को भोग-विलास के प्रसंग मात्र का त्याग कर देना चाहिए। उनकी ओर मन में अरुचि *उत्पन्न करनी चाहिए। इसलिए कि अरुचि या विराग के बिना त्याग केवल ऊपरी त्याग होगा और इस कारण टिक न सकेगा।* भोग-विलास किसे कहें, यह बताने की जरूरत नहीं। जिस-जिस चीज से विकार उत्पन्न हों, वे सभी त्याज्य हैं[१२]।"

महावीर ने कहा है : "ब्रह्मचारी दुर्जय काम-भोगों का सदा परित्याग करे तथा ब्रह्मचर्य के लिए जो शंका—विघ्न के स्थान हों, उन्हें एकाग्र मन से वर्जन करे—टाले[१३]।"

१—तत्त्वार्थसूत्र ७.५ भाष्य
२—वही
३—वही
४—उत्तराध्ययन ९.५३
५—उत्त० १४.१३
६—उत्त० ३२.१९
७—उत्त० ३२.२०
८—उत्त० १४.४७
९—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ० १०७
१०—उत्त० ८.६
११—उत्त० ३२.१२
१२—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० १३
१३—उत्त० १६.श्लो० १४

१९-बाड़ों के पीछे दृष्टि

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जो दस उपाय बतलाये गये हैं, उनके पीछे अनेक दृष्टियाँ हैं। उनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है :

(१) स्त्रियों के साथ एक घर में वास ; मनोहारी स्त्री-कथा ; स्त्री-संस्तव (स्त्री-संग और परिचय) ; स्त्रियों की इन्द्रियों पर दृष्टि ; स्त्रियों के कूजन, रुदन, हास्यादि के शब्दों का सुनना ; रसपूर्ण खान-पान ; अति आहार ; गात्र-विभूषा ; पूर्व क्रीड़ाओं का स्मरण और काम भोगों का सेवन—ये सब आत्मगवेषी ब्रह्मचारी के लिए तालपुट विष की तरह हैं[१]। ब्रह्मचर्य की इन अगुप्तियों से शान्ति का भेद, शान्ति का भङ्ग होता है[२]।

(२) जो स्त्री-संसक्त मकान में वास न करना आदि उपर्युक्त समाधि-स्थानों के प्रति असावधान रहता है, उसे धीरे-धीरे अपने व्रत में शंका होनी उत्पन्न होती है, फिर विषय-भोगों की आकांक्षा—कामना उत्पन्न होती है और फिर ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है या नहीं ऐसी विचिकित्सा—विकल्प उत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है, उसके उन्माद और दूसरे बड़े रोग हो जाते हैं और अन्त में चित्त की समाधि भङ्ग होने से वह केवली-भाषित धर्म से भ्रष्ट—पतित हो जाता है[३]।

(३) स्त्री-संसक्त मकान में वास न करना आदि उपर्युक्त दसविध उपायों के पालन करने से संयम और संवर में दृढ़ता होती है। चित्त की चंचलता दूर होकर उसमें स्थिरता आती है। मन, वचन, काय तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होकर अप्रमत्त भाव से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है[४]।

(४) स्त्रियों के साथ वास न करना ; उनकी संगति, स्पर्श, सह-आसनादि न करना आदि सभी नियम ब्रह्मचारी के उत्तम शिष्टाचार हैं। ये नियम उसकी शोभा को बढ़ाते हैं। इन नियमों का अभाव शिष्ट-व्यवहार की कमी का सूचक है।

(५) ये नियम ब्रह्मचारी के प्रति किसी प्रकार की शङ्का अथवा लोक-निन्दा को उत्पन्न नहीं होने देते। उसके विश्वास को नहीं उठने देते।

(६) ब्रह्मचारी के पास आनेवाली स्त्रियों के प्रति शङ्का उत्पन्न नहीं होने देते। उनकी आबरू की रक्षा करते हैं। इस तरह वातावरण स्वच्छ एवं शुद्ध रहता है।

(७) ये भ्रष्टाचार को सहज ही पनपने नहीं देते। और न अशुद्ध लोक-व्यवहार का आदर्श उपस्थित होने देते हैं।

महात्मा गांधी ने अपने जीवन की एक घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—"मैं सावधान अधिक था। पूजनीया माताजी की दिलाई हुई प्रतिज्ञा रूपी ढाल मेरे पास थी। विलायत की बात है। मैं जवान था। दो मित्र एक घर में रहते थे। थोड़े ही दिन के लिए वे एक गांव में गये। मकान मालकिन आधी वेश्या थी। उसके साथ हम दोनों ताश खेलने लगे। विलायत में माँ बेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं, खेलते ही हैं।.........मुझे तो पता भी नहीं था कि मकान मालकिन अपना शरीर बेचकर अपनी जीविका चलाती है। ज्यों-ज्यों खेल जमने लगा त्यों-त्यों रंग भी बदलने लगा। उस बाई ने विषय-चेष्टा आरंभ कर दी।......मित्र मर्यादा छोड़ चुके थे। मैं ललचाया। मेरा चेहरा तमतमा गया। उसमें व्यभिचार का भाव भर गया। मैं अधीर हो गया। मेरे मित्र ने मेरा रंग-ढंग देखा।...मित्र ने देखा कि...मेरी बुद्धि बिगड़ गई है। उन्होंने देखा कि यदि इस रंगत में रात अधिक जायगी तो मैं भी उनकी तरह पतित हुये बिना न रहूँगा......राम ने उनके द्वारा मेरी सहायता की। उन्होंने प्रेम-बाण छोड़ते हुए कहा—"मौनिया ! मौनिया ! होशियार रहना !......अपनी माँ के सामने की हुई प्रतिज्ञा याद करो।"......मैं उठ खड़ा हुआ। अपना बिस्तरा सँभाला। सवेरे में जगा। राम-नाम का आरम्भ हुआ। मन में कहने लगा, कौन बचा, किसने बचाया, धन्य प्रतिज्ञा, धन्य माता, धन्य मित्र। धन्य राम ! मेरे लिए तो यह चमत्कार ही था।......अपने जीवन का सब से भयङ्कर समय में इस प्रसंग को मानता हूँ। स्वच्छन्दता का प्रयोग करते हुए मैंने संयम सीखा। राम को भूलाते हुए मुझे राम के दर्शन हुए[५]।"

महात्मा गांधी टहलते समय बहिनों के कंधे का सहारा लेते। आलोचना हुई—"लोक-स्वीकृत सभ्यता के विचार को चोट पहुँचती है।"

१—उत्तराध्ययन १६.११-१३
२—आचाराङ्ग २.१५ चौथे महाव्रत की भावना
३—उत्तराध्ययन : १६.१-१०
४—वही १६.१
५—संयम-शिक्षा पृ० २२-२५

"यह आदत दूसरों के लिए उदाहरण बन गयी तो[१] ।" महात्मा गांधी ने लोक-संग्रह की दृष्टि से उसका तात्कालिक त्याग किया[२] ।

महात्मा गांधी ने नोआखाली के यज्ञ के समय एक प्रयोग आरंभ किया । वे रिस्ते में अपनी पौत्री और धर्मपुत्री मनु बहन को शुद्ध भाव से अपनी शय्या में सुलाते ।

इससे बड़ी हलचल मची । उनके दो साथियों ने, जिन्होने उनकी अनुपस्थिति में हरिजन के सम्पादन-कार्य का जिम्मा अपने पर लिया था, इसके प्रतिवाद और असहयोग के रूप में इस्तिफा दे दिया[३] । महात्माजी ने आ० कृपलानी को लिखा—"इस बात के लिए मुझे अपने प्रिय साथियों का मूल्य चुकाना पड़ा है[४] ।"

आचार्य कृपलानी ने महात्मा गांधी के प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करते हुए उत्तर में दो मुद्दे रखे—कभी मैं सोचता हूँ—कहीं आप मनुष्यों का उपयोग साध्य के बतौर न कर साधन के बतौर तो नही करते ।······मुझे आश्चर्य हुआ—कहीं आप गीता के लोक-संग्रह के सिद्धान्त को तो भङ्ग नही कर रहे हैं[५]······?"

मित्रो ने तर्क किया—"आप महात्मा हैं, पर दूसरे पक्ष के बारे में क्या कहा जाय[६] ।"

महात्मा गान्धी ने एक दिन के प्रवचन में कहा—"मैं जानता हूं कि मुझको लेकर कानाफूसी और गुपचुप चल रही है । मै इतने सन्देह और अविश्वास के बीच में हू कि अपने अत्यन्त निर्दोष कार्यों के बारे में कोई ग़लतफ़हमी और उल्टा प्रचार होने देना नही चाहता[७] ।"

दूसरे दिन के भाषण में उन्होंने चेतावनी दी—"मैंने अपने अंतरङ्ग जीवन के बारे में कहा है वह अन्धानुकरण के लिए नही है । मैं जो चाहता हू वह सब कर सकते हैं, बशर्ते वे उन शर्तों को पालें जिनका मैं पालन करता हूं । अगर ऐसा नही करते हुए मेरी बात का अनुसरण करने का बहाना करेंगे तो वे ठोकर खाये बिना नही रहेंगे[८] ।"

ठक्कर बप्पा का भी प्रश्न रहा—"यदि आपके उदाहरण का अनुसरण किया गया तो[९] ?"

यह बात अनेको के अन्त तक गले नहीं उतरी ।

इन थोड़ी-सी घटनाओं से प्रकट हो जाता है कि समाधि-स्थानों की उपेक्षा से कैसे धर्म-संकट उपस्थित हो जाते हैं । बाहर में कैसा शंका-शील वातावरण बन जाता है । और किस तरह की बुरी धारणायें महात्मा ही नहीं पर महासती के विषय में भी प्रचारित हो जाती हैं ।

इस तरह ब्रह्मचर्य के समाधि स्थान अथवा बाड़ों की नीव कमजोर नहीं है । उनका आधार गहरा अनुभव और मानव-स्वभाव का गंभीर विश्लेषण है । यह सत्य है कि ब्रह्मचारी वह है जो किसी भी परिस्थिति में भी विचलित न हो । पर यह भी सत्य है कि बाड़ों की अपेक्षा करने से जो स्थिति बनती है उसका भी निवारण नहीं हो सकता । कदाश परिणाम अडिग न रहने पायें तो 'हुवे वरत पिण फोक' । यदि यह न भी हो तो भी 'शंका पामें लोक', 'आवें अछतो आल सिर', को कौन रोक सकता है ? यह भी निश्चित है कि जो बाड़ों को नहीं लोपता उसका व्रत अभङ्ग रहता है क्योंकि बाड़ें केवल शारीरिक ही नहीं मानसिक शुद्धता पर भी जोर देती हैं । इसीलिए स्वामीजी ने कहा है—

"बाड न लोपें तेहनें रहे वरत अभंग ।
ते वेरागी विरकत थका, ने दिन दिन चढते रग ॥"

इस तरह यह स्पष्ट है कि बाड़ों के पालन से ससर्ग और संस्पर्श के अवसर ही नहीं आ पाते । मन विकार-ग्रस्त होने से बच जाता है । अपनी सुरक्षा होती है । अपने द्वारा दूसरे का पतन नहीं हो पाता । अपने कारण किसी के प्रति शङ्का का वातावरण नही बनता । लोक-व्यवहार अथवा सभ्यता को धक्का नही पहुँचता । दूसरों का अन्धानुकरण करने का बल नहीं मिलता । ब्रह्मचर्य का सुगमतापूर्वक पालन होता है ।

१—ब्रह्मचर्य (प. भा.) पृ० ६७
२—बापू की छाया में पृ० २०२
३—Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 598
४—वही पृ० ५८१
५—वही पृ० ५८२
६—वही पृ० ५८३
७—वही पृ० ५८०
८—वही पृ० ५८१
९—वही पृ० ५८६

२०-पूर्ण ब्रह्मचारी की कसौटी

बीसवीं सदी में अहिंसा और ब्रह्मचर्य के विषय में गंभीर और विशद विचार करनेवाले चिंतकों में संत टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी—इन दो के ही नाम सर्वोपरि रखे जा सकते हैं। इन विषयों में इन महापुरुषों ने महान् वैचारिक क्रांति उत्पन्न की और मानव को दिव्य दृष्टि प्रदान की।

महात्मा गांधी और संत टॉल्स्टॉय के चिन्तन में न केवल वैचारिक एकता ही है, पर आश्चर्यकारी शाब्दिक साम्य भी देखा जाता है। यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है, इसलिए हम उसमें नहीं जायेंगे। यहाँ इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि महात्मा गांधी के विचारों को संत टॉल्स्टॉय के विचारों से प्रचुर खाद्य प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि संत टॉल्स्टॉय के विचार महात्मा गांधी की चिन्तनधारा की भव्य नींव है।

महात्मा गांधी और संत टॉल्स्टॉय—दोनों का ही आग्रह सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य के लिए रहा। दोनों ही इन्हें जीवन के शाश्वत अंग मानते रहे।

महात्मा गांधी ने एकबार कहा था : "''''''महात्मापन कौड़ी काम का नहीं। यह तो मेरी बाह्य प्रवृत्तियों, मेरे राजनीतिक कार्मों का प्रसाद है, जो मेरे जीवन का सब से छोटा अंग है, फलतः चंदरोजा चीज है। जो वस्तु स्थायी मूल्यवाली है वह है मेरा सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य का आग्रह। यही मेरे जीवन का सच्चा अंग है।''''''वही मेरा सर्वस्व है[१]।" दूसरी बार उन्होंने कहा : "''''जीवन के शाश्वत भागों में''''''एक ब्रह्मचर्य है। दुनिया मामूली चीजों की तरफ दौड़ती है। शाश्वत चीजों के लिए उसके पास समय ही नहीं रहता। तो भी हम विचार करें तो देखेंगे कि दुनिया शाश्वत चीजों पर ही निभती है[२]।"

महात्मा गान्धी ने ब्रह्मचर्य के विषय को लेकर अनेक प्रयोग किये थे, जिनका जिक्र कुछ बाद में ही किया जानेवाला है। इन प्रयोगों की भीत्ति को सरलता से समझा जा सके, इसलिए महात्मा गान्धी ने ब्रह्मचर्य की क्या परिभाषा दी और वे उसके कितने नजदीक पहुँच सके, यह जान लेना आवश्यक है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि जैन दृष्टि से वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के कितने नजदीक अथवा दूर कहे जा सकते हैं।

सन् १९२० में ब्रह्मचर्य का अर्थ बतलाते हुए महात्मा गान्धी ने लिखा : "ब्रह्मचर्य का अर्थ उसके अंग्रेजी पर्याय 'सेलिबेसी' (अविवाह-व्रत) से अधिक व्यापक है। ब्रह्मचर्य के मानी है सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार।''''''आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए मन, वाणी और कर्म सब में पूर्ण संयम का पालन आवश्यक है[३]।"

पाँच वर्ष बाद (सन् १९२४,२५ में) ब्रह्मचर्य के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा : "ब्रह्मचर्य का लौकिक अथवा प्रचलित अर्थ तो मन, वचन और काय से विषयेन्द्रिय का संयम माना जाता है[४]। उसकी विस्तृत व्याख्या सब इन्द्रियों का संयम है[५]।"

इसके ग्यारह वर्ष बाद (सन् १९३६ में) उन्होंने लिखा : "ब्रह्मचर्य का मूलार्थ इस प्रकार बताया जा सकता है—वह आचरण जिससे कोई व्यक्ति ब्रह्म या परमात्मा के सम्पर्क में आता है। इस आचरण में सब इन्द्रियों का संपूर्ण संयम शामिल है। इस शब्द का यही सच्चा और सुसंगत अर्थ है।

"वैसे आमतौर पर इसका अर्थ सिर्फ जननेन्द्रिय या शारीरिक संयम ही लगाया जाने लगा है। इस संकीर्ण अर्थ ने ब्रह्मचर्य को हल्का करके उसके आचरण को प्रायः बिल्कुल असंभव कर दिया है। जननेन्द्रिय पर तब तक संयम नहीं हो सकता जबतक कि सभी इन्द्रियों का उपयुक्त संयम न हो, क्योंकि वे सब अन्योन्याश्रित हैं। मन भी इन्द्रियों में ही शामिल है। जब तक मन पर संयम न हो, खाली शारीरिक संयम चाहे कुछ समय के लिए प्राप्त भी हो जाय, पर उससे कुछ हो नहीं सकता[६]।"

१—अनीति की राह पर पृ० ६६

२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५३

३—अनीति की राह पर पृ० ५०

४—वही पृ० ५८

५—वही पृ० ६१

६—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ११

"यह आदत दूसरों के लिए उदाहरण बन गयी तो[१] ।" महात्मा गांधी ने लोक-संग्रह की दृष्टि से उसका तात्कालिक त्याग किया[२] ।

महात्मा गांधी ने नोआखाली के यज्ञ के समय एक प्रयोग आरम्भ किया । वे रिश्ते में अपनी पौत्री और धर्मपुत्री मनु बहन को शुद्ध भाव से अपनी शय्या में सुलाते ।

इससे बड़ी हलचल मची । उनके दो साथियों ने, जिन्होंने उनकी अनुपस्थिति में हरिजन के सम्पादन-कार्य का जिम्मा अपने पर लिया था, इसके प्रतिवाद और असहयोग के रूप में इस्तिफा दे दिया[३] । महात्माजी ने आ० कृपलानी को लिखा—"इस बात के लिए मुझे अपने प्रिय साथियों का मूल्य चुकाना पड़ा है[४] ।"

आचार्य कृपलानी ने महात्मा गांधी के प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करते हुए उत्तर में दो मुद्दे रखे—कभी मैं सोचता हूँ—कहीं आप मनुष्यों का उपयोग साध्य के बतौर न कर साधन के बतौर तो नहीं करते ।......मुझे आश्चर्य हुआ—कहीं आप गीता के लोक-संग्रह के सिद्धान्त को तो भङ्ग नहीं कर रहे हैं[५]......?"

मित्रों ने तर्क किया—"आप महात्मा हैं, पर दूसरे पक्ष के बारे में क्या कहा जाय[६] ।"

महात्मा गान्धी ने एक दिन के प्रवचन में कहा—"मैं जानता हूं कि मुझको लेकर कानाफूसी और गुपचुप चल रही है । मैं इतने सन्देह और अविश्वास के बीच में हू कि अपने अत्यन्त निर्दोष कार्यों के बारे में कोई ग़लतफहमी और उल्टा प्रचार होने देना नहीं चाहता[७] ।"

दूसरे दिन के भाषण में उन्होंने चेतावनी दी—"मैंने अपने अंतरङ्ग जीवन के बारे में कहा है वह अन्धानुकरण के लिए नहीं है । मैं जो चाहता हूं वह सब कर सकते हैं, बशर्ते वे उन शर्तों को पालें जिनका मैं पालन करता हूं । अगर ऐसा नहीं करते हुए मेरी बात का अनुसरण करने का बहाना करेंगे तो वे ठोकर खाये बिना नहीं रहेंगे[८] ।"

ठक्कर बप्पा का भी प्रश्न रहा—"यदि आपके उदाहरण का अनुसरण किया गया तो[९] ?"

यह बात अनेकों के अन्त तक गले नहीं उतरी ।

इन थोड़ी-सी घटनाओं से प्रकट हो जाता है कि समाधि-स्थानों की उपेक्षा से कैसे धर्म-संकट उपस्थित हो जाते हैं । बाहर में कैसा शंका-शील वातावरण बन जाता है । और किस तरह की बुरी धारणायें महात्मा ही नहीं पर महासती के विषय में भी प्रचारित हो जाती हैं ।

इस तरह ब्रह्मचर्य के समाधि स्थान अथवा बाड़ों की नींव कमजोर नहीं है । उनका आधार गहरा अनुभव और मानव-स्वभाव का गंभीर विश्लेषण है । यह सत्य है कि ब्रह्मचारी वह है जो किसी भी परिस्थिति में भी विचलित न हो । पर यह भी सत्य है कि बाड़ों की अपेक्षा करने से जो स्थिति बनती है उसका भी निवारण नहीं हो सकता । कदाश परिणाम अडिग न रहने पायें तो 'डुबें वरत विण फोक' । यदि यह न भी हो तो भी 'शंका पामें लोक', 'आवें अछतो आल सिर', को कौन रोक सकता है ? यह भी निश्चित है कि जो बाड़ों को नहीं लोपता उसका व्रत अभङ्ग रहता है क्योंकि बाड़ें केवल शारीरिक ही नहीं मानसिक शुद्धता पर भी जोर देती हैं । इसीलिए स्वामीजी ने कहा है—

"बाड़ न लोपें तेहनें रहें वरत अभंग ।
ते वेरागी विरकत थका, ते दिन दिन चढते रंग ॥"

इस तरह यह स्पष्ट है कि बाड़ों के पालन से संसर्ग और संस्पर्श के अवसर ही नहीं आ पाते । मन विकार-ग्रस्त होने से बच जाता है । अपनी सुरक्षा होती है । अपने द्वारा दूसरे का पतन नहीं हो पाता । अपने कारण किसी के प्रति शङ्का का वातावरण नहीं बनता । लोक-व्यवहार अथवा सभ्यता को धक्का नहीं पहुँचता । दूसरों को अन्धानुकरण करने का बल नहीं मिलता । ब्रह्मचर्य का सुगमतापूर्वक पालन होता है ।

१—ब्रह्मचर्य (प. भा.) पृ० ६७
२—बापू की छाया में पृ० २०२
३—Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 598
४—वही पृ० ५८१
५—वही पृ० ५८२
६—वही पृ० ५८३
७—वही पृ० ५८०
८—वही पृ० ५८१
९—वही पृ० ५८६

२०-पूर्ण ब्रह्मचारी की कसौटी

बीसवीं सदी में अहिंसा और ब्रह्मचर्य के विषय में गंभीर और विशद विचार करनेवाले चिंतकों में संत टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी—इन दो के ही नाम सर्वोपरि रखे जा सकते हैं। इन विषयों मे इन महापुरुषों ने महान् वैचारिक क्रांति उत्पन्न की और मानव को दिव्य दृष्टि प्रदान की।

महात्मा गांधी और संत टॉल्स्टॉय के चिन्तन में न केवल वैचारिक एकता ही है, पर आश्चर्यकारी शाब्दिक साम्य भी देखा जाता है। यह एक स्वतंत्र लेख का विषय है, इसलिए हम उसमें नहीं जायेंगे। यहाँ इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि महात्मा गांधी के विचारों को संत टॉल्स्टॉय के विचारों से प्रचुर साथ प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि संत टॉल्स्टॉय के विचार महात्मा गांधी की चिन्तनधारा की भव्य नींव है।

महात्मा गांधी और संत टॉल्स्टॉय—दोनों का ही आग्रह सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य के लिए रहा। दोनों ही इन्हें जीवन के शाश्वत अंग मानते रहे।

महात्मा गांधी ने एकबार कहा था : "......महात्मापन कौड़ी काम का नहीं। यह तो मेरी बाह्य प्रवृत्तियों, मेरे राजनीतिक कामों का प्रसाद है, जो मेरे जीवन का सब से छोटा अंग है, फलतः चंदरोजा चीज है। जो वस्तु स्थायी मूल्यवाली है वह है मेरा सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य का आग्रह। यही मेरे जीवन का सच्चा अंग है।......वही मेरा सर्वस्व है[1]।" दूसरी बार उन्होंने कहा : "...जीवन के शाश्वत भागों मे......एक ब्रह्मचर्य है। दुनिया मामूली चीजों की तरफ दौड़ती है। शाश्वत चीजों के लिए उसके पास समय ही नहीं रहता। तो भी हम विचार करे तो देखेंगे कि दुनिया शाश्वत चीजों पर ही निभती है[2]।"

महात्मा गान्धी ने ब्रह्मचर्य के विषय को लेकर अनेक प्रयोग किये थे, जिनका जिक्र कुछ बाद में ही किया जानेवाला है। इन प्रयोगों की भीत्ति को सरलता से समझा जा सके, इसलिए महात्मा गान्धी ने ब्रह्मचर्य की क्या परिभाषा दी और वे उसके कितने नजदीक पहुँच सके, यह जान लेना आवश्यक है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि जैन दृष्टि से वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के कितने नजदीक अथवा दूर कहे जा सकते हैं।

सन् १९२० में ब्रह्मचर्य का अर्थ बतलाते हुए महात्मा गान्धी ने लिखा : "ब्रह्मचर्य का अर्थ उसके अंग्रेजी पर्याय 'सेलिबेसी' (अविवाह-व्रत) से अधिक व्यापक है। ब्रह्मचर्य के मानी है सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार।......आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए मन, वाणी और कर्म सब में पूर्ण संयम का पालन आवश्यक है[3]।"

पाँच वर्ष बाद (सन् १९२४,२५ में) ब्रह्मचर्य के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा : "ब्रह्मचर्य का लौकिक अथवा प्रचलित अर्थ तो मन, वचन और काय से विषयेन्द्रिय का संयम माना जाता है[4]। उसकी विस्तृत व्याख्या सब इन्द्रियों का संयम है[5]।"

इसके ग्यारह वर्ष बाद (सन् १९३६ में) उन्होंने लिखा : "ब्रह्मचर्य का मूलार्थ इस प्रकार बताया जा सकता है—वह आचरण जिससे कोई व्यक्ति ब्रह्म या परमात्मा के सम्पर्क में आता है। इस आचरण में सब इन्द्रियों का संपूर्ण संयम शामिल है। इस शब्द का यही सच्चा और सुसंगत अर्थ है।

"वैसे आमतौर पर इसका अर्थ सिर्फ जननेन्द्रिय या शारीरिक संयम ही लगाया जाने लगा है। इस संकीर्ण अर्थ ने ब्रह्मचर्य को हल्का करके उसके आचरण को प्रायः बिल्कुल असंभव कर दिया है। जननेन्द्रिय पर तब तक संयम नहीं हो सकता जबतक कि सभी इन्द्रियों का उपयुक्त संयम न हो, क्योंकि वे सब अन्योन्याश्रित हैं। मन भी इन्द्रियों में ही शामिल है। जब तक मन पर संयम न हो, खाली शारीरिक संयम चाहे कुछ समय के लिए प्राप्त भी हो जाय, पर उससे कुछ हो नहीं सकता[6]।"

१—अनीति की राह पर पृ० ६६
२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५३
३—अनीति की राह पर पृ० ५०
४—वही पृ० ५८
५—वही पृ० ६१
६—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ११

सन् १६३६ के उपर्युक्त विश्लेषण में उन्होंने वही बात कही है जो १६२६ में चुम्बकल्प में इस प्रकार कही थी : 'ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक संयम-मात्र नहीं है, बल्कि उसका अर्थ है—सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार और मन-वचन-कर्म से काम-वासना का त्याग[१] ।'

अंत में (सन् १६४७) में भी उन्होंने ब्रह्मचर्य की यही परिभाषा दी : "जो हमें ब्रह्म की तरफ ले जाय, वह ब्रह्मचर्य है। इसमें जननेंद्रिय का संयम आ जाता है। वह संयम मन, वाणी और कर्म से होना चाहिए[२] ।"

इस तरह महात्मा गांधी का आदि, मध्य और अन्तिम चिन्तन एक ही रूप में बहता रहा। उन्होंने आजीवन ऐसे ब्रह्मचर्य को ही आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति का सीधा और सच्चा रास्ता माना[३] ।

ब्रह्मचर्य की इस परिभाषा की कसौटी पर ही वे कहते रहे :

(१) पुरुष स्त्री का, स्त्री पुरुष का भोग न करे, यही ब्रह्मचर्य है। भोग न करने का अर्थ इतना ही नहीं कि एक दूसरे को भोग की इच्छा से स्पर्श न करे, बल्कि मन से इसका विचार भी न करे। इसका सपना भी न होना चाहिए[४] ।

(२) ब्रह्मचर्य का अर्थ खाली दैहिक आत्म-संयम ही नहीं है।......इसका मतलब है सभी इन्द्रियों पर पूर्ण नियमन। इस प्रकार अशुद्ध विचार भी ब्रह्मचर्य का भंग है और यही हाल क्रोध का है[५] ।

(३) जो मनुष्य मनसे भी विकारी होता है, समझना चाहिए कि उसका ब्रह्मचर्य स्खलित हो गया। जो विचार में निर्विकार नहीं, वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं माना जा सकता[६] ।

(४) अगर कोई मन से भोग करे और वाणी व स्थूल कर्म पर काबू रखे तो यह ब्रह्मचर्य में नहीं चलेगा। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। मन पर काबू हो जाय, तो वाणी और कर्म का संयम बहुत आसान होता है[७] ।

सच्चा पूर्ण ब्रह्मचारी कैसा होता है, इसपर भी उन्होंने कई बार लिखा। एक बार उन्होंने कहा—

"बुढ़ापे में बुद्धि मन्द होने के बदले और तीक्ष्ण होनी चाहिए। हमारी स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि इस देह में मिले हुए अनुभव हमारे और दूसरे के लिए लाभदायक हो सकें और जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसकी ऐसी स्थिति रहती भी है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता और मरते समय भी वह भगवान को नहीं भूलता और न बेकार ही हाय-हाय करता है। मरण-काल में उपद्रव भी उसे नहीं सताते और वह हंसते-हंसते यह देह छोड़कर मालिक को अपना हिसाब देने जाता है। जो इस तरह मरे, वही पुरुष और वही स्त्री है।[८] "

बाद में लिखा :

"अल्पाहारी होते हुए भी ऐसा ब्रह्मचारी शारीरिक श्रम में किसी से कम नहीं रहेगा। मानसिक श्रम में उसे कम-से-कम थकान लगेगी। बुढ़ापे के सामान्य चिह्न ऐसे ब्रह्मचारी में देखने को नहीं मिलेंगे। जैसे पका हुआ पत्ता या फल वृक्ष की टहनी पर से सहज ही गिर पड़ता है वैसे ही समय आने पर मनुष्य का शरीर सारी शक्तियां रखते हुए भी गिर जायेगा। ऐसे मनुष्य का शरीर समय बीतने पर देखने में भले ही क्षीण लगे, मगर उसकी बुद्धि का तो क्षय होने के बदले नित्य विकास ही होना चाहिए और उसका तेज भी बढ़ना चाहिए। ये चिह्न जिसमें देखने में नहीं आते, उसके ब्रह्मचर्य में उतनी कमी समझनी चाहिए[९] ।"

१—अनीति की राह पर पृ० ७२
२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५२
३—अनीति की राह पर पृ० ७०
४—आरोग्य साधन पृ० ४६-४७
५—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२
६—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७
७—वही पृ० ५२
८—अनीति की राह पर पृ० ६१
९—आरोग्य की कुंजी पृ० ३५

सन् १९४७ में उन्होंने लिखा :

"मेरी कल्पना का ब्रह्मचारी स्वाभाविक रूप से स्वस्थ होगा, उसका सिर तक नहीं दुखेगा, वह स्वभावतः दीर्घजीवी होगा, उसकी बुद्धि तेज होगी, वह आलसी नहीं होगा, शारीरिक या बौद्धिक काम करने में थकेगा नहीं और उसकी बाहरी सुघड़ता सिर्फ दिखावा न होकर भीतर का प्रतिबिंब होगी। ऐसे ब्रह्मचारी में स्थितप्रज्ञ के सब लक्षण देखने में आवेंगे। ऐसा ब्रह्मचारी हमें कहीं दिखाई न पड़े तो उसमें घबराने की कोई बात नहीं।

"जो स्थिरवीर्य हैं, जो ऊर्ध्वरेता हैं, उनमें ऊपर के लक्षण देखने में आवें तो कौन बड़ी बात है? मनुष्य के इस वीर्य में अपने-जैसा जीव पैदा करने की ताकत है, उस वीर्य को ऊँचे ले जाना ऐसी-वैसी बात नहीं हो सकती। जिस वीर्य की एक बूंद में इतनी ताकत है, उसके हजारों बूंदों की ताकत का माप कौन लगा सकता है[1]।"

महात्मा गांधी के सामने प्रश्न आते ही रहते—'क्या आप ब्रह्मचर्य का पूरा पालन करते हैं?' 'क्या आप ब्रह्मचारी हैं?' महात्मा गांधी ने ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपनी स्थिति पर कई बार प्रकाश डाला।

सन् १९२४ में एक बार उन्होंने कहा : "मन, वाणी और काय से सम्पूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है।··· इस सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की स्थिति को मैं अभी नहीं पहुंच सका हूं। पहुंचने का प्रयत्न सदा चल रहा है।······काया पर मैंने काबू पा लिया है। जाग्रत अवस्था में मैं सावधान रह सकता हूं। वाणी के संयम का यथायोग्य पालन करना भी सीख लिया है। पर विचारों पर अभी बहुत काबू पाना बाकी है। जिस समय जो बात सोचनी हो, उस क्षण वही बात मन में रहनी चाहिए। पर ऐसा न होकर और बातें भी मन में आ जाती हैं और विचारों का द्वन्द्व मचा ही रहता है।

"फिर भी जाग्रत अवस्था में मैं विचारों का एक-दूसरे से टकराना रोक सकता हूं। मैं उस स्थिति को पहुँचा हुआ माना जा सकता हूं जब गन्दे विचार मन में आ ही नहीं सकें। पर निद्रावस्था में विचार के ऊपर मेरा काबू कम रहता है। नींद में अनेक प्रकार के विचार मन में आते हैं, अनसोचे सपने भी दिखाई देते हैं। कभी-कभी इसी देह में की हुई बातों की वासना जग उठती है। ये विचार गन्दे हों तो स्वप्न-दोष होता है। यह स्थिति, विकारयुक्त जीवन की ही हो सकती है।

"मेरे विचारों के विकार क्षीण होते जा रहे हैं। पर अभी उनका नाश नहीं हो पाया है। अपने विचारों पर मैं पूरा काबू पा सका होता तो पिछले दस बरस के बीच जो तीन कठिन बीमारियां मुझे हुईं······वे न हुईं होती।

"यह अद्भुत दशा तो दुर्लभ ही है। नहीं तो मैं अब तक उसको पहुंच चुका होता, क्योंकि मेरी आत्मा गवाही देती है कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो उपाय करने चाहिए, उनके करने में मैं पीछे रहनेवाला नहीं हूँ।···पर पिछले संस्कारों को धो डालना सब के लिए सहज नहीं होता। इस तरह लक्ष्य तक पहुँचने में देर लग रही है, पर इससे मैंने तनिक भी हिम्मत नहीं हारी है। कारण यह है कि निर्विकार दशा की कल्पना मैं कर सकता हूं। उसकी धुंधली झलक भी जब-तब पा जाता हूं और इस रास्ते में मैं अब तक जितना आगे बढ़ सका हूं, वह मुझे निराश करने के बदले आशावान ही बनाता है[2]।"

महात्मा गान्धी को एक अभिनन्दन पत्र में नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया था। उत्तर में बोलते हुए सन् १९२५ में उन्होंने कहा : "जब मुझे कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहता है तब मुझे अपने-पर दया आती है।···जिसके बाल-बच्चे हुए हैं, उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी बुखार आता है, न कभी सिर दर्द करता है, न कभी खांसी होती है और न कभी अपेंडिसाइटिस होता है।······मुझ पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोपण कर के कोई मिथ्याचारी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का तेज तो मुझ से अनेक गुना अधिक होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं। हां, यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हूं[3]।"

जब महात्मा गांधी ने स्वप्न-स्खलन की बात स्वीकार की तब एक सज्जन ने लिखा कि ऐसे स्वीकार का प्रभाव अच्छा नहीं हो सकता।

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ४२

२—अनीति की राह पर पृ० ५६-५८

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १२२-३

महात्मा गांधी ने उत्तर दिया : "जो आदमी जैसा है उसे वैसा जानने मे सदा सब का हित है। इससे कभी कोई हानि नहीं होती। मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे झट अपनी भूलें स्वीकार कर लेने से लोगों का हर तरह हित ही हुआ है। कम-से-कम मेरा तो इससे उपकार ही हुआ है।

"यही बात मैं बुरे सपनों का होना स्वीकार करने के बारे में भी कह सकता हूं। पूर्ण ब्रह्मचारी न होते हुए भी मैं होने का दावा करूँ तो इससे दुनिया की बड़ी हानि होगी। यह ब्रह्मचर्य की उज्ज्वलता को मलिन और सत्य के तेज को धूमिल कर देगा। झूठे दावे करके ब्रह्मचर्य का मूल्य घटाने का साहस मैं कैसे कर सकता हू? आज मैं यह देख सकता हूं कि ब्रह्मचर्य-पालन के लिए जो उपाय मैं बताता हूं, वे काफी नहीं साबित होते, वे हर जगह कारगर नहीं होते, और केवल इसलिए कि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हूं। मैं दुनिया को ब्रह्मचर्य का सीधा रास्ता न दिखा सकूं और मुझे पूर्ण ब्रह्मचारी माने, यह बात उनके लिए बड़ी भयानक होगी।

"मैं सच्चा खोजी हूं, मैं पूर्ण जाग्रत हूं, मेरा प्रयत्न अथक और अजित है—इतना ही जान लेना दुनिया के लिए काफी न हो?

"सत्य, ब्रह्मचर्य और दूसरे सनातन नियम मुझ-जैसे अधकचरे जनो की साधना पर आश्रित नहीं होते। वे तो उन बहुसंख्यक जनों की तपश्चर्या के अटल आधार पर खड़े होते हैं जिन्होने उनकी साधना का यत्न किया और उनका पूर्ण पालन कर रहे हैं[१]।"

सन् १६३६ में गांधीजी बीमार हुए। एक दिन की अपनी स्थिति का वर्णन उन्होने निम्न रूप मे किया :

"१८६६ से मैं जानबूझ कर और निश्चय के साथ बराबर ब्रह्मचर्य का पालन करने की कोशिश कर रहा हूं। मेरी व्याख्या के अनुसार, इसमें न केवल शरीर की, बल्कि मन और वचन की शुद्धता भी शामिल है। और सिवा उस अपवाद के जिसे मानसिक स्खलन कहना चाहिए, अपने ३६ वर्ष से अधिक समय के सतत एवं जागरूक प्रयत्न के बीच मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी भी मेरे मन में इस सम्बन्ध में ऐसी बेचैनी[२] पैदा हुई हो, जैसी कि इस बीमारी के समय मुझे महसूस हुई। यहां तक की मुझे अपने से निराशा होने लगी; लेकिन जैसे ही मेरे मन में ऐसी भावना उठी, मैंने अपने परिचारको और डाक्टरो को उससे अवगत कर दिया।......इस अनुभव के बाद मैंने उस आराम में ढीलाई कर दी, जो कि मुझ पर लादा गया था और अपने इस बुरे अनुभव को स्वीकार कर लेने से मुझे बड़ी मदद मिली। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो मेरे ऊपर से बड़ा भारी बोझ हट गया और कोई हानि हो सकने से पहले ही मैं सभल गया।......इससे अपनी मर्यादाएँ और अपूर्णताएँ भलीभांति मेरे सामने आ गई; लेकिन उनके लिए मैं उतना लज्जित नहीं हूं जितना कि सर्वसाधारण से उनको छिपाने में होता[३]।"

महात्मा गांधी ने सन् १६३२ में भी कहा—"मैं अपने को सोलह आने पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं मानता[४]।" और यही बात वे अपने जीवन के अन्त तक कहते रहे[५]। उन्होने पूर्ण ब्रह्मचारी होने का दावा नहीं किया, इसके चार कारण उन्होने बताये :

(१) मन के विकार काबू में रहते हैं लेकिन नष्ट नहीं हो पाये[६]। "जब तक विचारो पर ऐसा काबू नहीं प्राप्त होता कि इच्छा बिना एक भी विचार न आवे, तब तक सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। विचारमात्र विकार है[७]।"

(२) दूषित स्वप्न आते हैं : "सम्पूर्ण ब्रह्मचारी के स्वप्न मे भी विकारी विचार नहीं होते, और जब तक विकारी स्वप्न होते हैं तब तक ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है, ऐसा मानना चाहिए[८]।"

(३) वे ब्रह्मचर्य की अपनी व्याख्या को पूर्णतया पहुँच नहीं सके[९]। "मेरी व्याख्या को मैं नहीं पहुँचा हूँ, इसलिए मैं अपने को आदर्श ब्रह्मचारी नहीं मानता[१०]।"

१—अनीति की राह पर पृ० ६७-६६
२—जागृत अवस्था में उत्तेजन और स्राव
३—ब्रह्मचर्य (प. भा.) पृ० १०६-११०
४—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४१
५—(क) ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ३४ (ख) वही पृ० १०४ (ग) ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७ (घ) आरोग्य की कुंजी पृ० ३२ (ङ) ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ४७
६—ब्रह्मचर्य (दू० भा) पृ० ७
७—आत्मकथा (गु०) पृ० २६२
८—आत्मकथा (गु०) पृ० ३६७
६—आरोग्य की कुंजी पृ० ३२
१०—संयम अने सततिनियमन (गु०) पृ० १२

(४) पूर्ण ब्रह्मचारी में जो स्थिति उत्पन्न होती है, वह उनमें उत्पन्न नहीं हुई। सन् १९४७ में उन्होंने गीता में आए हुए स्थितप्रज्ञ के वर्णन की कसौटी पर अपने को कसते हुए कहा : "मैं स्वीकार करता हूं कि स्थितप्रज्ञ की स्थिति को पहुंचने की कोशिश करने पर भी मैं अभी उससे बहुत दूर हूं[१]।" स्थितप्रज्ञ पूर्ण ब्रह्मचारी का ही दूसरा नाम है।

महात्मा गांधी ने लिखा है : "जो मनुष्य अपनी आंखों में तेज लाना चाहता है, जो स्त्री-मात्र को अपनी सगी माता या बहन मानता है, उसे तो रज-कण से भी शुद्ध होना पड़ेगा। उसे एक खाई के किनारे खड़ा समझिए। जरा भी मुंह इधर-उधर हुआ कि गिरा। वह अपने मन से भी अपने गुणों की कानाफूसी करने का साहस नहीं कर सकता...[२]। नारद की कथा स्मरण रखो। नारद ने ज्यों ही ब्रह्मचर्य का अभिमान किया कि गिरे[३]।"

महात्मा गांधी ने अपने विषय में जो कहा है कि वे पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं सम्भव है कि उसमें नम्रता की इस भावना ने भी कुछ कार्य किया हो पर साथ ही अपने अन्तर चित्रों को उपस्थित करते हुए उन्होंने सत्य स्थिति नहीं रखी हो, यह भी नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही उन्होंने अपना चित्रण इस भावना से किया है—"जो आदमी जैसा है, उसे वैसा जानने में सदा सबका हित है। इससे कभी कोई हानि नहीं होती।" ऐसी स्थिति में हम उनके अपने अङ्कन को सही मान लें तो भी गलती नहीं करेंगे।

महात्मा गांधी ने जो कहा है कि वे पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं, उससे कोई ऐसा अर्थ न लगावे कि इतने-इतने भगीरथ प्रयत्न करने पर भी जब महात्मा गांधी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हो सके तब दूसरों की तो हस्ती ही क्या है? महात्मा गांधी ने एक बार नहीं अनेकों बार कहा है : "अपने आदर्श से दूर होते हुए भी मैं यह मानता हूं कि जब मैंने इस व्रत का आरम्भ किया तब मैं जहां पर था, उससे आगे बढ़ गया हूं[४]।"..."मैं अपनी व्याख्या को पूर्णतया पहुंच नहीं सका, तो भी मेरी दृष्टि से मेरी खासी अच्छी प्रगति हुई है[५]...।" एक बार उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा : "मैं भी विचार के विकार से दूर न हो सका तो दूसरों के लिए क्या आशा, ऐसी गलत त्रिराशि जोड़ने के बदले ऐसी सीधी त्रिराशि क्यों न लगायी जाय कि जो गांधी एक समय विकारी और व्यभिचारी था, वह आज अपनी स्त्री के साथ अविकारी मित्रता रख सकता हो, यदि वह आज रंभा जैसी युवती के साथ भी अपनी लड़की या बहिन के समान रहता हो, तो हम सब भी ऐसा क्यों न कर सकेंगे। हमारे स्वप्नदोष, विचार-विकार ईश्वर दूर करेगा ही। यही सीधा मेल है[६]।"

पूर्ण ब्रह्मचारी होना संभव है, इस बात को महात्मा गांधी ने इस प्रकार रखा : "जब विचार पर पूर्ण काबू प्राप्त हो जाता है तब पुरुष स्त्री को अपने में समा लेता है और स्त्री पुरुष को। इस प्रकार के ब्रह्मचारी के अस्तित्व में मेरा विश्वास है[७]।"

ऐसे ब्रह्मचारी दुनिया में बिरले ही होते हैं पर नहीं होते, ऐसा नहीं है। महात्मा गांधी लिखते हैं : "ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले इस दुनिया में बहुतेरे पड़े हैं। पर वे गली-गली मारे-मारे फिरें तो उनका मूल्य ही क्या होगा? हीरा पाने के लिए हजारों मजदूरों को धरती के पेट में समा जाना पड़ता है। इसके बाद भी जब धूप-कंकड़ों का पहाड़ धो डाला जाता है, तब कहीं मुट्ठी-भर हीरा हाथ लगता है। तब सच्चे ब्रह्मचर्यरूपी हीरे की तलाश में कितनी मेहनत करनी होगी, इसका जवाब हर आदमी त्रैराशिक करके निकाल सकता है[८]।"

उन्होंने लिखा है : "ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों की सफलता या सिद्धि मेरे जैसे किसी पर अवलम्बित नहीं, इसके पीछे लाखों ने तेजस्वी तपश्चर्या की है, और कितनों ही ने सम्पूर्ण विजय प्राप्त की है[९]।

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ६६
२—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ५५-५६
३—अमृतवाणी पृ० ११५
४—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७
५—आरोग्य की कुंजी पृ० ३२
६—संयम अने संततिनियमन (गु०) पृ० ५६
७—वही (गु०) पृ० ६३
८—अनीति की राह पर पृ० ६२
९—संयम अने संततिनियमन (गु०) पृ० ५६

यह महात्मा गांधी का उनकी अपनी दृष्टि से विचार है।

भगवान महावीर के अनुसार कार्य की निष्पत्ति 'तिविहं तिविहेणं' इस मंत्र के अनुसार होती है। मन, वचन और काय—ये तीन क्रिया के हेतु—करण हैं। और करना, कराना और अनुमोदन करना, ये क्रिया के तीन तरीके—योग हैं। तीन करण, तीन योग से कार्य उत्पन्न होता है। उन्होंने कहा—जो पूर्ण ब्रह्मचारी होना चाहता है, उसे यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से सर्व प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करना होगा—"नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए।" भगवान महावीर के अनुसार जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन नहीं करता, वह देश ब्रह्मचारी है। पूर्ण ब्रह्मचारी वह है जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन नहीं करता, न करवाता है और न करनेवाले का अनुमोदन करता है।

महात्मा गांधी ने एक बार लिखा: "किसी का भी विवाह करने का अथवा उसमें भाग लेने का अथवा उसे उत्तेजन देने का मेरा काम नहीं। पुनः आश्रम की भूमि पर विवाह हो, यह आश्रम के आदर्श के साथ मिलती वस्तु नहीं कही जा सकती। मेरा धर्म ब्रह्मचर्य का पालन करने-कराने का रहा है। मैं इस काल को आपत्तिकाल मानता हूं। वैसे समय में विवाह हो या प्रजावृद्धि हो, यह अनिष्ट समझता हूं। ऐसे कठिन समय में समझदार मनुष्य का कार्य भोग कम करने और त्यागवृत्ति बढाने का होना चाहिए[१]।"

इन उद्‌गारों से महात्मा गांधी का आग्रह पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए ही था, यह स्पष्ट है। ऐसा पक्ष, इच्छा और आदर्श होने पर भी महात्मा गांधी ने कितने ही विवाह अपने हाथों से कराये। एक बार उन्होंने कहा: "मैं आपसे कह दूं कि आप ब्रह्मचारी बनें तो क्या यह होनेवाली बात है? वह तो एक आदर्श है; इसलिए मैं तो विवाह भी करा देता हूं। एक आदर्श देते हुए भी यह तो जानता हूं कि ये लोग भोग भी करेंगे[२]।"

इस तरह भोगोत्पत्ति की परम्परा को प्रसरण करनेवाले प्रसंगों में महात्मा गांधी भी यदा-कदा भाग लेते हुए देखे जाते हैं।

एक बार महात्मा गांधी से पूछा गया—"पति को उपदंश जैसा कठिन रोग हो तब स्त्री क्या करे?" उन्होने उत्तर दिया: "...ऐसे पति को क्लीब समझ कर उसे दूसरी शादी कर लेनी चाहिए...[३]।"

यह उत्तर दो अपेक्षा से ही हो सकता है—(१) भोगी पति की अपेक्षा से, जो ऐसे रोग के समय भी संयम नहीं रख पाता। इस अपेक्षा से ऐसा उत्तर 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' ही होगा। (२) भोग की कामना रखनेवाली पत्नी की अपेक्षा से। इस अपेक्षा से यह उत्तर भोग की राह दिखाता है। संयम का मार्ग नहीं।

महात्मा गांधी कहा करते थे: "स्त्री-पुरुष के पत्नी-पति तरीके के सांसारिक जीवन के मूल में भोग है[४]।" एक पति को छोड़कर दूसरे पति के साथ विवाह करने में तो प्रत्यक्षतः यह एक मूल बात है। ऐसी हालत में विवाह का सुझाव अब्रह्म का ही अनुमोदन कहा जा सकता है।

एक बार बलवन्तसिंहजी ने पूछा, "कुछ लोग वासना का क्षय करने के लिए विवाह की आवश्यकता मानते हैं। क्या भोग से वासना का क्षय हो सकता है?" बापू ने जवाब दिया—"हरगिज नहीं[५]।"

यह ठीक वैसा ही उत्तर है, जैसा श्री हेमचन्द्राचार्य ने दिया: "जो स्त्री-संभोग से कामज्वर को शान्त करना चाहता है, वह घी की आहुति से अग्नि को शमन करना चाहता है।"

स्त्रीसंभोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति ।
स हुताशं घृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति[६] ॥

१—त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो पृ० १७४
२—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ८०
३—वही पृ० ६०
४—बापु ना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने पृ० १०३
५—बापू की छाया में पृ० २००
६—योगशास्त्र २.८१

ऐसा होते हुए भी बापूने ने एक बार लिखा—"स्त्री को देखकर जिसके मन में विकार पैदा होता हो, वह ब्रह्मचर्य-पालन का विचार छोड़कर, अपनी स्त्री के साथ मर्यादापूर्वक व्यवहार रखे ; जो विवाहित न हो, उसे विवाह का विचार करना चाहिए[१] ...।"

यहाँ विकार की शांति का उपाय बताते हुए उन्होंने एक तरह से विवाहित-संभोग का अनुमोदन कर दिया। इस तरह अनुमोदन के अनेक प्रसंग महात्मा गांधी के जीवन में देखे जाते हैं।

उन्होने एक बार कहा—"विवाहित स्त्री-पुरुष यदि प्रजोत्पत्ति के शुभ हेतु बिना विषय-भोग का विचार तक न करें, तो वे पूर्ण ब्रह्मचारी माने जाने के लायक हैं[२]।" दूसरी बार कहा—"जो दंपति गृहस्थाश्रम में रहते हुए केवल प्रजोत्पत्ति के हेतु ही परस्पर संयोग और एकान्त करते हैं, वे ठीक ब्रह्मचारी हैं[३]।" उन्होंने फिर कहा—"सन्तानोत्पत्ति के ही अर्थ किया हुआ संभोग ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं है[४]।"

इस तरह संतान के हेतु अब्रह्म का उनसे अनुमोदन हो गया।

एक बार महात्मा गांधी के साथी बलवन्तसिंहजी ने पूछा—"आप कहते हैं कि संतान के लिए स्त्री-संग धर्म है, बाकी व्यभिचार है ; और निर्विकार मनुष्य भी संतान पैदा कर सकता है। वह ब्रह्मचारी ही है। लेकिन जिसने विकार के ऊपर काबू पाया है, वह क्या संतान की इच्छा करेगा ?" महात्मा गांधी ने उत्तर दिया : "हाँ, यह अलग सवाल है। लेकिन ऐसे भी लोग हो सकते हैं, जो निर्विकार होने पर भी पुत्र की इच्छा रखते हैं।" बलवन्तसिंहजी ने कहा : "अधिकतर तो संतान की आड में काम की तृप्ति करते हैं।" महात्माजी बोले : "हाँ, यह तो ठीक है। आजकल धर्मज संतान कहाँ है ? मनु की भाषा में एक ही संतान धर्मज है, बाकी सब पापज हैं[५]।"

महात्मा गांधी ने 'पुत्र की इच्छा' को भोगेच्छा से जुदा माना है। उन्होंने भोगेच्छा को विकार माना है, सन्तानेच्छा को नहीं। उनके विचार को संभवतः इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि एक आदमी रसोई बनाने के लिए अग्नि सुलगाता है और दूसरा आदमी घर में आग लगाने के लिए अग्नि सुलगाता है। पहले मनुष्य का कार्य अनैतिक नहीं, दूसरे का अनैतिक है। उसी तरह जो विषय-भोग की कामना से भोग करता है, उस का कार्य अनैतिक है—अधर्म है। सन्तान की इच्छा से भोग करता है उसका नही।

जो शुद्ध दृष्टि पर गये हैं, उन ज्ञानियों का कहना है कि अग्नि जलाना मात्र हिंसा है, फिर वह किसी दृष्टि या प्रयोजन से ही क्यों न हो। रसोई बनाने के लिए अग्नि सुलगाना अनिवार्य हो सकता है। पर इस अनिवार्यता के कारण वह अहिंसा की दृष्टि से आध्यात्मिक नही कहा जा सकता। वैसे ही संयोग भले ही सन्तानेच्छा के लिए हो, वह कभी धर्म या आध्यात्मिक नही है। जननेन्द्रियों का उपयोग विषय-भोग की इच्छा से भी हो सकता है और सन्तान की इच्छा से भी। दोनों उपयोग अधर्म और अनाध्यात्मिक हैं। 'सन्तान की इच्छा' पूरी करने की प्रक्रिया विषय-भोग ही है। 'सन्तान की इच्छा' और 'विषय-भोग की इच्छा' एक ही अब्रह्म रूपी सिक्के के दो बाजू हैं। उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं माना जा सकता।

भगवान महावीर और स्वामीजी की दृष्टि से निम्नलिखित तीनों प्रकार के कार्य अब्रह्मचर्य की कोटि के हैं :

१—मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन करना

२—मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन कराना

३—मन-वचन-काय से अब्रह्म-सेवन का अनुमोदन करना

इस दृष्टि से जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन तो नही करता पर [illegible] का अनुमोदन करता है, वह भी ब्रह्मचारी नही।

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ०८

२—आरोग्य की कुंजी पृ० ३२

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ८१

४—वही पृ०७७

५—बापू की छाया में पृ० २००

महात्मा गांधी ने लिखा है कि उनके मन के विकार शांत नहीं हुए, इसलिए वे ब्रह्मचारी नहीं। श्रमण भगवान महावीर की दृष्टि से उन्होंने मन-वचन-काया से करने, कराने रूप भङ्गों का भी मोचन नहीं किया, इसलिए भी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं।

आचार्य भिक्षु ने कहा—"भगवन् ! मैंने यह समझा है और इसी तुला से तोला है कि जिसका करना धर्म है, उसका कराना और अनुमोदन करना भी धर्म है और जिसे करना अधर्म है, उसका कराना और अनुमोदन करना भी अधर्म है।

"वृक्ष को काटने में पाप है तो उसे काटने के लिए कुल्हाड़ी देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं।

"गाँव जलाने में पाप है तो उसे जलाने के लिए अग्नि देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है।

"युद्ध करने में पाप है तो युद्ध करने के लिए शस्त्र देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है[1]।"

इसी तरह किसी भङ्ग से अब्रह्मचर्य का सेवन करनेवाले ही अब्रह्मचारी नहीं, पर सेवन करानेवाला और अनुमोदन करानेवाला भी अब्रह्मचारी है।

महात्मा गांधी ने पूर्ण ब्रह्मचारी की एक कसौटी दी है। श्रमण भगवान महावीर और 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' इस तरह भगवान महावीर को माननेवाले स्वामीजी ने भी कसौटी दी है। इन कसौटियों पर अपने को कसता हुआ जो अपने हृदय के एक-एक कोने से अब्रह्म के कूड़े कचरे को दूर करता जायगा, वह निश्चय ही एक दिन पूर्ण ब्रह्मचारी हो जायगा, इसमें कोई सन्देह की चीज नहीं।

२१-महात्मा गांधी और ब्रह्मचर्य के प्रयोग

(१) कंधे का सहारा और साथ टहलना

सन् १९४२ में महात्मा गांधी ने कहा : "ज्यों-ज्यों हम सामान्य अनुभव से आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों हमारी प्रगति होती है। अनेक अच्छी-बुरी शोधें सामान्य अनुभव के विरुद्ध जाकर ही हो सकी हैं। चकमक से दियासलाई और दियासलाई से बिजली की शोध इसी एक चीज की आभारी है। जो बात भौतिक वस्तु पर लागू होती है, वही आध्यात्मिक पर भी होती है।......संयम धर्म कहाँ तक जा सकता है, इसका प्रयोग करने का हम सब को अधिकार है। और ऐसा करना हमारा कर्त्तव्य भी है[2]।" इसी भावना से वे ब्रह्मचर्य के विषय में कई प्रकार के प्रयोग करते रहे।

महात्मा गांधी बालिकाओं और स्त्रियों के कंधे का सहारा लेकर घूमा करते। भारतवासियों के लिए यह एक नया प्रयोग ही था। इस प्रयोग की शुरुआत के सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने लिखा है :

"सन् १८९१ में विलायत से लौटने के बाद मैंने अपने परिवार के बच्चों को करीब-करीब अपनी निगरानी में ले लिया, और उनके—बालक-बालिकाओं के कंधों पर हाथ रखकर उनके साथ घूमने की आदत डाल ली। ये मेरे भाइयों के बच्चे थे। उनके बड़े हो जाने पर भी यह आदत जारी रही। ज्यों-ज्यों परिवार बढ़ता गया, त्यों-त्यों इस आदत की मात्रा इतनी बढ़ी कि इसकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा[3]।"

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह प्रयोग बाद में आश्रम की बहिनों के साथ भी चला।

सन् १९२९ में एक सज्जन ने उत्तेजित होकर लिखा :

"इस सम्बन्ध में मेरी विनति है कि ऐसा प्रयोग आपको भी नहीं करना चाहिए। काष्ठ की पुतली भी मनुष्य को फंसा लेती है तो पराई स्त्रियों के कंधे पर हाथ रख कर फिरना और चाहे जिस तरह स्पर्श करना, क्या यह मनुष्य को अधःपतन के रास्ते पर ले जानेवाला नहीं ?...आपने तो योगाभ्यास ठीक साधा होगा, ऐसा मान भी लिया जाय तो दुनिया का वैसा साधा हुआ नहीं होता। दुनिया आज, बोलने के बनस्बित आप क्या करते हैं, यह देखने और उस प्रकार करने के लिए प्रेरित होती है, और बिना विचारे अनुकरण के लिए चल पड़ती है।"

१—भिक्षु विचार दर्शन पृ० ७९-८०

२—आरोग्य की कुंजी पृ० ३३

३—हरिजन सेवक, २७-९-३५ : ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ६७

इसके उत्तर में महात्मा गान्धी ने जो लिखा, उससे इस प्रयोग के पीछे रही हुई उनकी भावना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उन्होने लिखा :

"लेखक आश्रम में स्त्रियों के प्रति मेरे व्यवहार में, उनके मेरे मान्समान स्पर्श में दोष देखते हैं। इस विषय की आश्रम में मैंने अपने साथियों के साथ चर्चा की है। आश्रम में जो मर्यादित छूट पढ़ या अनपढ़ बहनें भोगती हैं, वैसी छूट अन्य कहीं हिन्द में वे भोगती हों, ऐसा मैं नहीं जानता। पिता अपनी पुत्री का निर्दोष स्पर्श सबके सामने करे, उसमें मैं दोष नहीं देखता। मेरा स्पर्श उसी प्रकार का है। मैं कभी एकान्त में नहीं होता। मेरे साथ रोज बालिकाएँ घूमने को निकलती हैं तब उनके कंधे पर हाथ रखकर मैं चलता हूं। उस स्पर्श की निरपवाद मर्यादा है, यह वे बालिकाएँ जानती हैं और सब समझती हैं।

"अपनी लड़कियों को हम अपङ्ग बनाते हैं, उनमें अयोग्य विकार उत्पन्न करते हैं, और जो उनमें नहीं है उसका आरोप करते हैं, और फिर हम उन्हें कुचलते हैं, और बहु बार व्यभिचार का भाजन बनाते हैं। वे यही मानना सीखती हैं कि वे अपने शील की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इस अपंगता से बालिकाओं को मुक्त करने का आश्रम में भगीरथ प्रयत्न चल रहा है। इस प्रकार का प्रयत्न मैंने दक्षिण अफ्रिका में ही आरंभ किया था। मैंने उसका खराब परिणाम नहीं देखा। किन्तु आश्रम की शिक्षा से कितनी ही बालिकाएँ, बीस वर्ष तक की हो जाने पर भी निर्विकार रहने का प्रयत्न करनेवाली हैं, दिन-दिन निर्भय और स्वाश्रयी बनती जाती हैं। कुमारिका मात्र के स्पर्श से या दर्शन से पुरुष विकार-मय होता ही है, ऐसी मान्यता पुरुष के पुरुषत्व को लज्जित करनेवाली है—ऐसा मैं मानता हूं। यह बात अगर सच ही है, तो ब्रह्मचर्य असंभव ठहरेगा।

"इस संधिकाल के समय इस देश में स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर सम्बन्ध की मर्यादा होनी ही चाहिए। छूट में जोखम है। इसका मैं रोज प्रत्यक्ष अनुभव करता हूं। अतः स्त्री-स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए जितनी मर्यादा रखी जा सकती हो उतनी आश्रम में रक्षित है। मेरे सिवा कोई पुरुष बालिकाओं का स्पर्श नहीं करता, करने का प्रसंग ही नहीं होता। पितृत्व लिया-दिया नहीं जा सकता।

"मैं स्पर्श करता हूं उसमें योगबल का जरा भी दावा नहीं है। मुझमें योगबल जैसा कुछ नहीं है। मैं दूसरों ही की तरह विकारमय माटी का पुतला हूं। पर विकारमय पुरुष भी पितारूप में देखने में आये हैं। मेरी अनेक पुत्रियाँ हैं, अनेक बहिनें हैं। एक पत्नीव्रत से मैं बंधा हुआ हूं। पत्नी भी केवल मित्र रही है। अतः सहज विकरात विकारों पर दबाव डालना पड़ता है। माता ने मुझे भर जवानी में प्रतिज्ञा का सौन्दर्य जानना सिखाया। वज्र से भी अधिक अभेद्य ऐसी प्रतिज्ञा की दीवाल मुझे सुरक्षित रखती है। मेरी इच्छा के विरुद्ध भी इस दीवाल ने मुझे सुरक्षित रखा है। भविष्य रामजी के हाथ में है[1]।"

इस विषय का कु० प्रेमाबहन कंटक ने अपने एक पत्र में जिक्र किया। उसके उत्तर में (१८-८-'३२ को) महात्मा गांधी ने लिखा :

"लोकमत याने जिस समाज के मत की हमको दरकार है, उसका मत। यह मत नीति से विरुद्ध न हो तब तक उसे सम्मान देना धर्म है। धोबी के किस्से पर से शुद्ध निर्णय करना कठिन है। हम लोगों को तो आज यह जरा भी अच्छा नहीं लगेगा। ऐसी टीका को सुनकर अपनी पत्नी का त्याग करनेवाला निर्दय और अन्यायी ही कहलायेगा।

"लड़कियों के साथ मेरी छूट से आश्रमवासियो को आघात पहुँचता हो तो छूट लेना मुझे बन्द कर देना चाहिए, ऐसी मेरी मान्यता है। यह छूट लेने का कोई स्वतंत्र धर्म नहीं और लेने में नीति का भंग नहीं। पर ऐसी छूट न लेने से लड़कियों पर बुरा असर होता हो, तो मैं आश्रमवासियों को समझाऊंगा और छूट लूंगा। लड़कियाँ ही मुझे न छोड़ें तो फिर क्या करना, यह देखना मेरा काम रहा। मैं जो छूट जिस प्रकार से लेता हूं उसकी नकल तो कोई भी न करे। 'आज से मुझे छूट लेनी है' इस प्रकार विचार कर कृत्रिम रूप से कोई छूट नहीं ली जा सकती और कोई इस तरह ले, तो यह बुरा ही कहा जायगा।······

"मूल बात यह है कि जो कोई विकार के वश होकर निर्दोष से निर्दोष लगनेवाली छूट भी लेता है, वह खुद खाई में गिरता है और दूसरों को भी गिराता है। अपने समाज में जब तक स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं होता, तब तक अवश्य चेतकर चलने की जरूरत है। इस सम्बन्ध में सबको लागू पड़े—ऐसा कोई राजमार्ग नहीं।...लौकिक मर्यादा मात्र खराब है, ऐसा कहकर समाज को आघात नहीं पहुंचाना चाहिए[2]।"

१—नवजीवन २८-७-'२६ : त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो पृ० २६०-६४

२—बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने (गु०) पृ० १२६-३० से संक्षिप्त

साबरमती में एक आश्रमवासी ने महात्माजी से कहा कि आप जब बड़ी-बड़ी उम्र की लड़कियों और स्त्रियों के कन्धों पर हाथ रखकर चलते हैं, तब इससे लोक-स्वीकृत सभ्यता के विचार को चोट पहुँचती मालूम देती है। किन्तु आश्रमवासियों के साथ चर्चा होने के बाद यह चीज जारी ही रही। सन् १९३९ में महात्मा गांधी के दो साथी वर्धा आये, तब उन्होंने महात्मा गांधी से कहा कि आपकी यह आदत संभव है कि दूसरो के लिए उदाहरण बन जाय।

महात्मा गांधी को यह दलील जंची नही। फिर भी वे इन चेतावनियों की अवलेहना करना नहीं चाहते थे और उन्होंने पांच आश्रम-वासियों से इसकी जांच करके सलाह देने के लिए कहा।

इसी बीच एक निर्णयात्मक घटना घटी। यूनिवर्सिटी का एक तेज विद्यार्थी अकेले में एक लड़की के साथ, जो उसके प्रभाव में थी, सभी तरह की आजादी से काम लेता था, और दलील यह दिया करता था कि वह उस लड़की को सगी बहन की तरह प्यार करता है। उसपर कोई अपवित्रता का जरा भी आरोपण करता तो वह नाराज हो जाता। वह लड़की उस नौजवान को बिल्कुल पवित्र और भाई के समान मानती। वह उसकी उन चेष्टाओं को पसन्द नहीं करती; आपत्ति भी करती। पर उस बेचारी में इतनी ताकत नहीं थी कि वह उन चेष्टाओं को रोक सकती।

इस घटना ने गांधीजी को विचार में डाल दिया। उन्हें साथियों की चेतावनी याद आई। उन्होंने अपने दिल से पूछा कि यदि उन्हें यह मालूम हो कि वह नवयुवक अपने बचाव में उनके व्यवहार की दलील दे रहा है तो वह कैसा लगे? इस विचार के बाद महात्मा गांधी ने उपर्युक्त प्रथा का परित्याग कर दिया। उन्होंने १२ सितम्बर, १९३५ के दिन यह निर्णय वर्धा के आश्रमवासियों को सुनाया।

अपनी मानसिक स्थिति को उपस्थित करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा था—"जहां तक मुझे याद है, मुझे कभी यह पता नही चला कि मैं इसमें कोई भूल कर रहा हूँ।...... यह बात नहीं कि यह निर्णय करते समय मुझे कष्ट न हुआ हो। इस व्यवहार के बीच या उसके कारण कभी कोई अपवित्र विचार मेरे मन में नही आया।" उन्होंने फिर लिखा: "मेरा आचरण कभी छिपा हुआ नही रहा है। मैं मानता हूँ कि मेरा आचरण पिता के जैसा रहा है और जिन अनेक लड़कियों का मैं मार्ग-दर्शक और अभिभावक रहा हूं, उन्होंने अपने मन की बातें इतने विश्वास के साथ मेरे सामने रखी कि जितने विश्वास के साथ शायद और किसी के सामने न रखती।"

प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी शुद्ध मानसिक स्थिति के होने पर भी उन्होंने यह प्रयोग क्यों बन्द किया। इसका कारण महात्मा गांधी ने इस प्रकार बताया है: "यद्यपि ऐसे ब्रह्मचर्य में मेरा विश्वास नहीं, जिसमें स्त्री-पुरुष का परस्पर स्पर्श बचाने के लिए एक रक्षा की दीवार बनाने की जरूरत पड़े और जो ब्रह्मचर्य जरासे प्रलोभन के आगे भग हो जाय तो भी जो स्वतंत्रता मैंने ले रखी है, उसके खतरो से मैं अनजान नही हूँ। इसलिए मेरे अनुसंधान ने मुझे अपनी यह आदत छोड़ देने के लिए सचेत कर दिया, फिर मेरा कन्धों पर हाथ रखकर चलने का व्यवहार चाहे जितना पवित्र रहा हो।" इस परित्याग के समय महात्माजी ने यह भी सोचा: "मेरे हरेक आचरण को हजारो स्त्री-पुरुष खूब सूक्ष्मता से देखते हैं। मैं जो प्रयोग कर रहा हूं, उसमें सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। मुझे ऐसे काम नहीं करने चाहिए जिन का बचाव मुझे दलीलो के सहारे करना पड़े।"

साधारण लोगों को चेतावनी देते हुए महात्मा गांधी ने कहा—"मेरे उदाहरण का कभी यह अर्थ नही था कि उसका चाहे जो अनुसरण करने लग जाय।...... मैंने इस आशा से यह निश्चय किया है कि मेरा यह त्याग उन लोगों को सही रास्ता सुझा देगा, जिन्होने या तो मेरे उदाहरण से प्रभावित होकर गलती की है या यों ही[1]।"

इस त्याग के थोडे दिनों के बाद (२८-९-३५ को) उन्होने एक बहिन को लिखा—".........मेरे त्याग के विषय में जब तू सब जानेगी तब तू भी मुझसे सहमत होगी, ऐसा मुझे विश्वास है[2]।" उसी बहिन को उन्होने पुन: (९-५-३६ को) लिखा: "लड़कियो के कन्धे पर हाथ रखना बन्द किया, उसके साथ मेरी विषय-वासना का कोई सम्बन्ध नही[3]।"

१—हरिजन सेवक, २७-९-'३५ : ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ६७-६९

२—बापूना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने पृ० २३५

३—वही पृ० २३६

त्याग के उपरान्त भी यह प्रयोग पुनः चालू कर दिया गया। इस सम्बन्ध में श्री बलवन्तसिंहजी ने बापू से एक पत्र में प्रकाश चाहा। बापू ने उत्तर देते हुए लिखा है :

"तुम्हारा पत्र बहुत ही अच्छा है, निर्मल है। और तुम्हारी सब शंका उचित है। भय भी स्थान पर है। और सावधानी स्वागत योग्य है।

"१९३५ की प्रतिज्ञा लिखी गई है अंग्रेजी में। गुजराती अथवा उसका हिन्दी अनुवाद मैंने पढ़ा नहीं था। मूल अंग्रेजी का अर्थ है—'बहनों के कन्धे पर हाथ रखने का मुहावरा मैंने रखा है, उसका मैं त्याग करता हूँ'।

"लेकिन लोक-संग्रह की दृष्टि से उसका त्याग किया। दिल में कभी यह अर्थ नहीं था कि मैं कभी किसी लड़की के कन्धे पर हाथ नहीं रखूंगा। मुझे खयाल नहीं है कि सेगांव में कन्धे पर हाथ रखने का मैंने किस लड़की से शुरू किया। लेकिन मुझे इतना खयाल है कि मुझ को १९३५ की प्रतिज्ञा का पूरा स्मरण था और वह स्मरण होते हुए मैंने उस लड़की के कन्धे पर हाथ रखा। हो सकता है उस लड़की के आग्रह को मैं रोक न सका, अथवा मुझे उसके कन्धे के टेक की दरकार थी। ऐसा तो मैं कैसे कह सकता हूँ कि दुर्बलता के कारण ही मैंने सहारा लिया। और अगर ऐसा भी था तो मैं प्रतिज्ञा के कायम रखने के लिए किसी भाई का सहारा ले सकता था। लेकिन मेरी प्रतिज्ञा का ऐसा व्यापक अर्थ था नहीं, मैंने कभी किया नहीं।

"अब रही अमल की बात। मैंने मेरे निर्णय का अमल शुरू किया, उसके बाद ही भाष्य चला। प्रथम भाष्य में जो अमल तीन चार दिन के बाद करने की बात थी, उसको मैंने दूसरे ही दिन शुरू कर दिया। जहाँ तक मेरी निर्विकारता अधूरी रहेगी, वहाँ तक भाष्य होना ही है। शायद वह आवश्यक भी है। सम्पूर्ण ज्ञान मौन से ज्यादा प्रकट होता है, क्योंकि भाषा कभी पूर्ण विचार को प्रकट नहीं कर सकती। अज्ञान विचार की निरंकुशता का सूचक है, इसलिए भाषारूपी वाहन चाहिए। इस कारण ऐसा अवश्य समझो कि जहाँ तक मुझे कुछ भी समझाने की आवश्यकता रहती है वहाँ तक मेरे में अपूर्णता भरी है अथवा विकार भी है। मेरा दावा छोटा है और हमेशा छोटा ही रहा है। विकारों पर पूर्ण अंकुश पाने का अर्थात् हर स्थिति में निर्विकार होने का मैं सतत प्रयत्न करता हूं, काफी जाग्रत रहता हूँ। परिणाम ईश्वर के हाथ में है। मैं निश्चिन्त रहता हूं (११-९-३८)।[1]"

(२) स्त्रियों के साथ खुला जीवन :

महात्मा गांधी स्त्रियों के साथ आजादी से मिलते-जुलते थे। उन्होंने लिखा है : "दक्षिण अफ्रिका में भारतियों के बीच मुझे जो काम करना पड़ा, उसमें स्त्रियों के साथ आजादी के साथ हिलता-मिलता था। ट्रांसवाल और नेटाल में शायद ही कोई भारतीय स्त्री हो जिसे मैं न जानता होऊं।"

ऐसे घुले-मिले जीवन में भी उन्होंने ब्रह्मचर्य की किस तरह रक्षा की, इसकी झांकी उन्होंने इस रूप में दी :

"......दुनिया में आजादी से सबके साथ हिलने-मिलने पर ब्रह्मचर्य का पालन यद्यपि कठिन है, लेकिन अगर संसार से नाता तोड़ लेने पर ही यह प्राप्त हो सकता है तो इसका कोई विशेष मूल्य ही नहीं है। जैसे भी हो मैंने तो तीस वर्ष से भी अधिक समय से प्रवृत्तियों के बीच रहते हुए, ब्रह्मचर्य का खासी सफलता के साथ पालन किया है।" अपनी दृष्टि के विषय में उन्होंने लिखा है : "मेरे लिए तो इतनी सारी स्त्रियां बहनें और बेटियां ही थीं।......धार्मिक साहित्य में स्त्रियों को जो सारी बुराई और प्रलोभन का द्वार बताया गया है, उसे मैं इतना भी नहीं मानता।" आगे जाकर उन्होंने लिखा है......"स्त्रियों को मैंने कभी इस तरह नहीं देखा कि कामवासना की तृप्ति के लिए ही वे बनाई गई हैं, बल्कि हमेशा उसी श्रद्धा के साथ देखा है जो कि मैं अपनी माता के प्रति रखता हूँ[2]।"

'सत्याग्रह आश्रम के इतिहास' से पता चलता है कि आश्रम में ब्रह्मचर्य की व्याख्या पूर्ण रखी गयी थी। आश्रम में स्त्री-पुरुष दोनों रहते थे। और उन्हें एक दूसरे के साथ मिलने की काफी आजादी थी। आदर्श यह था कि जितनी स्वतंत्रता माँ-बेटे या बहिन-भाई भोगते हैं, वही आश्रमवासियों को मिल सके[3]। इस प्रयोग में जो जोखिम थी, उससे महात्मा गांधी परिचित थे और उन्होंने लिखा है :

१—बापू की छाया में पृ० २४९-५०

२—हरिजन सेवक, २३-७-३८ : ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०४

३—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४२

"स्त्री-पुरुष एक ही आश्रम में रहें, साथ काम करें, एक दूसरे की सेवा करें और ब्रह्मचर्य रखने की कोशिश करें, तो इसमें डर बहुत है। इसमें एक हद तक पश्चिम की जानबूझ कर नकल है। इस तरह के प्रयोग करने की अपनी योग्यता में मुझे शक है। मगर यह तो मेरे सारे प्रयोगों के बारे में ही कहा जा सकता है। यह शंका बहुत जोरदार है, इसीलिए मैं किसी को अपना शिष्य नहीं मानता। समझबूझ कर जो आश्रम में आये हैं, वे सब जोखमों को जानते हुए भी साथी के रूप में आश्रम में आये हैं। लड़के और लड़कियों को मैं अपने बच्चे मानता हूं। इसलिए वे सहज ही मेरे प्रयोगों में घसीटे जाते हैं। सब प्रयोग सत्यरूपी परमेश्वर के नाम पर हैं। वह कुम्हार है और हम उसके हाथ में मिट्टी हैं[1]।"

इस तरह जोखम उठाकर ब्रह्मचर्य-पालन करने की कोशिश के प्रयोग में निराशा जैसा अनुभव महात्मा गांधी को नहीं हुआ। उनके अनुभव के अनुसार स्त्री-पुरुष दोनो को कुल मिलाकर लाभ ही हुआ। सबसे ज्यादा फायदा स्त्रियों को हुआ[2]। प्रयोग करने में कुछ स्त्री-पुरुष नाकामयाब रहे, कुछ गिर कर उठे। महात्मा गांधी ने लिखा है: "प्रयोग मात्र में ठोकर, ठेस तो खानी ही होती है। जिसमें सोलहों आने सफलता है, वह प्रयोग नहीं। वह तो सर्वज्ञ का स्वभाव कहा जायगा[3]।"

आश्रमवासियों के बारे में महात्मा गांधी के पास शंकाएं आयीं तब एक बार महात्मा गांधी ने लिखा: "आश्रम में जो कुटुम्ब-भावना के नाम पर अन्तर में विषयों का सेवन करते होंगे, वे तो तीसरे अध्यायवाले मिथ्याचारी हैं। हम यहां सत्याचारी की बात कर रहे हैं। और यह सोच रहे हैं कि सत्याचारी को क्या करना चाहिए। इसलिए आश्रम में अगर ९९ फीसदी लोग कुटुम्ब-भावना का ढोंग करके विषयों का सेवन करते हों, तो भी अगर १ फीसदी भी बाहर और भीतर से केवल कुटुम्ब-भावना का ही सेवन करते हों, तो उससे आश्रम कृतार्थ हो जायगा। इसलिए हमें यह नहीं सोचना है कि दूसरा क्या करता है। हमें तो यही विचार करना है कि अपने लिए क्या हो सकता है।" कुटुम्ब-भावना की पृष्ठ-भूमिका में सिद्धान्त क्या है, इस की चर्चा करते हुए उन्होने कहा: "इसके साथ ही साथ इतना तो सही है ही किसी का महल देख कर हम अपनी झोंपड़ी न उखाड़ें। कोई कुटुम्ब-भावना से रह सकने का दावा करे, मगर हम अपने में यह शक्ति न पायें तो उसके दावे का स्वीकार करते हुए भी हम तो कुटुम्ब की छूट से दूर ही रहें। आश्रम में हम एक नया, और इसलिए भयंकर प्रयोग कर रहे हैं। इस कोशिश में सत्य की रक्षा करते हुए जो घुलमिल सकें, वे घुलमिल जायें। जो न घुलमिल सकें, वे दूर रहें। हमने ऐसे धर्म की कल्पना नहीं की है कि आश्रम में सभी सब तरह से स्त्री मात्र के साथ घुलें मिलें। इस तरह घुलने-मिलने की हमने सिर्फ छूट रखी है। धर्म का सेवन करते हुए जो इस छूट को ले सकता है, वह ले ले। मगर इस छूट को लेने में जिसे धर्म खो बैठने का डर है, वह आश्रम में रहते हुए भी उससे सौ कोस दूर भाग सकता है[4]।" इस प्रयोग में महात्मा गांधी एक वैज्ञानिक की सी दृढ़ता से लगे थे: "हाइड्रोजन और आक्सीजन को मिलाने पर धड़ाका होना संभव है, यह जानते हुए भी रसायनशास्त्री इस प्रयोग को छोड़ थोड़े ही देंगे? हमारे यहां ऐसे धड़ाके होते रहेंगे, किन्तु इससे क्या हुआ[5]। ......सौ में पांच प्रयोग गलत साबित हुए हों, तो उससे क्या हुआ? हमें भूल करने का अधिकार है। जहां से भूल होगी, वहीं से फिर गिरेंगे और आगे बढ़ेंगे[6]।"

(२) बहिनों से पत्र-व्यवहार:

महात्मा गांधी का पत्र व्यवहार विवाहित-अविवाहित अनेक बहिनों के साथ चलता रहा। पत्रों द्वारा वे बहिनों को अनेक प्रकार की शिक्षाएं देते, उनकी समस्याओं का हल करते और धार्मिक उन्नति की बातें बतलाते। जब कभी बहनें ब्रह्मचर्य अथवा ऋतु सम्बन्धी विषयों पर प्रश्न पूछतीं तब वे उन्हें पूरा उत्तर देते। बहिनो के पत्रों में ऐसे प्रश्नों को छूना नाजुक था और भारत-भूमि में यह एक नया प्रयोग ही कहा

१—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४३

२—वही पृ० ४३

३—वही पृ० ४४

४—महादेव भाई की डायरी (पहला भाग) पृ० १०८

५—वही (तीसरा भाग) पृ० ११

६—वही (पहला भाग) पृ० १०६

जायेगा। महात्मा गांधी के साथ बहिनों के पत्र-व्यवहार के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और वे बड़े प्रभावक हैं। बहिनों के साथ ब्रह्मचर्य सम्बन्धी प्रश्नों पर भी कैसे खुलकर बात-चीत होती थी, उसका नमूना कुछ पत्रों के निम्न उद्धरणों से पाठकों के सामने आ सकेगा।

"....रक्तपित आदि रोग जिसके हुए हैं, उसे जबरदस्ती से नपुंसक करने की प्रथा को पसन्द करने में अनेक रुकावट आती हैं। इससे अनेक प्रकार के अनर्थ होने की संभावना है। पुनः किसी भी रोग को असाध्य मान लेना भी उचित नहीं। संयम का प्रचार कर जितना फल प्राप्त किया जा सके, उतने से संतुष्ट रहना, इसीमें मुझे सही-सलामत लगती है। पद-पद पर मुझे कायरता की गंध आती है। कायर कातने वाला सूते में पड़ी हुई गुत्थी को चाकू से निकालेगा। कुशल कातनेवाला धीरज से और कला से उसे सुलझायेगा और सूते को अविच्छिन्न रखेगा। ऐसा ही कुछ अहिंसक मनुष्य असाध्य मानी जानेवाली व्याधि से पीड़ित लोगों के लिए ढूंढेगा (२-६-३५)[1]।"

"महाराष्ट्र के पत्र की बात बिल्कुल सत्य है। पर उसकी कल्पना बिल्कुल असत्य है। लड़कियों के कंधों पर हाथ रखकर मैं अपनी विषय-वृत्ति का पोषण करता था, ऐसा इस लिखनेवाले के पत्र का अर्थ किया जा सकता है। इसका कथन तो जुदा ही था। पर बात यह है कि, लडकियों के कंधों पर हाथ रखना बन्द किया उसके साथ मेरी विषय-वासना का कोई सम्बन्ध नहीं।

"इसकी उत्पत्ति[2] केवल निकम्मे पड़े रहकर खाते रहने में थी। मुझे स्राव हुआ, पर मैं जाग्रत था और मन अंकुश में था। कारण समझ गया और तब से डाक्टरी आराम लेना बन्द कर दिया। और अब तो मेरी जो स्थिति थी उससे अधिक सरस की कल्पना की जा सके तो सरस है। इस विषय में तुझे विशेष पूछना हो तो पूछ सकती हो, क्योंकि तुम से मैंने बड़ी आशाएँ रखी हैं। अतः तू मुझसे मेरे विषय में जो जानना हो वह जान ले।

"जननेन्द्रिय विषय के लिए है ही नहीं, यदि यह स्पष्ट हो जाय तो समूची दृष्टि ही न पलट जाय? जैसे कोई रास्ते में क्षय रोगी के खंखार को मणि समझकर उसे हाथ में लेने के लिए उत्सुक होता है, पर खखार है, ऐसा समझते ही वह शान्त हो जाता है। उसी प्रकार जननेन्द्रिय के उपयोग के विषय में है। बात यह है कि यह मान्यता ऐसी दृढ़ और स्पष्ट कभी थी नहीं। और अब तो नया शिक्षण इस मत की निंदा करता है, मर्यादित विषय-सेवन को सद्गुण मानने को कहता है, और उसकी आवश्यकता है, ऐसा सुझाता है। इन सब पर विचार कर देखना (६-५-३६)[3]।"

जब इस बहिन ने महात्मा गांधी से उन्हें स्वप्न होते हैं या नहीं, यह जानने की इच्छा की तो उन्होंने लिखा :

"तूने प्रश्न उचित पूछा है। अब भी और अधिक स्पष्टता से पूछ सकती है। मुझे (स्वप्न में) स्खलन तो हमेशा हुए हैं। दक्षिण अफ्रिका में वर्षों का अन्तर पड़ा होगा, मुझे पूरा याद नहीं। यहाँ महीने के अन्दर होता है। स्खलन होने का उल्लेख मैंने अपने दो-चार लेखों में किया है। यदि मेरा ब्रह्मचर्य स्खलन-रहित होता तो आज मैं जगत के सम्मुख बहुत अधिक वस्तु रख सकता। पर जिसे १५ वर्ष की उम्र से लेकर ३० वर्ष की उम्र तक, फिर चाहे अपनी स्त्री के विषय में ही रहा हो, विषयभोग किया है, वह ब्रह्मचारी होकर वीर्य को सर्वथा रोक सके, यह लगभग अशक्य जैसा मालूम होता है। जिसकी संग्राहक शक्ति १५ वर्ष तक दिन प्रतिदिन क्षीण होती रही है, वह एकाएक इस शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसका मन और शरीर दोनों निर्बल हो चुके होते हैं। अतः अपने स्वयं को मैं बहुत अपूर्ण ब्रह्मचारी मानता हूं। पर जिस तरह जहाँ वृक्ष नहीं होता वहाँ एरंड ही प्रधान होता है, वही मेरी स्थिति है। यह मेरी अपूर्णता संसार को मालूम है।"

रुग्णता में जो अनुभव हुआ उसको विशेष रूप से जानने की जिज्ञासा का उत्तर उन्होंने उपर्युक्त पत्र में ही इस प्रकार दिया :

"जिस अनुभव ने मुझे बम्बई में तंग किया, वह तो विचित्र और दुःखदायी था। मेरे सारे स्खलन स्वप्नों में रहे, उन्होंने मुझे सताया नहीं। उन्हें मैं भूल सका हूं। पर बम्बई का अनुभव तो जाग्रत स्थिति में था। इस इच्छा को पूरी करने की तो मूल में ही वृत्ति न थी, मूढ़ता जरा भी न थी। शरीर पर काबू पूरा था। पर प्रयत्न होने पर भी इन्द्रिय जाग्रत रही, यह अनुभव नया था और शोभा न दे, ऐसा था। उसका कारण तो मैंने बताया ही है। यह कारण दूर होने पर जागृति बंद हुई। अर्थात् जाग्रत अवस्था में बन्द।"

इसके बाद पत्र में अपनी शुद्धि और ब्रह्मचर्य की साध्यता के विषय पर एक सुन्दर प्रवचन-सा ही है।

१—बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने पृ० २३५

२—इसका सम्बन्ध बीमारी के समय की उस बेचैनीपूर्ण घटना से है जिसका उल्लेख पीछे पृ० ६८ पर आया है।

३—बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने पृ० २३६-७

"मेरी अपूर्णता होने पर भी एक वस्तु मेरे लिए सुसाध्य रही है। वह यह कि मेरे पास हजारों स्त्रियां सुरक्षित रही हैं। ऐसे प्रसंग मेरे जीवन में आए हैं, जब अमुक बहिनों को, उनमें विषय-वासना होने पर भी ईश्वर ने उन्हें, अथवा कहो मुझे बचाया है। यह ईश्वर की ही कृति है, ऐसा मैं शत-प्रतिशत मानता हूं। इससे मुझे इस बात का जरा भी अभिमान नहीं। यह मेरी स्थिति मरणान्त तक कायम रहे, ऐसी ईश्वर से मेरी नित्य प्रार्थना रहती है।

"शुकदेव की स्थिति प्राप्त करने का मेरा प्रयत्न है। वह प्राप्त नहीं कर सका हूं। वह स्थिति पैदा हो तो वीर्यवान होते हुए भी मैं नपुंसक बनूं और स्खलन असंभव हो।

"पर ब्रह्मचर्य के विषय में जो विचार इधर में दर्शाये हैं, उनमें कोई न्यूनता नहीं, अतिशयोक्ति नहीं। इस आदर्श तक प्रयत्न से चाहे जो स्त्री-पुरुष पहुँच सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस आदर्श को मेरे जीते जगत या हजारों मनुष्य पहुँच जायंगे। इसे हजारों वर्ष लगने हों तो भले ही लगें, पर यह वस्तु सच्ची है, साध्य है, सिद्ध होनी ही चाहिए।

"मनुष्य को अभी तो बहुत मार्ग काटना है। अभी उसकी वृत्ति पशु की है। मात्र आकृति मनुष्य की है। ऐसा लगता है, जैसे हिंसा चारों ओर फैल रही है। असत्य से जगत भरा है। तो भी सत्य-अहिंसा धर्म के विषय में शंका नहीं, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के विषय में समझो।

"जो प्रयत्न करते हैं फिर भी जलते रहते हैं, वे प्रयत्न नहीं करते। जो अपने मन में विकारों का पोषण करते रहने पर भी, केवल स्खलन नहीं होने देना चाहते, स्त्री-संग नहीं करना चाहते, उनके प्रति दूसरा अध्याय लागू पड़ता है। ये मिथ्याचारियों में गिने जायंगे।

"मैं अभी जो कर रहा हूं, वह है विचार शुद्धि।

"आधुनिक विचार ब्रह्मचर्य को अधर्म मानता है। इससे कृत्रिम उपायों से संतति को रोक कर विषय-सेवन का धर्म-पालन करना चाहता है। इसके सम्मुख मेरी आत्मा विद्रोह करती है।

"विषयासक्ति जगत में रहेगी ही, पर जगत की प्रतिष्ठा ब्रह्मचर्य पर है और रहेगी (२१ ५-'३६)[1]।"

इन पत्रों की प्रथा ने भी काफी बवंडर उत्पन्न किया। महात्मा गांधी को लिखना पड़ा : "साबरमती-आश्रम की सदस्या प्रेमाबहन कंटक के नाम लिखी गई मेरी चिट्ठियां भी मेरे पतन को सिद्ध करने के काम में लाई गई हैं। प्रेमाबहन एक ग्रेजुएट महिला और योग्य कार्य-कर्त्री है। वह ब्रह्मचर्य और इसी प्रकार के दूसरे विषयों पर प्रश्न पूछा करती थी। मैं उन्हें पूरे जवाब भेजता था। उन्होंने यह सोच कर कि ये जवाब सर्व साधारण के लिए भी उपयोगी होंगे, मेरी इजाजत से उन्हें प्रकाशित कर दिया। मैं उन्हें बिल्कुल निर्दोष और पवित्र मानता हूं[2]।"

(४) औपचारिक मालिश और स्नान

दक्षिण अफ्रिका में महात्मा गांधी स्त्री-पुरुषों की प्राकृतिक चिकित्सा किया करते। सेवाग्राम आश्रम में स्त्री-पुरुष परस्पर रोगी की परिचर्या करते।

स्वयं महात्मा गांधी स्त्रियों से मालिश करवाते और उनसे औपचारिक स्नान लेते। मालिश कराते समय वे प्रायः नग्न होते। बहिनें भी मालिश करतीं। यह प्रयोग भी भारतभूमि में नया ही कहा जायगा। इस छूट की भी आलोचना हुई। एक बार महात्मा गांधी ने कहा :

"मालिश और औपचारिक स्नान—ये बातें ऐसी हैं, जिनके लिए मेरे आस-पास के व्यक्तियों में डॉक्टर सुशीला नैयर सब से अधिक योग्य हैं। उत्सुक व्यक्तियों की जानकारी के लिए यह बतला दूं कि ये काम तनहाई में कभी नहीं किये जाते। ये काम डेढ घंटे से भी अधिक देर तक होते रहते हैं, और इसके बीच मैं प्रायः सो जाता हूं......या दूसरे साथियों के साथ काम भी करता हूं[3]।" मालिश और स्नान का कार्य अन्य बहिनें भी करतीं।

महात्मा गांधी ने अपनी इन प्रवृत्तियों को लक्ष्य कर लिखा :

"मेरे इस जीवन में कोई गोपनीयता नहीं है। कमजोरियां मुझमे भी हैं जरूर। लेकिन अगर कामुकता की ओर मेरा झुकाव होता तो मुझ

१—बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने पृ० २३८-४०
२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० २९
३—वही पृ० २८

में इतना साहस है कि मैं उसको कबूल कर लेता।"

उन्होंने अपने खुले जीवन के बारे में लिखा है :

"जब मेरे अन्दर अपनी पत्नी के साथ विषय-संबन्ध रखने की अरुचि काफी बढ़ गई, और इस सम्बन्ध में मैंने काफी परीक्षा कर ली, तभी मैंने १६०६ में ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था। उसी दिन से मेरा खुला जीवन शुरू हो गया। सिर्फ उस अवसर को छोड़ कर, जिसका कि मैंने 'यंगइन्डिया' और 'नवजीवन' के अपने लेखों में उल्लेख किया है, और कभी मैं अपनी पत्नी या अन्य स्त्रियों के साथ दरवाजा बंद करके सोया या रहा होऊं, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। और वे रातें मेरे लिए सचमुच काली रातें थीं। लेकिन जैसा कि मैंने बार-बार कहा है, अपने बावजूद ईश्वर ने मुझे बचाया है।

"जिस दिन से मैंने ब्रह्मचर्य शुरू किया, उसी दिन से हमारी स्वतंत्रता का आरंभ हुआ है। मेरी पत्नी मेरे स्वामित्व के अधिकार से मुक्त हो गई, और मैं अपनी उस वासना की दासता से मुक्त हो गया, जिसकी पूर्ति उसे करनी पड़ती थी।

"जिस भावना में मैं अपनी पत्नी के प्रति अनुरक्त था, उस भावना में और किसी स्त्री के प्रति मेरा आकर्षण नहीं रहा है। पति के रूप में उसके प्रति मैं बहुत बफादार था और अपनी माता के सामने किसी अन्य स्त्री का दास न बनने की मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसके प्रति भी मैं वैसा ही वफादार था।

"जिस तरह मेरे अन्दर ब्रह्मचर्य का उदय हुआ, उसके कारण अदम्यरूप से स्त्रियों को मैं मातृभाव से देखने लगा। स्त्रियां मेरे लिए इतनी पवित्र हो गईं कि मैं उनके प्रति कामुकतापूर्ण प्रेम का ख्याल ही नहीं कर सकता। इसलिए तत्काल हरेक स्त्री मेरे लिए बहन या बहन की तरह हो गयी।

"फिनिक्स में मेरे आसपास काफी स्त्रियां रहती थीं। दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेज व हिंदुस्तानी अनेक बहनों का विश्वास प्राप्त था।...भारत लौटने पर यहां भी जल्दी ही मैं भारतीय स्त्रियों में हिलमिल गया।......दक्षिण अफ्रिका की तरह यहां भी मुसलमान स्त्रियों ने मुझसे कभी परदा नहीं किया। आश्रम में मैं स्त्रियों से घिरा हुआ सोता हूं, क्योंकि मेरे साथ वे अपने को हर तरह सुरक्षित महसूस करती हैं। मुझे यह भी याद दिला देनी चाहिए कि सेगांव-आश्रम में कोई पेशादगी नहीं है।

"अगर स्त्रियों के प्रति मेरा कामुकतापूर्ण झुकाव होता तो, अपने जीवन के इस काल में भी, मुझमें इतना साहस है कि मैंने कई पत्नियां रख ली होतीं।

"गुप्त या खुले स्वतंत्र प्रेम में मेरा विश्वास नहीं है। उन्मुक्त प्रेम को मैं तो कुत्तों का प्रेम समझता हूं। और गुप्त प्रेम में तो, इसके अलावा कायरता भी है[1]।"

(५) अन्तिम और सब से बड़ा प्रयोग

सन् १९४७ के साम्प्रदायिक दंगे के समय महात्मा गान्धी नोआखाली गये। मनु बहन गान्धी श्रीरामपुर में उनके साथ हुईं। उस समय बहिन की उम्र १८-१६ वर्ष की रही।

मनु बहिन रिश्ते में महात्मा गांधी की पोती होती थी। उनकी माता का देहान्त उस समय हो गया जब वह केवल बारह साल की थी। बा ने कभी इन्हें माँ की कमी महसूस न होने दी। आगाखान महल में बा की अस्वस्थता के समय मनु बहन सरकार द्वारा उनकी परिचर्या के लिए नागपुर जेल से वहां भेजी गईं। तेरह महीने तक मनु बहन बा की सतत सेवा करती रहीं। बा का मनु बहन पर असीम स्नेह था। सन् ४४ की २२ फरवरी को बा का देहावसान हुआ। उसी रात को, बा के अग्निदाह के बाद बापू ने मनु बहन को अपने पास बुलाया और बाकी की कई चीजें उसके हाथ में दीं। उनमें बा की हाथी दांत की दो पुरानी चूड़ियां भी थीं। उस समय बापू ने कहा :"...अब तुम्हारा काम यह है कि जैसे भरत ने राम के बदले राम की पादुका को गादी पर बैठाकर उनसे प्रेरणा ली थी, वैसे ही तुम भी इन चीजों से प्रेरणा लो। और बा कैसी सती थी! उसका सबूत यह है कि उनकी ये चूड़ियां मनो लकड़ियों की आग में से भी सही सलामत निकली हैं।" बापू मनु बहन को प्यार में 'मनुडी' कहते। और इस १४-१५ साल की बच्ची की देख-भाल करते। वे बार-बार कहा करते—'मैं तो तुम्हारी माँ बन चुका

१—हरिजन-सेवक, ४-११-'३६ ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० २६-३१ का सारांश

हूँ न ? वैसे बाप तो बहुतों का बन चुका, लेकिन माँ सिर्फ तुम्हारी ही बना हूँ[१]।"

गांधीजी नोआखाली जाने को थे। उस समय मनु बहन के पिता जयसुखलाल भाई को पत्र दिया जिसमें लिखा—"इस समय मनु का स्थान मेरे पास ही हो सकता है।..." मनु बहन ने उत्तर में लिखा : "यदि मुझे किसी गांव में बैठाने का इरादा हो तो मुझे वहाँ नहीं आना है; परन्तु आप अपनी व्यक्तिगत सेवा करने देने की शर्त पर आने दें तो ही मेरी इच्छा वहाँ आने की है।" बापू ने तार द्वारा प्रस्ताव स्वीकार किया। मनु ने उत्तर में लिखा : "...एक बार......आदि मेरी सभी सहेलियाँ जानेवाली थीं; तब मैंने कहा था, 'बापू, अब तो मैं अकेली हो गयी।' तब आपने मुझ से कहा था, तुम और मैं अकेले ही रहेंगे। मैं जीता हूँ तब तक तुम अकेली कैसे हो?' और फिर आपने गीता के 'आपूर्यमाणम्'...श्लोक का अर्थ समझाया था। वह दिन सचमुच आ गया। मैं तो ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ कि वह मुझे अन्त तक प्रामाणिकता से आपकी सेवा करने की शक्ति दे। ...सेवा करते-करते कोई छुरा भी भोक देगा तो खुशी से वह दुःख सह लूँगी।......[२]।"

मनु बहन अपने पिता के साथ ता० १९-१२-४६ को श्रीरामपुर पहुँची। गांधीजी ने जयसुखलाल भाई से कहा :..."यहाँ तो करना या मरना है। इसके लिए मनु की तैयारी होगी, इसका मुझे विश्वास नहीं था। ...यहाँ इसकी परीक्षा होगी। मैंने इस हिन्दू-मुस्लिम एकता को यज्ञ कहा है। इस यज्ञ में जरा भी मैल हो तो काम नहीं चल सकता। इसलिए मनु के मन में जरा भी मैल होगा तो इसका बुरा हाल होगा। यह सब तुम समझ लो, जिससे अब भी वापस जाना हो तो यह तुम्हारे साथ चली जाय। बाद में बुरा हाल होने पर जाय, उसके बजाय अभी लौट जाना ज्यादा अच्छा है।"

रात में महात्माजी ने मनु बहन को अपने साथ अपनी शय्या में सुलाया। रात को ठीक १२॥ बजे सिर पर हाथ फेर कर बापू ने मनु बहन को जगाया। बोले : "मनुड़ी, जागती हो क्या ? मुझे तुम्हारे साथ बातें करनी हैं। तुम अपना धर्म अच्छी तरह समझ लो।..." मनु बहन का निश्चय रहा : "जहाँ आप वहाँ मैं, मेरी यह एक शर्त आपको मंजूर हो तो फिर मैं किसी भी परीक्षा का और आपकी किसी भी शर्त का स्वागत करूँगी।" गांधीजी ने पत्र लिखा : "चि० मनुड़ी, अपना वचन पालन करना। मुझ से एक भी विचार छिपाना मत। जो बात पूछूँ उसका बिल्कुल सच्चा उत्तर देना। आज मैंने जो कदम उठाया, वह खूब विचारपूर्वक उठाया था। उसका तुम्हारे मन पर जो असर हुआ हो वह मुझे लिख देना। मैं तो अपने सब विचार तुम्हें बताऊँगा ही। परन्तु इतना वचन मुझे तुम्हारी ओर से चाहिये। यह हृदय में अंकित करके रख लेना कि मैं जो कुछ कहूँगा या चाहूँगा, उसमें तुम्हारा भला ही मेरे सामने होगा[३]।" मनु बहन ने मरते दम तक सब कष्ट सहन करने का वचन दिया। गांधीजी ने लिखा : "तुम्हारी श्रद्धा सचमुच ही यहाँ तक पहुँच गई हो तो तुम सुरक्षित हो। तुम इस महायज्ञ में पूरा भाग अदा करोगी—मूर्ख हो तो भी...।" जब मनु बहन के पिताजी लौटने लगे तब गांधीजी ने कहा : "मेरी धारणा है कि जब तक मैं जिंदा हूँ तब तक उसे जाने को नहीं कहूँगा। यह तंग आ जाय तो भले ही जा सकती है। परन्तु मेरा तो अभयदान है कि वह चाहे तो मुझे छोड़ सकती है, पर मैं इसे नहीं छोड़ूँगा।......[४]" दिन में गांधी ने कहा —"अपनी माँ से कुछ भी छिपाओगी तो पाप लगेगा। भले अच्छा विचार आये या बुरा, सब मुझे कह देना[५]।"

इस तरह मनु बहन गांधीजी की सार-सम्भाल में रहने लगी। गान्धीजी मनु बहन को अपनी ही शैया पर सुलाने लगे। इस कार्य के पीछे कई भावनाएँ थीं।

१—१९ वर्ष की आयु में भी मनु बहन में कामोद्रेक नहीं, ऐसा उसका कहना था[६]। गांधीजी के मन में विचार उठा या तो 'मनुड़ी' अपने मन को नहीं जानती अथवा स्वयं को धोखा दे रही है। उन्होंने सोचा माँ के रूप में मेरा कर्त्तव्य है कि मैं असली बात जानूँ।

१—बापू—मेरी माँ पृ० ३-१२

२—अेकला चलो रे पृ० ४-६

३—अेकला चलो रे पृ० ७-८

४—वही पृ० १०-११

५—वही पृ० १२

६—My days with Gandhi P. 155

गांधीजी इस राय के थे कि लड़कियाँ भी मन हो तो ब्रह्मचारिणी रह सकती हैं, पर मन में विकार का पोषण करते हुए विवाह न करने के हिमायती नहीं थे। यदि इस बात की सच्ची जांच हो सके कि मनु की क्या स्थिति है, तो एक समस्या का हल हो सकता था[1]। महात्मा गांधी ने एक बार कहा : "मैं इस समय तुम्हारी माँ के रूप में हूं······मैं तुम्हारे जरिये इस बात का साक्षी बनना चाहता हूं कि एक पुरुष भी माँ बन कर बेटी की हर तरह की गुत्थी को सुलझा सकता है[2]।"

२—उनकी यह धारणा थी कि यदि मनु बहन का दावा सत्य नही है, तो वह माँ से छिपा नहीं रह सकता। यदि कोई कमी होगी तो वह प्रकट होकर ही रहेगी। यदि उसमें कोई कमी नही होगी तो सत्य, साहस और बुद्धि में उसका क्रमशः विकास होता चला जायगा[3]।

३—साथ ही प्रासंगिक रूप से महात्मा गांधी यह भी जानना चाहते थे कि वे पूर्ण ब्रह्मचर्य की दिशा में कहाँ तक बढ़े हुए हैं[4]। इस प्रयोग के पीछे केवल निदान की दृष्टि ही नही थी, पर एक दृष्टि और भी थी। योगशास्त्र में कहा है : 'पूर्ण अहिंसक के सम्मुख वैर नही टिक सकता'। इसी तरह, महात्मा गांधी की धारणा थी कि पूर्ण ब्रह्मचारी के सम्मुख विषय-विकार दूर हो जाना चाहिए[5]।

होरेस एलेक्जेण्डर के साथ हुआ निम्न वार्तालाप उपर्युक्त बातों को स्पष्ट करता है।

महात्माजी से उन्होने कहा : "ब्रह्मचर्य की जांच के लिए ऐसे अन्तिम छोर के कदम की आवश्यकता नहीं थी। यह जाँच तो अन्य तरीके भी की जा सकती थी। सीम्योन स्टाइलिट स्तंभ पर चढ़कर अपनी आत्म-संयम की शक्ति का प्रदर्शन किया करता था। मैंने कभी इसकी प्रशंसा नही की। 'सब बातों में नम्रता'—यह एक अच्छा सूत्र है।"

गांधीजी ने उत्तर में कहा—"यह ठीक है। सीम्योन स्टाइलिट वास्तव में कोई अनुकरणीय आदर्श नही, क्योंकि वह अहंभावी और क्रोधी था। मैंने जो यह कदम उठाया है वह यह दिखाने के लिए नही कि मैं क्या कर सकता हूं, वरन् यह तो पौत्री की शिक्षा की दिशा में जरूरी कदम है। यह तो मनु ने जो मुझे विश्वास दिया है, उसकी परीक्षा है और आनुसंगिक रूप में यह मेरी भी एक जाँच है। यदि मेरी सच्चाई उस पर असर डाल सकी और उसमें उन खूबियों का विकास कर सकी, जिसको मैं चाहता हूं तो इससे यह प्रमाणित होगा कि मेरी सत्य की खोज सफल हुई है। तब मेरी सच्चाई मुसलमान, मुस्लिम लीग के मेरे विरोधी और जिन्ना पर भी असर डाल सकेगी जो कि मेरी सत्यता पर सन्देह करते रहे, तथा उसके द्वारा अपना तथा भारतवर्ष का नुकसान करते रहे[6]।"

४—वे मनु बहन का एक आदर्श नारी के रूप में निर्माण करना चाहते थे। जब महात्मा गांधी के सामने प्रश्न आया कि ऐसे समय में जब कि आप ऐसे महत्त्व के काम में लगे हुए हैं, ऐसे कार्य में ध्यान कैसे दे सकते हैं? तब उन्होंने मनु बहन से कहा था : "लोग इसे मोह समझते हैं। उनके अज्ञान पर मुझे हंसी आती है। उनमें समझ का अभाव है। मैं तुम पर समय और शक्ति लगा रहा हूं, वह सार्थक है। यदि भारत की करोड़ों लडकियों में से मैं एक को भी आदर्श माँ बनकर, आदर्श स्त्री बना सकूं, तो मैं स्त्री-जाति की अपूर्व सेवा कर सकूंगा। पूर्ण ब्रह्मचारी होकर ही कोई स्त्रियो की सेवा कर सकता है[7]।"

५—मनु बहन को एक बार उन्होने कहा था : "यह न समझना कि मैंने तुम्हें यहाँ केवल अपनी सेवा के लिए ही बुलाया है। मेरी सेवा तो तुम करोगी ही। परन्तु जहाँ छोटी-सी लडकी या वृद्ध स्त्री भी सुरक्षित नहीं, वहाँ तुम्हें १६-१७ वर्ष की जवान लड़की को, मैंने अपने पास रखा है। यदि कोई भी गुण्डा तुम्हें तंग करे और तुम उसका सामना बहादुरी के साथ कर सको अथवा सामना करते-करते मर जावो तो मैं खुशी से नाचूंगा। तुम्हें बुलाने में यह भी एक प्रयोग है[8]।"

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. I, pp. 575-76

२—अकेला चलो रे पृ० २३

३—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. I, P. 576

४—वही पृ० ५७६

५—वही पृ० ५७७

६—वही पृ० ५८०

७—वही पृ० ५७८

८—अकेला चलो रे पृ० ११

६—महात्मा गांधी यह भी देखना चाहते थे कि उनमें नपुंसकत्व की सिद्धि कहाँ तक है। उन्होंने एक बार लिखा था—"जिसकी विषयासक्ति जलकर खाक हो गई है, उसके मन में स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है और मिट जाना चाहिए। उसकी सौंदर्य की कल्पना भी दूसरा रूप ले लेती है। वह बाहर के आकार को देखता ही नहीं।...इसलिए सुन्दर स्त्री को देखकर वह विह्वल नहीं बन जायेगा। उसकी जननेंद्रिय भी दूसरा रूप ले लेगी अर्थात् वह सदा के लिए विकार-रहित बन जायगी। ऐसा पुरुष वीर्यहीन होकर नपुंसक नहीं बनेगा, मगर उसके वीर्य का परिवर्तन होने के कारण वह नपुंसक-सा लगेगा। सुना है कि नपुंसक का रस नहीं जलता। जो रस मात्र के भस्म हो जाने से ऊर्ध्वरेता हो गया है, उस का नपुंसकपना बिल्कुल अलग ही किस्म का होता है। वह सबके लिए इष्ट है। ऐसा ब्रह्मचारी विरला ही देखने में आता है'[1]।" महात्मा गांधी ऐसे नपुंसकत्व के कामी थे और उनमें ऐसा नपुंसकत्व है या नहीं, इसकी जाँच वे इस कठोर आँच में करना चाहते थे।

७—महात्मा गांधी जानना चाहते थे कि उनकी अहिंसा कहीं ब्रह्मचर्य की कमी के कारण तो निस्तेज नहीं है।

एक कांग्रेस-नेता ने बातचीत के सिलसिले में १९३८ में गांधीजी से कहा—"यह क्या बात है कि कांग्रेस अब नैतिकता की दृष्टि से वैसी नहीं रही, जैसी कि वह १९२० से १९२५ तक थी? तबसे तो इसकी बहुत नैतिक अवनति हो गई है।......क्या आप इस हालत को सुधारने के लिये कुछ नहीं कर सकते?" इसका उत्तर गांधीजी ने इस प्रकार दिया :

"अहिंसा की योजना में जबर्दस्ती का कोई काम नहीं है। उसमें तो इसी बात पर निर्भर रहना पड़ता है कि लोगों की बुद्धि और हृदय तक—उसमें भी बुद्धि की अपेक्षा हृदय पर ही ज्यादा—पहुँचने की क्षमता प्राप्त की जाय।

"इसका अभिप्राय हुआ कि सत्याग्रह के सेनापति के शब्द में ताकत होनी चाहिये—वह ताकत नहीं जो कि असीमित अस्त्र-शस्त्रों से प्राप्त होती है; बल्कि वह जो जीवन की शुद्धता, दृढ़ जागरूकता और संतत आचरण से प्राप्त होती है। यह ब्रह्मचर्य का पालन किये बगैर असम्भव है। इसका इतना सम्पूर्ण होना आवश्यक है, जितना कि मनुष्य के लिए संभव है।

"जिसे अहिंसात्मक कार्य के लिए मनुष्य-जाति के विशाल समूहों को संगठित करना है, उसे तो इन्द्रियों के पूर्ण निग्रह को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना ही चाहिए।

"इस बात का मैंने कभी दावा नहीं किया कि मैं अपनी परिभाषा के अनुसार पूरा ब्रह्मचारी बन गया हूँ। अब भी मैं अपने विचारों पर उतना नियंत्रण नहीं रख सकता हूं जितने नियंत्रण की, अपनी अहिंसा की शोधों के लिये मुझे आवश्यकता है; लेकिन अगर मेरी अहिंसा ऐसी हो जिसका दूसरों पर असर पड़े और वह उनमें फैले, तो मुझे अपने विचारों पर और अधिक नियंत्रण करना ही चाहिए। इस लेख के प्रारंभिक वाक्यों में नेतृत्व की जिस प्रत्यक्ष असफलता का उल्लेख किया गया है, उसका कारण शायद कहीं-न-कहीं किसी कमी का रह जाना ही है" (हरिजन सेवक, २३-७-'३८)[2]।

इसी तरह उन्होंने फिर कहा था—"जब तक यह ब्रह्मचर्य प्राप्त नहीं हो जाता, मनुष्य उतनी अहिंसा तक जितनी कि उसके लिए शक्य है, पहुँच नहीं सकता" (हरिजन सेवक, २८-१०-'३९)[3]।

गांधीजी की यह धारणा नोआखाली के दंगे के समय भी रही। उनकी ब्रह्मचर्य की साधना में कोई कमी तो नहीं—यह वे जानना चाहते थे। यदि वे सच्चे ब्रह्मचारी हैं तो उसका असर वातावरण पर पड़े बिना नहीं रह सकता—यह उनका विश्वास था।

ठक्कर बापा से उनकी जो बातचीत हुई, वह इस सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश डालती है :

ठक्कर बापा ने पूछा—"यह प्रयोग यहाँ क्यों?"

गान्धीजी ने उत्तर दिया—"बापा! भूल कर रहे हो। यह प्रयोग नहीं है पर मेरे यज्ञ का सायुज्य अंग है। प्रयोग बाद दिया जा सकता है, पर कोई अपने कर्तव्य को नहीं छोड़ सकता। अब यदि मैं किसी बात को अपने यज्ञ—पवित्र कर्तव्य का अंश मानता हूं तो सार्वजनिक मत मेरे खिलाफ होने पर भी मैं उसका त्याग नहीं कर सकता। मैं तो आत्मशुद्धि प्राप्त करने में लगा हुआ हूं। पांच महाव्रत मेरे आध्यात्मिक प्रयत्नों

१—आरोग्य की कुंजी पृ० ३१-२

२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० १००, १०२, १०३, १०४-५

३—ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग) पृ० ७

के पांच आधार हैं। ब्रह्मचर्य इन्हीं में से एक है। ये पांचों अविभाज्य हैं-तथा परस्पर सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित हैं। यदि उनमें से एक का भङ्ग किया जाता है तो पांचों का भङ्ग हो जाता है। ऐसा होने से यदि मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए ब्रह्मचर्य की साधना में फिसलूं तो मैं ब्रह्मचर्य को ही जोखिम में नहीं डालता पर सत्य, अहिंसा और सब महाव्रतों को भी जोखिम में डालता हूं। मैं दूसरे व्रतों के सम्बन्ध में व्यवहार और सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं लाने देता। यदि मैं केवल ब्रह्मचर्य के विषय में ही ऐसा करूँ तो क्या इससे मैं ब्रह्मचर्य की धार को मन्द नहीं करूँगा ? सत्य की मेरी साधना को दूषित नहीं करूँगा ? जब-से मैं नोआखाली मे आया हूं, मैं अपने से यह प्रश्न पूछता रहा हूं, कि वह कौन-सी बात है, जो मेरी अहिंसा को कार्यकारी होने से रोक रही है। यह मंत्र काम क्यों नहीं कर रहा है ? कहीं मैंने ब्रह्मचर्य के बारे में तो गलती नहीं की कि जिसका यह परिणाम हो।"

बापा बोले—"आपकी अहिंसा असफल नहीं है। विचार करें—यदि आप यहाँ नहीं आते तो नोआखाली के भाग्य में क्या बदा होता ? दुनिया ब्रह्मचर्य के बारे में उस रूप में नहीं सोचती, जिस रूप में आप सोच रहे हैं।"

गान्धीजी बोले—"यदि मैं आपकी बात को मान लूँ तो उसका अर्थ यह हुआ कि दुनिया को नाराज करने के भय से मैं उस बात को छोड़ दूं, जिसे मैं ठीक समझता हूं। अगर मैं अपने जीवन में इस तरह से आगे बढ़ता तो न मालूम मैं कहाँ होता ? मैं अपने को किसी गड्ढे के तले में पाता। बापा ! आप इसका कोई अनुमान नहीं लगा सकते, पर मैं इसका दृश्य अपने लिए आंक सकता हूं। मैंने अपने वर्तमान साहस-पूर्ण कार्य को यज्ञ—तप कहा है। इसका अर्थ है—परम आत्म-शुद्धि। ऐसी आत्म-शुद्धि कैसे हो सकती है, यदि मैं अपने मन में एक बात रक्खूं और उसे खुल्लम-खुल्ला व्यवहार में लाने की हिम्मत नहीं कर सकूं ? क्या उस बात के करने के लिए भी, जिसे व्यक्ति अपने हृदय से कर्तव्य समझता है, किसी की सलाह या स्वीकृति की आवश्यकता रहती है ? ऐसी परिस्थिति में मित्रों के लिए दो ही मार्ग खुले हैं या तो वे मेरे उद्देश्य की पवित्रता में विश्वास रखें, फिर भले ही वे मेरे विचारों को समझने मे असमर्थ हों या उनसे असहमत हों, अथवा वे मुझसे ही हट जायं। बीच का कोई रास्ता नहीं। उस हालत में जब कि मैं एक यज्ञ में उतरा हूं जिसका अर्थ है सत्य का पूर्ण प्रयोग, मैं उस बात का साहस नहीं कर सकता कि मेरे तर्क-सिद्ध विश्वासों को काम में परिणत न करूँ। न यही उचित है कि मैं आन्तरिक विश्वासों को छिपाऊँ, या अपने तक ही रखूँ। यह तो मेरी मित्रों के प्रति अवफादारी होगी।......मैं इस जांच से कैसे दूर भाग सकता हूं ? मैंने अपने मन को स्थिर कर लिया है। ईश्वर के एकाकी मार्ग पर, जिस पर कि मैं चल रहा हूं, मुझे किसी पार्थिव साथी की आवश्यकता नहीं।...हजारों हिन्दू-मुसलिम स्त्रियाँ मेरे पास आती है। वे मेरे लिए अपनी मां, बहन और पुत्रियों की तरह हैं। यदि ऐसा अवसर आ जाय, जिससे आवश्यक हो जाय कि मैं उनके साथ अपनी शय्या का उपभोग करूँ तो मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए ? यदि मैं वैसा ब्रह्मचारी हूं, जैसा कि मेरा दावा है। यदि मैं इस परीक्षा से अलग होऊँ, तो मैं अपने को डरपोक और धोखेबाज साबित करूँगा।"

बापा—"और यदि आपका कोई अनुकरण करने लगे तो ?"

गांधीजी : "यदि मेरे उदाहरण का कोई अंधानुकरण करे अथवा उसका अनुचित फायदा उठावे तो समाज उसे सहन नहीं करेगा और न उसे सहन करना ही चाहिए। पर यदि कोई सच्चा और इमानदारीपूर्ण प्रयत्न करता हो, तो समाज को उसका स्वागत करना चाहिए और यह उसकी भलाई के लिए ही होगा। जैसे ही मेरी यह खोज पूर्ण होगी, मैं खुद ही उसका परिणाम सारी दुनिया के सामने रखूँगा।"

बापा—"कम-से-कम मैं तो आपमें कोई बुरी बात होने की कल्पना नहीं करता। आखिर मनु तो आपकी पौत्री ही है। मैं यह स्वीकार करता हूं कि आरंभ में मेरे मन में कुछ विचार थे। मैं नम्रता के साथ अपनी शंका को आपके सामने जोर से रखने के लिए आया था। मैं समझ नहीं पाया था। आपके साथ आज जो बातचीत हुई, उसके बाद ही मैं गहराई से समझ सका हूं कि आप जिस बात के करने के प्रयत्न में हैं, उसका अर्थ क्या है ?"

गांधीजी बोले : "क्या इससे कोई वास्तविक अंतर पड़ता है ? कोई अन्तर नहीं पड़ता और न पड़ना चाहिए। आप मनु और अन्य बालाओं में भेद करना चाहते हैं। मेरे मन में ऐसा भेद नहीं है। मेरे लिए तो सब पुत्रियाँ हैं[१]।"

ठक्कर बापा के साथ महात्मा गांधी की जो बातचीत हुई, उसके बाद मनु बहन गांधीजी के पास आकर बोली : "यद्यपि आरम्भ में ठक्कर बापा को कार्य के औचित्य के बारे में शंका थी। परन्तु अपने छह दिनो के निकट सम्पर्क और निरीक्षण से उनकी शंकाए पूर्णरूप से दूर हो गई

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase pp. 585-87

हैं। और उनको इस बात की तसल्ली हो गई है कि आप जो कर रहे हैं, उसमें कोई बुराई या अनौचित्य नहीं है और न इससे सम्बन्धित व्यक्तियों में। उन्होंने अपने मित्रों को भी यह बात लिखी है। उन्होंने यह भी कहा है कि उनके विचारों में परिवर्तन सब से अधिक यह देख कर हुआ है कि हम दोनों की नींद निर्दोष और गहरी होती है। तथा मैं एकाग्रता और अथक श्रद्धा के साथ कर्त्तव्य का पालन करती रहती हूं। ऐसी हालत में यदि बापू को स्वीकार हो तो मैं इस बात में कोई हानि नहीं देखती कि ठक्कर बापा का यह सुझाव, कि इस प्रयोग को फिलहाल स्थगित कर दिया जाय, स्वीकार कर लिया जाय।" मनु बहन ने यह भी स्पष्ट किया कि जहाँ तक विचारों का प्रश्न है, वह महात्मा गांधी के विचारों से एकमत है। और वह एक इंच भी पीछे नहीं हट रही है। गान्धीजी ने इस बात को स्वीकार किया।

प्रयोग को स्थगित करने का निश्चय हैमचर में हुआ। जबतक महात्मा गांधी बिहार में रहे, तब यह प्रयोग स्थगित रहा। बाद में जब दिल्ली पहुंचे, तब वह पुनः चालू कर दिया गया और महात्माजी की मृत्यु तक जारी रहा[१]।

महात्मा गांधी ता० २४-२-'४७ को हैमचर पहुँचे। उनसे ठक्कर बापा की बातचीत केवल आध घंटा ता० २६-२-'४७ को हुई[२]। उसी का परिणाम ऐसा निकला। मनु ने अपना निवेदन संभवतः २-३-'४७ को महात्मा गांधी के सामने रखा था[३]। मई के अन्तिम सप्ताह में गांधीजी ने पटना छोड़ा और दिल्ली के लिए प्रस्थान किया[४]। इस तरह लगभग तीन महीना प्रयोग स्थगित रहा।

महात्मा गांधी ने इस प्रयोग को अपने जीवन का सब से बड़ा और अन्तिम प्रयोग कहा था[५]। उन्होंने कहा : "मैंने खूब विचार किया है। चाहे मुझे सारी दुनिया छोड़ दे पर मेरे लिए जो सत्य है, उसे मैं छोड़ने की हिम्मत नहीं कर सकता। यह एक धोखा और मोह-पाश हो सकता है। पर मुझे खुद को वह वैसा मालूम होना चाहिए। इसके पहले भी मैं खतरे मोल ले चुका हूँ। अगर यह प्रयोग खतरा ही होना है तो होकर रहे[६]।" इसके पहले उन्होंने मीरा बहिन को लिखा था : "सत्य का मार्ग खण्डों से छाया हुआ रहता है, जिस पर हिम्मत के साथ चलना पड़ता है[७]।" इसी तरह उन्होंने लिखा : "तुम रास्ते में बिछे कांटे, पत्थर और खड्डों से घबड़ाओगे तो ब्रह्मचर्य के रास्ते पर नहीं चल सकते। यह संभव है कि हम ठोकर खा जायं, हमारे पैरों से खून बहने लगे, यहाँ तक कि हमारे प्राण भी चले जायं। पर हम उस से मुड़ नहीं सकते[८]।"

महात्मा गांधी ने यह प्रयोग ता० १९-१२-'४६ को आरंभ किया था[९]। थोड़े ही दिनों में आस-पास कानाफूसियाँ होने लगी। बाहर से भी आपत्तियां आईं।

महात्मा गांधी १-२-'४७ की प्रार्थना सभा में अपने प्रयोग का जिक्र करते हुए बोले : "मैं इतने सन्देह और अविश्वास के बीच में हूं कि मैं नहीं चाहता कि मेरे अत्यन्त निर्दोष कार्य इस तरह उलटे समझे जायें और उनका उलटा प्रचार किया जाय। मेरी पोती मेरे साथ है। वह मेरे साथ मेरे बिछौने पर सोती है।

"पैगम्बर चीर-फाड़ के द्वारा नपुंसकत्व प्राप्त करने की निन्दा करते थे। ईश्वर की प्रार्थना के बल पर जो नपुंसक होते थे, उनका वे स्वागत करते थे। मेरी भावना भी ऐसे ही नपुंसकत्व की प्राप्ति की है। इस तरह एक ईश्वर-कृत नपुंसक की भावना से मैं कर्त्तव्य में लगा हूं।

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. 1, pp. 587, 591, 598

२—एकलो जाने रे पृ० १७०

३—वही पृ० १७८ (पहली पंक्ति)

४—बिहारनी कोमी आगमां पृ० ३९८

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. I, p. 591

६—वही पृ० ५८१

७—वही

८—वही पृ० ५८४

९—My days with Gandhi p. 115

यह तो मेरे यज्ञ का एक अविभाज्य अङ्ग है। मुझे सब कोई आशीर्वाद दें। मैं जानता हूं कि मेरे मित्रों में भी मेरे कार्य की आलोचना है, परन्तु अत्यन्त अभिन्न मित्रों के लिए भी कर्त्तव्य को नहीं छोड़ा जा सकता[1]।"

ता० २-२-'४७ के प्रार्थना-प्रवचन में उन्होंने कहा—"मैंने जानबूझ कर खानगी जीवन की बातें कही हैं, क्योंकि मैं यह कभी नहीं मानता कि मनुष्य का खानगी जीवन, उसके सार्वजनिक कार्यों पर कोई असर नहीं डालता। मैं यह नहीं मानता कि अपने जीवन में अनैतिक रहते हुए भी मैं जनता का सच्चा सेवक रह सकूंगा। अपने खानगी चरित्र का असर सार्वजनिक कार्यों पर पड़े बिना नहीं रह सकता। खानगी और सार्वजनिक जीवन में द्वैध के कारण बहुत बुराई हुई है। मेरे जीवन में अहिंसा की जांच का यह सर्वोपरि अवसर है। ऐसे अवसर पर मैं ईश्वर और मनुष्य के सम्मुख अपने आन्तरिक और सार्वजनिक दोनों कार्यों के योगफल के आधार पर जांचा जाना चाहता हूं। मैंने वर्षों पूर्व कहा था कि अहिंसा का जीवन, फिर चाहे वह व्यक्ति का हो, चाहे समूह का हो, चाहे एक राष्ट्र का, आत्म-परीक्षा और आत्मशुद्धि का होता है[2]।"

ता० ३-२-'४७ के प्रवचन में महात्माजी ने कहा: "मैंने अपने खानगी जीवन के बारे में जो बातें कही हैं, वह अन्धानुकरण के लिए नहीं है। मैंने यह दावा नहीं किया कि मुझ में कोई असाधारण शक्ति है। मैं जो कर रहा हूं वह सबके करने योग्य है, यदि वे उन शर्तों का पालन करें जिन का मैं करता हूं। ऐसा नहीं करते हुए जो मेरे अनुकरण का बहाना करेंगे, वे पछाड़ खाये बिना नहीं रह सकते। मैं जो कर रहा हूं, वह अवश्य खतरे से भरा हुआ है। पर यदि शर्तों का कठोरता से के साथ पालन किया जाय तो यह खतरा नहीं रहता[3]।"

उपर्युक्त उद्गारों से स्पष्ट है कि महात्मा गांधी इस प्रयोग को, अपने यज्ञ का अविभाज्य अंश मानते रहे। वे इसे इतना पवित्र मानते रहे कि उन्होंने जनता को इसकी सफलता के लिए आशीर्वाद देने को आमंत्रित किया।

इस प्रयोग का विवरण दो पुस्तकों में प्राप्त है: (१) श्री प्यारेलालजी लिखित—'महात्मा गांधी—दी लास्ट फेज' और (२) श्री निर्मल बोस लिखित—'माई डेज विथ गांधी'। महात्मा गांधी ने जिस प्रयोग की खुल्ले में चर्चा की है, उसी प्रयोग के बारे में उपर्युक्त दोनों विवरणों में अत्यन्त रहस्यपूर्ण ढंग से और गोपनीयता के साथ चर्चा की गई है। सम्मान और नम्रता के साथ कहना होगा कि दोनो विवरण पूरे तथ्यों को उपस्थित नहीं करते और ऐतिहासिक दृष्टि से दोषपूर्ण हैं।

श्री प्यारेलालजी ने महात्मा गांधी की पौत्री श्री मनु तक परिमित रख कर ही इस प्रयोग की चर्चा की है। श्री बोस के अनुसार यह प्रयोग अन्य बहनों को साथ लेकर भी किया गया था और प्रथम बार ही नहीं था[4]। और उनके अनुसार महात्मा गांधी ने ऐसा स्वीकार भी किया था[5]। महात्मा गांधी का यह प्रयोग सीमित था या व्यापक, इसका स्वयं उनकी लेखनी से कोई विवरण न मिलने पर भी यह तो निश्चत ही है कि इस प्रयोग को वे ऐसा समझते थे कि जिसमें पौत्री मनु और अन्य बहन का अन्तर नहीं किया जा सकता[6]। ऐसी परिस्थिति में इस प्रयोग को व्यापक प्रयोग समझ कर ही उसकी चर्चा की जाती तो सत्य के प्रति न्याय होता।

१—अमिशापाड़ा का प्रार्थना-प्रवचन। देखिए—My days with Gandhi p. 155; Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol 1, p. 580

२—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. 1, p. 581

३—दशघरिया का प्रवचन। देखिए—My days with Gandhi p. 155; Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol. I, p. 581

४—My days with Gandhi pp. 134, 154, 174, 178

५—वही पृ० १३४, १७८

६—(क) वही पृ० १७७:

The distinction between Manu and others is meaningless for our discussion. That she is my grand-daughter may exempt me from criticism . But I do not want that advantage.

(ख) देखिए पृ० ८३

जहाँ तक पता चला, इस विषय में पहली आपत्ति नोग्राखाली में गांधीजी के टाइपिस्ट श्री परशुराम की तरफ से आई। उन्होंने तीन बार महात्मा गांधी से बातचीत की और चौथी बार में फुलस्केप साइज के १० पेज जितने लम्बे पत्र में अपनी भावना महात्मा गांधी के सामने रखी[१]। श्री प्यारेलालजी इन सब की नोंध तक नहीं लेते। श्री बोस ने भी न बातचीत का सार दिया है और न उस पत्र की बातों का उल्लेख किया है। एक बातचीत में श्री परशुराम के विचार किस रूप में फूट पड़े, इसका वर्णन उन्होंने इस प्रकार दिया है: "गांधीजी की दृष्टि चाहे जो भी हो, पर एक साधारण मनुष्य की तरह मुझे कहना चाहिए कि गांधीजी को ऐसा मौका नहीं देना चाहिए कि जिस से उनके प्रति कोई गलत धारणा बन पाय। यदि गांधीजी के व्यक्तिगत आचरण पर आक्षेप आते हैं, तो जिस उद्देश्य के लिए वे खड़े हुए हैं, वह क्षतिग्रस्त होता है। यह एक ऐसी बात है जो मुझसे सहन नहीं होती। जब मैं स्कूल में था तब मैं अपने साथियों के साथ इसी बात पर मुक्कामुक्की करने लगा था कि उन्होंने महात्मा गांधी के आचरण के प्रति दोषारोपण किया था। और भी अधिक, क्या उन्होंने अपने सेवाग्राम के साथियों से यह प्रतिज्ञा नहीं की थी कि वे स्त्रियों को अपने संसर्ग से दूर रखेंगे[२]?"

महात्मा गांधी ने अपनी स्थिति को परिष्कृत करते हुए कहा: "यह सत्य है कि मैं स्त्री कार्यकर्त्रियों को अपनी शय्या का व्यवहार करने देता हूँ। समय-समय पर यह आध्यात्मिक प्रयोग किया गया है। मुझ में विकार नहीं, ऐसी मेरी धारणा है। फिर भी यह असंभव नहीं कि कुछ लवलेश बच गया हो और इससे उस लड़की के लिए संकट उपस्थित हो सकता है जो प्रयोग में शरीक हो। मैंने यह पूछा है कि कहीं बिना इच्छा भी, मैं उनके मन में थोड़ा भी विकार उत्पन्न करने का निमित्त तो नहीं हुआ? मेरे सुप्रसिद्ध साथी नरहरि (परीख) और किशोरलाल (मशरूवाला) ने इस प्रयोग पर आपत्ति उठाई थी और उनकी एक शिकायत यह थी कि मुझ जैसे उत्तरदायित्ववाले नेता का उदाहरण दूसरों पर क्या असर डालेगा[३]?"

इस वार्तालाप से पता चलता है कि यह प्रयोग पहले भी हुआ और वह अन्य स्त्रियों के साथ रहा।

श्री परशुराम ने जो सुझाव रखे वे महात्मा गांधी को स्वीकार नहीं हुए अतः साथ छोड़ कर चले गये। यह ता० २ जनवरी १९४७ की घटना है।

इसके बाद अपने एक मित्र को महात्मा गांधी ने पत्र लिखा जिसमें श्री परशुराम के चले जाने का मुख्य कारण बताया गया था, उनका गांधीजी के सिद्धान्तों में विश्वास न होना और मनु का उनके साथ एक शय्या पर सोना। इस पर टिप्पणी करते हुए श्री बोस लिखते हैं कि गांधीजी का ऐसा लिखना परशुराम के प्रति अन्याय था। उनका कहना है—गांधीजी के सिद्धान्तों में परशुराम की पूर्ण श्रद्धा थी। श्री परशुराम की मुख्य शंका मनु बहन के साथ के प्रयोग को लेकर नहीं थी, बल्कि अन्य स्त्री-पुरुषों की स्थिति के विषय को लेकर थी। उनके यह समझ में नहीं आ रहा था कि साधारण स्तर पर रहे हुए स्त्री-पुरुषों का स्पर्श किस तरह एक आध्यात्मिक आवश्यकता हो सकती है[४]।

श्री बोस के विवरण से पता चलता है कि इस बार भी श्री मशरूवाला और श्री नरहरि परीख आपत्ति करनेवालों में थे। जनवरी '४७ के अन्तिम सप्ताह में उनका आपत्तिकारक पत्र पहुंचा[५]। श्री मशरूवाला के पत्र का उत्तर महात्मा गांधी ने तार से दिया, जिस में लिखा गया था कि वे ता० १-२-'४७ के सार्वजनिक वक्तव्य को देखें। पत्र दिया जा रहा है[६]। इसके बाद किशोरलाल मशरूवाला और नरहरि परीख का तार आया, जिसमें उन्होंने ता० १-२-'४७ के पत्र की पहुंच देते हुए लिखा था कि वे हरिजन पत्रों के कार्यभार से मुक्त हो रहे हैं। पत्र देखें[७]। फरवरी के अन्तिम सप्ताह में भी मशरूवाला का पत्र था। श्री बोस के अनुसार उस पत्र का सार यह था कि स्त्रियों के साथ के व्यवहार

१—My days with Gandhi pp. 127, 131, 134

२—वही पृ० १३३-३४

३—वही पृ० १३४

४—My days with Gandhi p. 137 : Only, his point of view was the point of view of the common man; he did not realise how contact with men and women on a common level might be a spiritual need for Gandhiji.

५—वही पृ० १५४

६—वही पृ० १५५

७—वही पृ० १५८

में गांधीजी मोहभाव से ग्रस्त थे[१] ।

इनके प्रश्न थे : (१) बीमारी के कारण परिचर्या की आवश्यकता न होते हुए भी अथवा परवशता के अन्य अवसरों को छोड़कर भी क्या कोई बिना जरूरत, नग्न अवस्था में मनुष्य अथवा स्त्री के सामने आ सकता है, जब कि वह ऐसे समाज का व्यक्ति नहीं जिस में नग्नता एक प्रथा हो ? (२) जिनमें पति-पत्नी का सम्बन्ध न हो अथवा जो मुक्त रूप में ऐसा व्यवहार न रखते हों, ऐसे स्त्री-पुरुष क्या एक शय्या का साथ उपयोग कर सकते हैं[२] ?

श्री प्यारेलालजी इस सारे पत्र-व्यवहार का जिक्र नहीं करते और न विरोध मे आए हुए पत्रों का सार ही देते हैं। हरिजन पत्र के सम्पादन कार्य से दो साथियों के हटने का वे उल्लेख करते हैं, पर वे साथी कौन थे, इस बात से भी वे पाठको को अन्धेरे में रखते हैं।

श्री प्यारेलालजी इस बात का उल्लेख अवश्य करते हैं कि महात्मा गांधी ने इस विषय मे अनेक पत्र लिखे और राय जाननी चाही पर नाम उन्ही के प्रकाशित किए हैं, जिन्हें कोई आपत्ति न थी अथवा जिनको बाद में कोई आपत्ति नही रही। जिनकी अन्त तक आपत्ति रही उनके नामों को तो उन्होंने सर्वत्र ही बाद दिया है।

फरवरी के अन्तिम सप्ताह में जब श्री किशोरलाल मशरूवाला का एक पत्र आया, तब गांधीजी ने श्री बोस को अपने पास बुलाया और उनमें तथा उनके निकट के साथियो में किस तरह मतभेद हो गया है, यह बतलाया। गांधीजी ने साथियों द्वारा उठाई गई आपत्तियों के विषय में श्री बोस के विचार जानने चाहे। मनु बहन ने श्री मशरूवाला का पत्र अनुवाद कर बताया और फिर प्रयोग का पूरा विवरण बताया[३]। श्री बोस को जो जानकारी हुई, उसके अनुसार महात्मा गांधी अपनी शय्या पर बहिनो को सुलाते। ओढ़ने का कपड़ा एक ही होता। और फिर गांधीजी इस बात को जानना चाहते कि उनमें या उनके साथी में क्या अल्प-मात्र भी विकार उत्पन्न हुआ[४] ?

इस तरह अपनी परीक्षा के लिए स्त्रियों का सहारा लेना श्री बोस को नागवार मालूम दिया। उनके मत से गांधीजी जो कईयों द्वारा, निजी सम्पत्ति माने जाने लगे थे, उसका कारण यही था। उनकी दृष्टि से कईयों का व्यवहार स्वस्थ मानसिक सम्बन्ध का परिचय नहीं देता था। इस प्रयोग का मूल्य खुद गांधीजी के जीवन में कितना ही क्यो न हो, उसका असर उन दूसरो के व्यक्तित्व के लिए घातक था, जो कि नैतिक स्तर में उतने हस्तिवाले नहीं थे और जिनके लिए इस प्रयोग में शरीक होना कोई आध्यात्मिक आवश्यकता नही थी। मनु की बात दूसरी थी जो रिश्ते में पोती थी[५]।

कई आलोचको ने कहा—"हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि आप इस साधना से आध्यात्मिक प्रगति कर सकते हैं, पर यह तो सम्मुख पक्ष के बलिदान पर होगा, जिसमें आप की तरह का संयम नही है।"

महात्मा गांधी ने कहा—"नही ऐसा नहीं हो सकता। यह तो परस्पर-टकरानेवाली बात है। दूसरे के नुकसान पर अपनी आध्यात्मिक उन्नति नही हो सकती। साथ ही उचित खतरा उठाना ही होगा, अन्यथा मनुष्य-जाति प्रगति नहीं कर सकती।" उन्होने एक दृष्टान्त दिया—"जब एक कुम्हार मिट्टी का बर्तन बनाने लगता है, तब वह यह नहीं जानता कि मिट्टी में देने पर उनमें तेरें पड़ जायंगी अथवा अच्छी तरह पक कर बाहर निकलेंगे। यह अनिवार्य है कि उनमें से कई टूट जायं, किन्हीं में तेरें चल उठें और थोड़े ही पक कर सख्त हों, अच्छे बर्तन के रूप में बाहर आयं। मैं तो एक कुम्हार की तरह हूं। मैं आशा और श्रद्धापूर्वक कार्य करता हूं। अमुक बर्तन टूटेगा या उसमें दरार होगी—यह एक कुदरत और भाग्य की ही बात होगी। कुम्हार को चिन्ता नही करनी चाहिए। अगर कुम्हार ने इतनी चौकसी ले ली हो कि मिट्टी अच्छी किस्म की है और उसमें मिलावट या कूडा-कर्कट नहीं है और उसे ठीक आकार दिया गया है, तो इसके बाद की उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नही।·········मैने जानबूझ कर अपने जीवन में कोई गलत कार्य नहीं किया है। यदि कभी अनजाने में कोई मुझसे गलत

१—My days with Gandhi p. 160 : The main charge seemed to have been that Gandhiji was obviously suffering from a sense of self-delusion in regard to his relation with the opposite sex.

२—वही पृ० १८६

३—वही पृ० १५९-६०

४—वही पृ० १७४

५—वही पृ० १७४-५

कार्य हो गया हो तो मैंने तुरन्त उसे जनता के सामने स्वीकार किया और पता चलते ही उसका उचित प्रायश्चित किया। इसी तरह इस बात में भी किसी भी समय मुझे मिट्टी में अगर कोई अशुद्धि या मिलावट दिखाई देगी अथवा मुझमें मालूम देगी तो मुझे उसका त्याग करने में एक क्षण भी नहीं लगेगा और सारी दुनिया के सामने अपनी अयोग्यता स्वीकार कर लूंगा[१]।"

श्री बोस के अनुसार स्वामी आनन्द और श्री केदारनाथजी भी विरोधी मत रखते थे। श्री प्यारेलालजी यह तो लिखते हैं कि महात्मा गांधी बिहार में आये तब दो मित्रों ने उनसे लगातार पांच दिन तक[२] बातचीत की। पर ये दोनों, स्वामी आनन्द और श्री केदारनाथजी थे, इसको गोपनीय रखते हैं। महात्मा गांधी और इनमें जो वार्तालाप हुआ, उसका सार इस प्रकार है :

प्रश्न—"इस नये प्रयोग को आरम्भ करते समय आपने अपने साथियों से क्यों नहीं कहा और उन्हें अपने साथ क्यों नहीं रखा ? यह गुप्ताचरण क्यों ?"

गान्धीजी : "इस बात को गुप्त रखने का इरादा नहीं था। सारी बात स्पष्ट थी। जैसी यह बात है उसमें मित्रों की पूर्व सलाह की तो कोई बात ही नहीं थी, पूर्व स्वीकृति अनावश्यक थी। फिर भी प्रारंभ में ही इस बात के अच्छी तरह प्रचार के लिए मुझे जोर देना चाहिए था। अगर मैंने ऐसा किया होता तो आज जो संकट और हलचल है, वह बहुत कुछ बचाई जा सकती। ऐसा न करना एक बडी त्रुटि हुई। जब ठक्कर बापा मेरे पास आये तब मैं सोच रहा था कि इसका समुचित प्रायश्चित क्या है। बाद की बात तो आप जानते ही हैं।"

प्रश्न : "यदि आप नैतिक संस्कारों की नींव को, जिस पर कि समाज टिका हुआ है और जो कि एक लम्बे और कष्टपूर्ण अनुशासन से निर्मित है, ढीला करेंगे तो उससे जो अपूर्तिकर क्षति होगी, वह स्पष्ट है। गढे हुए संस्कारों का इस तरह भग करने से ऐसा कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं दिखाई देता, जो उसके औचित्य को सिद्ध करे। आपका बचाव क्या है ? हम आपको नीचा दिखाने के लिए नहीं आये हैं और न आप पर विजय पाने के लिए ही आये हैं। हम तो केवल समझना चाहते हैं।"

गान्धीजी : "यदि कोई कट्टर संस्कारों के बाहर जाने को तैयार न हो तो कोई नैतिक उन्नति या सुधार की संभावना नहीं। सामाजिक रूढ़ियों के सिकंजो में अपने को जकड़ कर हम लोगों ने खोया ही है। ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित नौ बाड़ों की जो रूढ़िगत कल्पना है, वह मेरे विचारों से अपर्याप्त और दोषपूर्ण है। मैंने अपने लिए कभी इसे स्वीकार नहीं किया। मेरे मत से इन बाडों की आड़ में रहकर सच्चे ब्रह्मचर्य का प्रयत्न भी संभव नहीं। मैं बीस वर्ष तक दक्षिण अफ्रिका में पश्चिमी लोगों के साथ गहरे सम्पर्क में रह चुका हूं। हवलॉग इलिस और बर्ट्रण्ड रसल जैसे ख्यातनामा लेखकों की कृतियों को और उनके सिद्धान्तों को मैंने जाना है। वे सभी प्रसिद्ध विचारक खरे और अनुभवी हैं। अपने विचारों के कारण और उन्हें प्रकाशित करने के कारण उन्हें कष्ट उठाने पड़े हैं। विवाह और प्रचलित नैतिक आचार-विधि की सम्पूर्ण आवश्यकता को न मानते हुए भी (यहां मेरा उनसे मतभेद ही है) वे ऐसी संस्था और रीति-रिवाजों के बिना ही स्वतंत्ररूप से जीवन में पवित्रता लाना सम्भव है और उसे लाना आवश्यक है, ऐसा मानते हैं। पश्चिम में ऐसे स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आया हूं जो कि पवित्र जीवन बिताते रहे हैं, हालांकि वे प्रचलित प्रथाओं और सामाजिक विश्वासों को वे नहीं मानते और न उनका पालन करते हैं। मेरी खोज कुछ-कुछ उसी दिशा में है। यदि आप, जहां आवश्यक हो पुरानी बात को दूर कर सुधार करने की आवश्यकता और इच्छा रखते हों और वर्तमान युग के साथ मेल खाते हुए आध्यात्म और नैतिकता के आधार पर एक नई पद्धति का निर्माण करना चाहते हों, तो उस हालत में दूसरों की इजाजत लेने अथवा उन्हें समझाने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक सुधारक उस समय तक नहीं ठहर सकता, जब तक कि सब में परिवर्तन हो जाय। पहले सुधारक को ही करनी होगी और सारे संसार के विरोध के सम्मुख अकेले चलने का साहस करना होगा। मैं अपने अनुभव, अध्ययन और सूझ के प्रकाश में ब्रह्मचर्य की उस वर्तमान परिभाषा की जांच करना चाहता हूं और उसे विस्तृत तथा सशोधित करना चाहता हूं। अतः जब भी अवसर आता है तब मैं उससे बच कर नहीं निकलता और न उससे दूर ही भागता हूं। इसके विपरीत मैं अपना यह कर्तव्य—धर्म मानता हूं कि मैं उसका सामना करूं। और इसका पता लगाऊं कि वह कहां लेजाकर छोड़ता है। और मैं कहां पर खड़ा हूं। स्त्री के स्पर्श से बचना और भयवश उससे दूर भाग जाना मेरी दृष्टि में सच्चे ब्रह्मचर्य की कामना करनेवाले के लिए अशोभनीय है। मैंने काम-

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase pp. 583-84

२—श्री बोस और मनु बहन के अनुसार यह बात दो ही दिन हुई। पांच दिन संभवतः भूल से लिखा गया है। वे दोनों ता० १४-३-'४७ को बिहार आये। ता० १५ और १६ को बातचीत हुई। —देखिए My days with Gandhi पृ० १७३; बिहारनी कोमी आगमां पृ० ४८, ५२, ६१, ६४

वासना की तृप्ति के लिए स्त्रियों से सम्पर्क साधने की कभी चेष्टा नहीं की। मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मैं अपने मे से काम-विकार को सम्पूर्णतः दूर कर सका हूं, पर मेरा यह दावा है कि मैं इसे काबू में रख सकता हूँ।"

प्रश्न: "हम लोगों की यह जानकारी नहीं है कि आपने जनता के सामने अपने इन विचारों को रखा है। इसके विपरीत आपने जनता के सामने ऐसे ही विचार रखे हैं, जिनके साथ हम लोग परिचित हैं। आपके प्रयत्नों के साथ उन विचारों को ही समझा है। आपका क्या खुलासा है?"

गान्धीजी: "आज भी मैं, जहाँ तक सर्वसाधारण का सवाल है, उन्हीं विचारों को उनके सामने रखता हूँ, जिनको आप मेरे पुराने विचार कहते हैं। साथ ही जैसा कि मैंने कहा है, मैं आधुनिक विचारों से बहुत गहराई तक प्रभावित हूं। हम लोगो में तांत्रिक विचार-धारा भी है, जिसने कि न्यायाधीश, सर जोन उड्फ जैसे पश्चिमी विद्वानों को भी प्रभावित किया है। मैंने यरवदा जेल में उनकी कृतियों का अध्ययन किया। आप रूढ़िगत संस्कारो में पले-पुसे हैं। मेरी परिभाषा के अनुसार आप ब्रह्मचारी नही माने जा सकते। आप जब-कभी बीमार पड जाते हैं। सब तरह की शारीरिक व्याधियों से ग्रसित हैं। मैं यह दावा करता हू कि सच्चे ब्रह्मचर्य का प्रतिनिधित्व मैं आपसे अच्छा करता हूं। आप सत्य, अहिंसा, अचौर्य के भङ्ग को इतनी गम्भीर दृष्टि से नहीं देखते। पर ब्रह्मचर्य का—स्त्री और पुरुष के बीच के सम्बन्ध का— काल्पनिक भङ्ग भी आप को पूर्णतः विचलित कर देता है। ब्रह्मचर्य की इस कल्पना को मैं संकुचित, प्रतिगामी और रूढ़िग्रस्त मानता हूं। मेरे लिए सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य के आदर्श समान महत्व रखते हैं। और सबके सब हमारी ओर से समान प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं। उनमें से किसी का भी भङ्ग मेरे लिए समान चिन्ता का विषय होता है। म यह मानता हूं कि मेरा आचरण ब्रह्मचर्य के सच्चे आदर्श से दूर नहीं गया है। इसके विपरीत उस ब्रह्मचर्य का, जो क्या करना और क्या नही करना, यहीं तक सीमित रहता है, असर समाज पर बुरा ही पड़ता है। उसने आदर्श को नीचे गिरा दिया है। और उसके सच्चे तत्त्व को छीन लिया है। यह मैं अपना उच्चतम कर्तव्य समझता हूं कि मैं इन नियमो और बन्धनो को समुचित स्थान में रखूँ और ब्रह्मचर्य के आदर्श को उन बेड़ियों से मुक्त कर दूँ, जिनसे कि वह जकड़ लिया गया है।"

प्रश्न : "यदि आपके विचार और आचार आत्म-संयम के पालन मे इतने आगे बढ़ गये हैं तो इनका आपके चारों ओर के वातावरण पर लाभकारी असर क्यों नही दिखाई देता? हम आपके चारों ओर इतनी अशान्ति और दु.ख को क्यों पाते हैं? आपके साथी विकारो से मुक्त क्यो नहीं होते?"

गान्धीजी—"मैं अपने साथियों के गुण और कमियो को अच्छी तरह जानता हूं। आप उनके दूसरे पक्ष को नहीं जानते। ऊपराऊपरी निरीक्षण के आधार पर तुरन्त किसी निर्णय पर पहुंच जाना सत्य-शोधक के लिए अशोभनीय है। आप लोग सोचते हैं, वैसा मैं खो नहीं गया हूं। मैं तो आपसे इतना ही कह सकता हूं कि आप लोग मुझ में विश्वास रखें। मैं आपके कहने पर उस बात को नहीं छोड़ सकता, जो मेरे लिए गहरे विश्वास का विषय है। मुझे खेद है, मैं असहाय हूं।"

प्रश्न: "हम नहीं कह सकते कि आपने हमें समझा दिया। हम संतुष्ट नही हैं। हम लोग इस बात को यहीं नहीं छोड़ सकते। हम लोग आपके साथ निरन्तर प्रयास करते रहेंगे। यदि आप बनी हुई मर्यादा के खिलाफ फिर जाने को प्रेरित हों तो अपने दुःखित मित्रों का भी खयाल करें।"

गान्धीजी—"मैं जानता हूं। पर मैं क्या कर सकता हूँ, जब कि मैं कर्तव्य-भावना से प्रेरित हूं। मैं ऐसी परिस्थिति की कल्पना कर सकता हूं, जब कि मैं स्थापित नियमों के विरुद्ध जाना अपना स्पष्ट कर्तव्य समझूं। ऐसी परिस्थितियों में मैं अपने को किसी भी वायदे के द्वारा बंधन में डालना नही चाहता।"

इस वार्तालाप के बाद ता० १६-३-'४७ की डायरी में महात्मा गांधी ने लिखा :

"ब्रह्मचर्य की मेरी परिभाषा के अनुसार आज के इनके ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचार दूषित अथवा अधूरे लगे। उनमें मेरे मार्ग के अनुसार सुधार की अति आवश्यकता है। मैंने विकार पोसने के लिए कभी भी जानबूझ कर स्त्री-संग का सेवन नहीं किया। एक अपवाद बतलाया है। अपने आचार से मैं आगे बढ़ा हूं और अभी अधिक की आशा करता हूं[1] ......।"

१—बिहारनी कोमी आगमां पृ० ६१

इसके बाद भी पत्र-व्यवहार चलता ही रहा। अन्त में महात्माजी के सामने यह सुझाव आया कि चूंकि दोनों ही पक्ष एक दूसरे को नहीं समझा सके हैं, अतः स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध और स्त्री-पुरुष-व्यवहार के सम्बन्ध में वर्तमान स्थितियों के अनुकूल मर्यादा स्थिर करने का प्रश्न कितने ही व्यक्तियों पर छोड़ा जाय।

१—गान्धीजी का मत रहा—प्रस्तावक पुराने परम्परा के नियमों से दूर जाना नहीं चाहते और मैं सत्य की अनन्त खोज में उन शर्तों से बद्ध नहीं हो सकता, जो उस खोज में बाधक हो। उन्होंने लिखा—आप ही की स्वीकृति के अनुसार नया विधान आप पर लागू नहीं होगा। जहाँ तक मेरा सवाल है, वहाँ तक मैं अपनी ही मर्यादाओं से बंधा रहूंगा। इस तरह दोनों जहां हैं, वहीं रहेंगे। ऐसी परिस्थिति में कोई लाभ नहीं कि हम लोग भूसी में से धान निकालने के काम में लोगों को लगावें।

उपर्युक्त वार्तालाप के दो दिन बाद (ता० १८-३-'४७ को) महात्मा गांधी ने श्रीमती अमृतकौर को जो पत्र लिखा, वह इस प्रकार है:

"तुम्हें मेरे इस वक्तव्य को मंजूर करने मे कोई कठिनाई नहीं होगी कि हम लोगों में से ब्रह्मचर्य की पूरी कीमत और उसका अर्थ कोई नहीं जानता और हम मूर्खों में, मैं ही कम मूर्ख हूं और अधिक से अधिक अनुभवी।······मैंने हजारों स्त्रियों का स्पर्श किया है, परन्तु मेरे स्पर्श का अर्थ कभी भी विकार-भाव नहीं रहा। मेरा स्पर्श दोनों के हित के लिए रहा। जिनका अनुभव इससे भिन्न हो, वे मेरे विरुद्ध अपने सबूत पेश करें।······ब्रह्मचर्य का मेरा अर्थ यह है—वह ब्रह्मचारी है जिसके मन में कभी भी विकार नहीं होता। और जो ईश्वर के प्रति अपनी निरन्तर मौजूदगी के द्वारा ऐसा संयमी हो गया है कि वह नग्न स्त्रियों के साथ नग्नरूप में सो सकता है, चाहे वह कितनी भी सुन्दर क्यों न हो और ऐसा करने पर भी जिसमें किसी तरह की विषय-भावना की जागृति नहीं होती। ऐसा व्यक्ति कभी झूठ नहीं बोलेगा। दुनिया में किसी भी स्त्री व पुरुष के प्रति किसी तरह की क्षति नहीं करेगा व क्रोध और द्वेष से मुक्त होगा और भगवद्गीता की परिभाषा के अनुसार स्थितप्रज्ञ होगा। ऐसा पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचारी का शाब्दिक अर्थ है—वह व्यक्ति जो कि ईश्वर की ओर क्रमशः हमेशा बढ़ता जाता है और जिसका प्रत्येक कार्य इसी ध्येय से किया जाता है और किसी अभिप्राय से नहीं [१]।"

प्रयोग स्थगित करने के पहले और बाद में महात्मा गांधी की जो भावना रही, वह उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है। प्रयोग स्थगित किया गया, उसका कारण ठक्कर बापा के अनुरोध की रक्षा और लोगों को इस प्रयोग के मर्म को समझने के लिए कुछ अवकाश देना मात्र था[२]। इस प्रयोग के विषय में निम्न बातें चिन्तनीय हैं:

महात्मा गांधी ने इस प्रयोग पर विचार जानने के लिए अनेक मित्र और साथियों से पत्र-व्यवहार किया। उपर्युक्त दोनों पुस्तकों से जो पत्र सामने आते हैं, उनमें प्रयोग के साथ उनकी पौत्री मनु बहन का ही नामोल्लेख है[३]। सार्वजनिक भाषण में भी उन्होंने मनु बहिन का ही उल्लेख किया[४]। जिन्होंने इस प्रयोग में कोई दोष नहीं देखा, उनके विचार भी प्रायः इसी बात पर आधारित थे अथवा महात्मा गांधी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा पर अवलम्बित थे। इसके दो नमूने नीचे दिये जाते हैं:

(१) श्री अब्दुल गफ्फारखां ने एक बार कहा: "उनमें तो साधारण सन्तुलन भी नहीं। वे यह क्यों नहीं देखते हैं कि मनु तो आपके लिए एक ६ महीने की बच्ची के तुल्य है।······मनु आपके साथ एक ही बिछौने पर सोती है, इसमें मैं जरा भी दोष नहीं देखता। मैं समझ नहीं पाता कि एक विचारशील व्यक्ति ऐसी साधारण बात भी क्यों नहीं समझ सकता[५]।"

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 591

२—Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 587 : The concession was only to feelings and sentiments of those who could not understand his stand and might need time for new ideas to sink into their minds.

३—My days with Gandhi p. 136 (Letter to a friend name not mentioned); वही पृ० १५५ (श्री सतीश चन्द्र मुखर्जी के नाम पत्र); Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 581 (श्री आचार्य कृपलानी के नाम पत्र) ; वही पृ० ५८० (होरेस एलेक्जेंडर के नाम पत्र)।

४—My days with Gandhi p. 154; Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 580

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 592

इसमें प्रयोग पर सार्वभौम दृष्टि से विचार नहीं है।

(२) आचार्य कृपलानी ने महात्मा गांधी के ता० २४-२-४७ के पत्र[1] का उत्तर देते हुए ता० १-३-४७ के पत्र मे उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा व्यक्त करते हुए लिखा :

"ऐसे प्रश्न मेरे बूते के बाहर हैं। दूसरों का न्याय करने बैठूं—खास कर उनका जो नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से मुझसे अनेक कोस दूरी पर हैं—उसके पहले अपने को नैतिक दृष्टि से सीधा रखने के लिए मुझे बहुत कुछ करना है। मैं तो इतना ही कह सकता हूं कि मुझे आपमें पूर्ण विश्वास है। कोई भी पापी मनुष्य आपकी तरह कार्य नहीं कर सकता। अगर कोई सन्देह होता भी तो मैं अपनी आंखों और कानों का ही अविश्वास करता। क्योंकि मैं मानता हूं कि मेरी इन्द्रियां मुझे अधिक धोखा दे सकती हैं, बनिस्बत आप, अतः मैं तो निश्चित हूं। कभी मैं सोचा करता हूं······आप कहीं मनुष्यों का प्रयोग साध्य के रूप मे न कर, साधन के रूप में तो नहीं कर रहे हैं। पर मैं यह विचार कर धैर्य ग्रहण कर लेता हूं कि आप अवश्य ही ऐसा ऊहापोह रखते होंगे। यदि आप स्वयं अपने विषय में निश्चित हैं, तो दूसरों को इससे हानि नहीं हो सकेगी। मुझे आश्चर्य हुआ कहीं आप गीता के लोक-सग्रह का भंग तो नहीं कर रहे हैं। परन्तु इस प्रयोग में यह विचार भी आप की दृष्टि से ओझल नहीं होगा।······मैं जानता हूं स्त्रियों के प्रति आपकी जो भावना है, वही सही है। क्योंकि आप उनमें से हैं, जो स्त्री को साध्य मानते हैं केवल साधन नहीं। आपने कभी स्त्री-जाति से अनुचित लाभ नहीं उठाया[2]।"

यह उत्तर श्रद्धा भावना से प्रेरित है और प्रकारान्तर से उसमें आपत्तियां दिखा ही दी गयी हैं।

२—महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य के क्षेत्र मे इस प्रयोग के पीछे जो दृष्टियां बतलायी हैं, वे ऐसी नहीं जो सहज हृदयंगम हो सकें। मनु बहिन के मन की स्थिति के परीक्षण के लिए ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। मनु बहिन जैसी सच्ची, निश्छल स्त्री अपने पितामह को अपने मनोभाव बिना प्रयोग के ही सही-सही कह देगी, ऐसा महात्मा गांधी को विश्वास होना चाहिए था। जो बात, बातचीत से जानी जा सकती थी, उसके लिए ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी। सम्पर्क में आनेवाली बहिनों के मनोभावों को जानने के लिए ऐसे प्रयोग की सार्वभौम प्रयोजनीयता सिद्ध नहीं होती, फिर भले ही ऐसा प्रयोग कोई ब्रह्मचारी ही करे।

३—योगसूत्र मे यह अवश्य कहा है कि—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"—अहिंसक के सान्निध्य में वैर नहीं टिकता, पर यहां सान्निध्य का अर्थ खूब सन्निकटता नहीं है। दूर या समीप, अहिंसक का ऐसा प्रभाव पड़ता है। ब्रह्मचारी के समीप भी विकार शान्ति को प्राप्त होते हैं, यह सत्य है, पर इसके लिए क्या एक शय्या के सान्निध्य की आवश्यकता होगी? पतंजलि का सूत्र ऐसी बात नहीं कहता।

४—यह पौत्री मनु के शिक्षण की दिशा में जरूरी कदम किस दृष्टि से था, यह भी स्पष्ट नहीं है। ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में किसी भी बहिन के शिक्षण के साथ इस प्रयोग का सीधा सम्बन्ध कैसे बैठता है, यह समझ में नहीं आता। नोआखाली जैसे भयंकर क्षेत्र में अपनी पौत्री के साथ स्थित हो, वहां की जनता में अदम्य साहस लाने और परिस्थिति का निर्भयता के साथ-साथ मुकाबिला करने का अनुपम आदर्श जरूर रखा गया था, पर बहिनों के सह-शय्या-शयन के साथ उसका सम्बन्ध नहीं बैठता।

५—नपुंसकत्व-प्राप्ति की साधना के लिए भी ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नहीं। बिना ऐसे प्रयोग के नपुंसकत्व सिद्ध हुआ है, ऐसा इतिहास बतलाता है। कोई स्वयं ब्रह्मचर्य में कहां तक बढ़ा हुआ है, इस बात को जानने के लिए ऐसा प्रयोग उन्हीं आपत्तियों को सामने लाता है, जो आचार्य कृपलानी द्वारा प्रस्तुत हुई थी।

६—मनु बहिन का एक आदर्श नारी के रूप में निर्माण करने की भावना के साथ भी सह-शय्या के प्रयोग का सीधा सम्बन्ध नहीं बैठाया जा सकता। इस प्रयोग के न करने से वह कैसे रुकता, यह बुद्धिगम्य नहीं होता।

७—सह-शय्या-शयन नोआखाली यज्ञ का सायुज्य अङ्ग कैसे था, इस पर महात्मा गांधी का कथन स्पष्ट नहीं है।

१—इस पत्र में बात इस रूप में रखी हुई है—Manu Gandhi my grand-daughter, as we consider blood-relation, shares the bed with me, strictly as my very blood·······as part of what might be called my last yajna.

२—Mahatma Gandhi The Last Phase pp. 582-3

८—महात्मा गांधी को मानव-मात्र का प्रतीक मानें और मनु बहिन को बहिन-मात्र का, तो इस प्रयोग का सार यह हो सकता है कि सब मनुष्य स्त्री-मात्र को अपनी पौत्रियाँ समझें और स्त्रियाँ पुरुष-मात्र को अपना पितामह। यह प्रयोग ऐसे पदार्थ-बोध के लिए हो तो भी उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा आदर्श महापुरुष हमेशा देते आए हैं, पर ऐसा करने के लिए उन्हें कभी ऐसा प्रयोग करना पड़ा हो, ऐसा इतिहास नहीं बताता।

२२-बाड़ें और महात्मा गांधी

ऊपर महात्मा गांधी के प्रयोगों का जो उल्लेख आया है, उससे स्पष्ट है कि महात्मा गांधी ने प्रथम तीन बाड़ों की अवगणना की है। निर्विकार संसर्ग, स्पर्श, एक शय्या-शयन और एकान्त में अकेली स्त्री को धर्मोपदेश—यह उनके जीवन में चलते रहे। महात्मा गांधी शील की नव बाड़ों के सम्बन्ध में अपना स्वयं का चिन्तन रखते थे। वे इस विषय में सापेक्ष दृष्टि से चलते रहे। नीचे काल क्रम से उनके विचारों को दिया जा रहा है :

१—एक भाई ने पूछा—"मेरी दशा दयनीय है, दफ्तर में, रास्ते में, रात में, पढ़ते समय, काम करते हुए और ईश्वर का नाम लेते समय भी वही विचार मन में आते रहते हैं। विचारों को किस तरह काबू में रखूं? स्त्री-मात्र के प्रति मातृ-भाव कैसे पैदा हो?" महात्मा गांधी ने जवाब दिया—"यह स्थिति हृदय-द्रावक है। यह स्थिति बहुतों की होती है। पर जब तक मन उन विचारों से लड़ता रहे, तब तक डरने का कोई कारण नहीं। आँखें दोष करती हों तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिए। कान दोष करें तो उनमें रुई भर लेनी चाहिए। आँखों को सदा नीची रख कर चलने की रीति अच्छी है। इससे उन्हें और कुछ देखने का अवकाश ही नहीं रहता। जहां गन्दी बातें होती हों, या गन्दे गीत गाये जा रहे हों, वहां से तुरन्त रास्ता लेना चाहिए। जीभ पर पूरा काबू हासिल करना चाहिए। पर विषय-वासना को जीतने का रामबाण उपाय तो रामनाम या ऐसा ही कोई मंत्र है[१]।" (२५-४-'२४)

२—ब्रह्मचर्य का यह अर्थ नहीं है कि मैं स्त्री-मात्र का, अपनी बहन का भी, स्पर्श न करूं। ब्रह्मचारी होने का यह अर्थ है कि जैसे कागज को छूने से मेरे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही स्त्री का स्पर्श करने से भी नहीं होना चाहिए। मेरी बहन बीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण मुझे उसकी सेवा करने से हिचकना पड़े तो वह ब्रह्मचर्य कौड़ी काम का नहीं। मुर्दे को छूकर हम जिस अविकार दशा का अनुभव कर सकते हैं; उसी अविकार दशा का अनुभव जब किसी परम सुन्दरी युवती को छूकर भी कर सकें, तभी हम सच्चे ब्रह्मचारी हैं[२]। (२६-२-'२५)

३—विवाहित जीवन मे ब्रह्मचर्य-पालन के उपाय बताते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है :

(१) विवाहित पुरुष को अपनी स्त्री के साथ एकान्त में मिलना-जुलना बन्द करना होगा। थोड़ा विचार करने से हर आदमी देख सकता है कि संभोग के सिवा और किसी बात के लिए अपनी स्त्री से एकान्त में मिलने की जरूरत नहीं होती।

(२) रात में पति-पत्नी को अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए।

(३) दिन में दोनों को अच्छे कामों और अच्छे विचारों में सदा लगे रहना चाहिए।

(४) जिनसे अपने सद्विचार को उत्तेजना मिले, ऐसी पुस्तकें पढ़ें। ऐसे स्त्री-पुरुष के चरित्रों का मनन करें। और विषय-भोग में दुःख ही दुःख है, इसे सदा स्मरण रखें[३]।

जो भगवान को पाने के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत लेगा, उसे जीवन की लगाम ढीली कर देने से मिलनेवाले सुखों का मोह छोड़ना ही होगा। और इस व्रत के कड़े बन्धनों में ही सुख मानना होगा। वह दुनिया में रहे भले ही, पर उसका होकर नहीं रहेगा। उसका भोजन, उसका काम-धन्धा, उसके काम करने का समय, उसके मनबहलाव के साधन, उसका साहित्य, जीवन के प्रति उसकी दृष्टि, सभी साधारण जन-समुदाय से भिन्न होंगे[४]। (५-६-'२६)

१—अनीति की राह पर पृ० ५६, ६०

२—वही पृ० ६४-६५

३—वही पृ० ६८-६६

४—वही पृ० १०६

४—आज मेरे ५६ साल पूरे हो चुके हैं ; फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। यह असि-धारा व्रत है—इस बात को दिन-दिन अधिकाधिक समझ रहा हूं। निरन्तर जाग्रत रहने की आवश्यकता देख रहा हूं।

ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय—'जीभ' को वश में करना ही होगा।''''''हमारी खुराक थोड़ी, सादी और बिना मिर्च मसाले की होनी चाहिए। ब्रह्मचर्य का आहार वनपक्व फल है। दुग्धाहार से यह कष्ट-साध्य हो जाता है।

बाह्य उपचारों में जैसे आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है, वैसे ही उपवास को भी समझना चाहिए। इन्द्रियां इतनी बलवान हैं कि उन पर चारों ओर से, ऊपर और नीचे से, दसों दिशाओं से घेरा डाला जाय, तभी काबू में रहती हैं। आहार के बिना वे काम नहीं कर सकतीं। उपवास से इन्द्रियों को काबू में लाने में मदद मिलती है। उपवास का सच्चा उपयोग वहीं है, जहां मन भी देह-दमन में साथ देता है। मन में विषय-भोग के प्रति विरक्ति हो जानी चाहिए। विषय-वासना की जड़ें तो मन में ही होती हैं। उपवास के बिना विषयासक्ति का जड़ मूल से जाना संभव नहीं। अतः उपवास ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अङ्ग है।

संयमी और स्वच्छंद, त्यागी और भोगी के जीवन में भेद होना ही चाहिए। दोनों का भेद स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। आंख का उपयोग दोनों करते हैं। पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है। भोगी नाटक सिनेमा में लीन रहता है। कान से दोनों काम लेते हैं। पर एक भगवद् भजन सुनता है, दूसरे को विलासी गाने सुनने में आनन्द आता है। जागरण दोनों करते हैं। पर एक जाग्रत अवस्था में हृदय-मन्दिर में विराजनेवाले राम को भजता है, दूसरे को नाच-रंग की धुन में सोने का खयाल ही नहीं रहता। खाते दोनों हैं। पर एक शरीररूपी तीर्थ क्षेत्र की रक्षार्थ देह को भोजनरूपी भाड़ा देता है, दूसरा जबान के मजे की खातिर देह में बहुत सी चीजों को ठूंसकर उसे दुर्गंधमय बना देता है। यों दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अंतर दिन-दिन बढ़ता जाता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य के मानी है, मन-वचन-काय से सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम। इस संयम के लिए ऊपर बताये हुए त्यागों की आवश्यकता है, यह मुझे आज भी दिखाई दे रहा है।

प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो अपनी कमियों को हर वक्त देखता रहेगा। अपने मन के कोने में छिपे हुए विकारों को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने की कोशिश सदा करता रहेगा।

जब तक विचारों पर यह काबू न मिल जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आये, तब तक ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण नहीं। उन्हें वश में करने का मानी है, मन को वश में करना।

जो लोग ईश्वर साक्षात्कार के उद्देश्य से, जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या मैंने ऊपर की है, वैसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, वे अपने प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उनके निराश होने का कोई कारण नहीं।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते[1] ॥

अतः रामनाम और रामकृपा, यही आत्मार्थी का अन्तिम साधन है, इस सत्य का साक्षात्कार मैंने हिन्दुस्तान आने पर किया। आत्म-कथा ख० ३ अ० ८

५—विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्सदेह, जो अन्य इन्द्रियों को जहां-तहां भटकने देकर एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकारी बातें सुनना, आंख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारनेवाली चीज को छूना और फिर भी जननेंद्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेंद्रिय को रोकने का निश्चय करनेवाले के लिए इंद्रिय-मात्र का, उनके विकारों से रोकने का निश्चय होना ही चाहिए[2]। (५-८-'३०)

६—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अपनी या परायी स्त्री के लिए विकारवश होने में, उन्हें विकारी बनकर छूने में, ब्रह्मचर्य का भंग नहीं

१—निराहार रहनेवाले के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस बना रहता है। ईश्वर के दर्शन से वह भी चला जाता है। गीता २:५९
२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) : पृ० ७

होता। यह भयंकर भूल है। इसमें स्थूल ब्रह्मचर्य का सीधा भंग है। इस तरह रमनेवाले स्त्री-पुरुष अपने को और दुनिया को धोखा देते हैं। ...ऐसे लोगों की अन्तिम क्रिया बाकी रहती है, तो उसका श्रेय उन्हें नहीं, हालात को है। ये पहले ही मौके पर फिसलनेवाले हैं[१]। (१६-६-'३१)

७—ब्रह्मचर्य के पालन के लिए सिर्फ इतना ही काफी नहीं है कि ब्रह्मचारी स्त्री या पुरुष को बुरी नजर से न देखें। लेकिन वह मन से भी विषयों का चिन्तन या भोग न करे।

अपनी पत्नी या दूसरी स्त्री हो, अपना पति हो या दूसरा पुरुष हो किसी के भी विकारमय स्पर्श, या वैसी बातचीत या फिर कोई वैसी ही चेष्टा से भी स्थूल ब्रह्मचर्य टूटता है। यह विकारमय चेष्टा यदि पुरुष-पुरुष के बीच ही हो या स्त्री-स्त्री के बीच ही हो या दोनों की किसी चीज के लिए हो, तो भी स्थूल ब्रह्मचर्य का भंग होता है[२]।

८—स्त्री-संग न करने में जो ब्रह्मचर्य का आदि और अन्त मानते हैं, वे ब्रह्मचारी नहीं हैं।......दूसरे सब भोग भोगते हुए जो पुरुष स्त्री-संग से दूर रहने की इच्छा रखता होगा, या ऐसी कोई स्त्री पुरुष-संग से दूर रहना चाहती होगी, उसकी कोशिश बेकार है। कूएँ में जानबूझ कर उतर कर पानी से अछूता रहने के प्रयत्न जैसा ही यह प्रयत्न है। जो स्त्री-पुरुष संग के त्याग को आसान बनाना चाहते हैं, उन्हें उसे उत्तेजना देनेवाली सभी जरूरी चीजें छोड़नी चाहिएँ। उन्हें जीभ के स्वाद छोड़ने चाहियें, शृंगार-रस छोड़ना चाहिए। और विलास मात्र छोड़ना चाहिए। मुझे जरा भी शक नहीं कि ऐसे लोगों के लिए ब्रह्मचर्य आसान है[३]। (१६-६-'३२)

९—गीता के दूसरे अध्याय में कहा है कि "निराहारी के विषय तबतक भले ही दब गये, जब तक निराहार जारी रहे। मगर उसका रस नहीं मिटता। वह तो तभी मिटेगा जब पर के यानी सत्य के यानी ब्रह्म के दर्शन हो जायँगे।"......इस श्लोक में......पूर्ण सत्य कह दिया है। उपवास से लगाकर जितने संयमों की कल्पना की जा सकती है, वे सब ईश्वर की कृपा के बिना बेकार हैं। ब्रह्म का दर्शन यानी ब्रह्म हृदय में निवास करता है, ऐसा अनुभव ज्ञान। यह न हो तब तक रस नहीं मिटता। इसके आते ही रस मात्र सूख जाते हैं। ......यह ज्ञान लगातार अभ्यास से ही होता है।......सत्य के दर्शन के अन्त में परमानन्द है[४]। (१९-६-'३२)

१०—......उपवास करके उलटे सिर लटक कर, हाथ सुखाकर, पैर सुखाकर किसी भी तरह विषयों की निवृत्ति करनी ही है[५]। (२५-६-'३२)

११—शुद्ध प्रेम में शरीर-स्पर्श करने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु उसका अर्थ यह तो नहीं है कि स्पर्श मात्र अपवित्र होता है। मेरा मेरी माँ पर शुद्ध प्रेम था। जब उसके पांव दर्द करते, तब मैं उन्हें दबाता था। उसमें कोई अपवित्रता नहीं थी। विकारी स्पर्श दूषित है। अतः मैं ऐसा कहूंगा कि शरीर-स्पर्श के बिना शुद्ध प्रेम अशक्य है, ऐसा कहनेवाले ने शुद्ध प्रेम समझा ही नहीं[६]। (२९-५-'३७)

१२—''''''मेरा ब्रह्मचर्य पुस्तकीय नहीं है। मैंने तो अपने तथा उन लोगों के लिए जो मेरे कहने पर इस प्रयोग में शामिल हुए हैं, अपने ही नियम बनाए हैं। और अगर मैंने इसके लिए निर्दिष्ट निषेधों का अनुसरण नहीं किया है, तो स्त्रियों को धार्मिक साहित्य में जो सारी बुराई और प्रलोभन का द्वार बताया गया है, उसे मैं इतना भी नहीं मानता। पुरुष ही प्रलोभन देनेवाला और आक्रमण करनेवाला है। स्त्री के स्पर्श से वह अपवित्र नहीं होता; बल्कि वह खुद ही उसका स्पर्श करने लायक पवित्र नहीं होता। लेकिन हाल में मेरे मन में संदेह जरूर उठा है कि स्त्री या पुरुष के संपर्क में आने के लिए ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी को किस तरह की मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। मैंने जो मर्यादायें रखी हैं, वे मुझे पर्याप्त नहीं मालूम पड़ती, लेकिन वे क्या होनी चाहिएँ, यह मैं नहीं जानता[७]। हरिजन सेवक, (२३-७-'३८)

१—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४२

२—वही पृ० ६१

३—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४०-४१

४—वही पृ० ४२-४४

५—वही पृ० ४५

६—अमृतवाणी पृ० १५५

७—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२, १०३-४

१३—ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक मानी जानेवाली बाड़ को मैंने हमेशा के लिए आवश्यक नहीं माना है। जिसे किसी बाह्य रक्षा की जरूरत है, वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं। इसके विपरीत, जो बाड़ को तोड़ने के ढोंग से प्रलोभनों की खोज में रहता है, वह ब्रह्मचारी नहीं, किन्तु मिथ्याचारी है।

ऐसे निर्भय ब्रह्मचर्य का पालन कैसे हो? मेरे पास इसका कोई अचूक उपाय नहीं, क्योंकि मैं पूर्ण दशा को नहीं पहुंचा हूं। पर मैंने अपने लिए जिस वस्तु को आवश्यक माना है, वह यह है :

विचारों को खाली न रहने देने की खातिर निरंतर उन्हें शुभ चिन्तन में लगाये रहना चाहिए।

रामनाम का इकतारा तो चौबीसों घंटे, सोते हुए भी, श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से, चलता रहना चाहिए।

वाचन हो तो शुभ, और विचार किया जाय, तो अपने पारमार्थिक कार्य का।

विवाहितों को एक-दूसरे के साथ एकान्त-सेवन नहीं करना चाहिए।

एक कोठरी में एक चारपाई पर नहीं सोना चाहिए।

यदि एक दूसरे को देखने से विकार पैदा होता हो तो, अलग-अलग रहना चाहिए।

यदि साथ-साथ बातें करने मे विकार पैदा होता हो, तो बातें नहीं करनी चाहिए।

जो मनुष्य कान से बीभत्स या अश्लील बातें सुनने में रस लेते हैं, आंख से स्त्री की तरफ देखने में रस लेते हैं, वे ब्रह्मचर्य का भंग करते हैं।

अनेक······ब्रह्मचर्य-पालन में हताश हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे श्रवण, दर्शन, वाचन, भाषण आदि की मर्यादा नहीं जानते।······जो पुरुष स्त्री के चाहे जिस अङ्ग का सविकार स्पर्श करता है, उसने ब्रह्मचर्य का भङ्ग किया है, यह समझना चाहिए।

जो ऊपरी मर्यादा का ठीक-ठीक पालन करता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सुलभ हो जाता है।

आलसी मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता। वीर्य-संग्रह करनेवाले मे एक अमोघ-शक्ति पैदा होती है। उसे अपने शरीर और मन को निरंतर कार्यरत रखना ही चाहिए।

हर एक साधक को ऐसा सेवा-कार्य खोज लेना चाहिए कि जिससे उसे विषय-सेवन करने के लिए रंचमात्र भी समय न मिले।

साधक को अपने आहार पर पूरा काबू रखना चाहिए। वह जो कुछ खाये, वह केवल औषधिरूप में शरीर-रक्षा के लिए, स्वाद के लिए कदापि नहीं। इसलिए मादक पदार्थ, मसाले वगैरह उसे खाना ही नहीं चाहिए। ब्रह्मचारी मिताहारी नहीं, किन्तु अल्पाहारी होना चाहिए।

सब अपनी मर्यादा को बांध लें।

उपवासादि के लिए ब्रह्मचर्य-पालन में अवश्य स्थान है।

'क्षणिक रस के लिए मैं क्यों तेजहीन होऊँ? जिस वीर्य में प्रजोत्पत्ति की शक्ति भरी हुई है, उसका पतन क्यों होने दूं?······' इस विचार का मनन यदि साधक नित्य करे, और रोज ईश्वर-कृपा की याचना करे, तो संभवत: वह इस जन्म में ही वीर्य पर काबू प्राप्त कर ब्रह्मचारी बन सकता है[१]। (२८-१०-'३६)

१४—पर मेरा ब्रह्मचर्य उसका पालन करने के लिए बने हुए कट्टर नियमों के बारे में कुछ नहीं जानता। मैंने तो जब जैसी जरूरत देखी, उसके अनुसार नियम बना लिये। लेकिन मेरा यह विश्वास कभी नहीं रहा कि ब्रह्मचर्य का उपर्युक्त रूप में पालन करने के लिए स्त्रियों के किसी भी तरह के संसर्ग से बिल्कुल बचना चाहिए। जो संयम अपने विपरीत वर्ग के सब संसर्गों से, फिर वह कितना ही निर्दोष क्यों न हो, बचने के लिए कहे, वह बलात् संयम है, जिसका कोई महत्त्व नहीं। इसलिए सेवा या काम-काज के लिए स्वाभाविक संसर्गों पर कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा[२]। (४-११-'३६)

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७-१०

२—वही पृ० २६-३१

१५—एक भाई ने गांधीजी से प्रश्न किया : "मैं जानना चाहता हूं कि क्या आप पुरुष और स्त्री सत्याग्रहियों का स्वच्छन्दतापूर्वक मिलना-जुलना और उनका एक साथ काम करना पसन्द करेंगे अथवा अलग इकाइयों के रूप में उनका संगठन करना···।"

गांधीजी ने उत्तर दिया : "मैं तो अलग इकाइयाँ रखना ही पसन्द करूंगा। औरत के पास औरतों के बीच करने के लिए काफी से ज्यादा काम है।···सिद्धान्त की दृष्टि से भी मैं स्त्री-पुरुष दोनों के अलग-अलग अपना काम करने में विश्वास रखता हूं। लेकिन इसके लिए कोई कठोर नियम नहीं बना सकता। दोनों के बीच के सम्बन्ध पर विवेक का नियंत्रण होना चाहिए। दोनों के बीच कोई अंतराय न होना चाहिए। उनका परस्पर का व्यवहार प्राकृतिक और स्वेच्छापूर्ण होना चाहिए[1]।" (१-६-'४०)

१६—···जो ब्रह्मचर्य-पालन के सामान्य नियमों की अवगणना करके वीर्य-संग्रह की आशा रखते हैं, उन्हें निराश होना पड़ता है, और कुछ तो दीवाने-जैसे बन जाते हैं। दूसरे निस्तेज देखने में आते हैं। वे वीर्य-संग्रह नहीं कर सकते, और केवल स्त्री-संग न करने में सफल हो जाने पर अपने आपको कृतार्थ समझते हैं[2]। (११-१०-'४२)

१७—ब्रह्मचर्य स्त्रियों के साथ पवित्र सम्बन्ध रखने से, या उनके आवश्यक स्पर्श से अशुद्ध नहीं हो जायगा। ब्रह्मचारी के लिए स्त्री और पुरुष का भेद नहीं-सा हो जाता है। इस वाक्य का कोई अनर्थ न करे। इसका उपयोग स्वेच्छाचार का पोषण करने के लिए कभी नहीं होना चाहिये[3]। (१०-११-'४२)

१८—अगर मन कमजोर है तो बाहर की सब सहायता बेकार है, और मन पवित्र है, तो सब अनावश्यक है। इसका यह मतलब कदापि नहीं समझना चाहिए कि एक पवित्र मनवाला आदमी सब तरह की छूट लेते हुए भी बेदाग बचा रह सकता है। ऐसा आदमी खुद ही अपने साथ कोई छूट न लेगा। उसका सारा जीवन उसकी अंदरूनी पवित्रता का सच्चा सबूत होगा[4]। (२-५-'४६)

१९—"मैं पुरानी धारणा से जैसा कि हम उसे जानते हैं, आगे जाता हूं। मेरी परिभाषा ढिलाई को स्थान नहीं देती। मैं उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहता—जिसका अर्थ है स्त्री का स्पर्श न करना। मैं जो आज करता हूं वह मेरे लिए नया नहीं है। जहां तक मैं अपने को जानता हूं, मैं आज वही विचार रखता हूं जो कि मैं ४५ वर्ष पूर्व, जब कि मैंने व्रत ग्रहण किया था, रखता था। व्रत लेने के पहले जब मैं इंग्लैण्ड में विद्यार्थी था, तब भी मैं स्वतंत्रता पूर्वक स्त्रियों से मिलता जुलता था, और फिर भी वहां रहते समय मैं अपने को ब्रह्मचारी कहता था। मेरे लिए, ब्रह्मचर्य वह विचार और चर्या है, जो कि ब्रह्म के साथ सम्पर्क कराता है और उस तक ले जाता है। दयानन्द इस अर्थ में ब्रह्मचारी नहीं थे। निश्चय ही मैं भी नहीं हूं, परन्तु मैं उस दशा को पहुँचने की चेष्टा कर रहा हूं और मेरे विचार से मैंने काफी प्रगति की है।

मैं उस अर्थ में आधुनिक नहीं हूं जिस अर्थ में आप समझते हैं। मैं उतना ही पुराना हूं, जितनी कल्पना की जा सकती है। और अपने जीवन के अन्त तक वैसा ही रहने की आशा करता हूं[5]। (१७-३-'४७)

२०—जिस ब्रह्मचर्य की चर्चा की है, उसके लिए कैसी रक्षा होनी चाहिए? जवाब तो सीधा है। जिसे रक्षा की जरूरत हो, वह ब्रह्मचर्य ही नहीं। मगर यह कहना आसान है। उसे समझना और उस पर अमल करना बहुत मुश्किल है। यह बात पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए ही सच्ची है। ······जो ब्रह्मचारी बनने की कोशिश कर रहा है, उसके लिए तो अनेक बंधनों की जरूरत है। आम के छोटे पेड़ को सुरक्षित रखने के लिए उसके चारों तरफ बाड़ लगानी पड़ती है। छोटा बच्चा पहले मां की गोद में सोता है, फिर पालने में और फिर चालन-गाडी लेकर चलाता है। जब बड़ा होकर खुद चलने-फिरने लगता है, तब सहारा छोड़ देता है। न छोड़े तो उसे नुकसान होता है। ब्रह्मचर्य पर भी यही चीज लागू होती है।

ब्रह्मचर्य की मर्यादा या बाड़ एकादश व्रतों का पालन है। मगर एकादश व्रतों को कोई बाड़ न माने। बाड़ तो किसी खास हालत

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ ४०

२—आरोग्य की कुंजी पृ० ३०

३—वही पृ० ३६-३७

४—ब्रह्मचर्य (दू० भा०)पृ० ४५-४६

५—My days with Gandhi pp. 176-77

के लिए ही होती है। हालत बदली और बाड़ भी गई। मगर एकादश व्रत[1] का पालन तो ब्रह्मचर्य का जरूरी हिस्सा है। उसके बिना ब्रह्मचर्य-पालन नहीं हो सकता।

आखिर में ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है। बाहरी आचार या व्यवहार उसकी पहचान, उसकी निशानी है। जिस पुरुष के मन में जरा भी विषय-वासना नहीं रही, वह कभी विकार के वश नहीं होगा। वह किसी औरत को चाहे जिस हालत में देखे, चाहे जिस रूप-रंग में देखे, तो भी उसके मन में विकार पैदा नहीं होगा। यही स्त्री के बारे में भी समझना चाहिए। मगर जिसके मन में विकार उठा ही करते हैं, उसे तो सगी बहन या बेटी को भी नहीं देखना चाहिए। मैंने अपने कुछ मित्रों को यह नियम पालन करने की सलाह दी थी।......इसका पालन किया, उन्हें फायदा हुआ है। अपने बारे में मेरा तजरुबा है कि जिन चीजों को देखकर दक्षिणी अफ्रीका में मेरे मन में कभी विकार पैदा नहीं हुआ था, उन्हीं से दक्षिणी अफ्रीका से वापस आने पर मेरे मन में विकार पैदा हुआ। और, उसे शांत करने में मुझे काफी मेहनत करनी पड़ी।

ब्रह्मचर्य की जो मर्यादा हम लोगों में मानी जाती है, उसके मुताबिक ब्रह्मचारी को स्त्रियों, पशुओं और नपुंसकों के बीच नहीं रहना चाहिए। ब्रह्मचारी अकेली स्त्री या स्त्रियों की टोली को उपदेश न करे। स्त्रियों के साथ, एक आसन पर न बैठे। स्त्रियों के शरीर का कोई हिस्सा न देखे। दूध, दही, घी वगैरह चिकनी चीजें न खाये। स्नान-लेपन न करे। यह सब मैंने दक्षिणी अफ्रीका में पढ़ा था। वहाँ जननेन्द्रिय का संयम करनेवाले पश्चिम के स्त्री-पुरुषों के बीच में मैं रहता था। मैं उन्हें इन सब मर्यादाओं को तोड़ते देखता था। खुद भी उनका पालन नहीं करता था। यहाँ आकर भी न कर सका।

मुझे लगता है कि जो ब्रह्मचारी बनने की सच्ची कोशिश कर रहा है, उसे भी ऊपर बताई हुई मर्यादाओं की जरूरत नहीं है। ब्रह्मचर्य जबरदस्ती से यानी मन से विरुद्ध जा कर पालने की चीज नहीं। वह जबरदस्ती से नहीं पाला जा सकता। यहाँ तो मन को वश में करने की बात है। जो जरूरत पड़ने पर भी स्त्री को छूने से भागता है, वह ब्रह्मचारी बनने की कोशिश नहीं करता।

इस लेख का मतलब यह नहीं कि लोग मनमानी करें। इसमें तो सच्चा संयम पालने की बात बताई गई है। दंभ या ढोंग के लिए यहाँ कोई जगह हो ही नहीं सकती।

जो छुपे तौर से विषय-सेवन के लिए इस लेख का इस्तेमाल करेगा, वह दंभी और पापी गिना जायगा।

ब्रह्मचारी को नकली बाड़ों से भागना चाहिए। उसे अपने लिए मर्यादा बना लेनी चाहिए। जब उसकी जरूरत न रहे, तब तो उसे तोड़ना चाहिए[2]। (८-६-'४७)

२१—ब्रह्मचर्य क्या है, यह बताते हुए मैंने लिखा था कि ब्रह्म यानी ईश्वर तक पहुँचने का जो आचार होना चाहिए, वह ब्रह्मचर्य है।...ईश्वर मनुष्य नहीं है। इसलिए वह किसी मनुष्य में उतरता है या अवतार लेता है, ऐसा कहें तो यह निरा सत्य नहीं है।......सच बात तो यह है कि ईश्वर एक शक्ति है, तत्त्व है, शुद्ध चैतन्य है, सब जगह मौजूद है। मगर हैरानी की बात यह है कि ऐसा होते हुए भी सब को उसका सहारा या फायदा नहीं मिलता, या यों कहें कि सब उसका सहारा पा नहीं सकते।

बिजली एक बड़ी शक्ति है। मगर सब उससे फायदा नहीं उठा सकते। उसे पैदा करने का अटल कानून है। उसके अनुसार काम किया जाय तभी बिजली पैदा की जा सकती है। बिजली जड़ है, बेजान चीज है, उसके इस्तेमाल का फायदा चेतन मनुष्य मेहनत करके जान सकता है। जिस चेतनामय बड़ी भारी शक्ति को हम ईश्वर कहते हैं, उसके प्रयोग का भी नियम तो है ही।......उस नियम का नाम है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य को पालने का सीधा रास्ता रामनाम है। यह मैं अपने अनुभव से कह सकता हूं...।

इस तरह विचार करते हुए मैं कह सकता हूं कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते हैं, वे तो खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा तो रामनाम ही है[3]। (१४-६-'४७)

२२—विलायत में अच्छी तरह शिक्षाप्राप्त एक हिन्दुस्तानी भाई ने अपनी एक उलझन गांधीजी के सामने इस प्रकार रखी : "......एक तरफ से लगता है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को ज्यादा कुदरती बनाने से बुराई और पापाचार कम होगा। दूसरी तरफ से लगता है कि

१—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन।
सर्वधर्मी, समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना, हीं एकादश सेवावीं नम्रत्व व्रतनिश्चये॥

२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५४-५६

३—वही पृ० ५७-५८

एक-दूसरे को छूने से बुराई पैदा हुए बिना रह नहीं सकती।......मुझे लगता है कि स्पर्श-सुख की वजह से आदमी, बदमाश हो तो, एक महीने या एक हफ्ते में और भला हो तो, धीरे-धीरे १० बरस में भी पाप की तरफ झुके बिना नहीं रह सकता।...यह भी खयाल आता है कि स्पर्श-मात्र-छोड़ देने से क्या काम चल सकेगा?..."

महात्मा गांधी ने उत्तर दिया : "बहुतेरे नौजवान लड़के-लड़कियों की यही हालत होती है। उनके लिए सीधा रास्ता यही है : उन्हें स्पर्शमात्र का त्याग करना ही चाहिए। किताबों में लिखी हुई मर्यादाएँ उस समय में होनेवाले अनुभव से बनाई गई हैं। लेखकों के लिए वे जरूरी भी थीं। साधक को अपने लिए उनमें से कुछ मर्यादाएँ या दूसरी कुछ नई मर्यादाएँ बना लेनी होंगी। अन्तिम मंजिल को बीच में रखकर उसके आसपास एक दायरा खींचें तो मंजिल तक पहुंचने के कई रास्ते दिखाई देंगे। उनमें से जिसे जो आसान हो, उसपर चले और मंजिल पर पहुँचे। जिस साधक को अपने-आप पर भरोसा नहीं, वह अगर दूसरों की नकल करने लगे तो जरूर ठोकर खायगा।......

"जिसका राम दिल में बसता है, ऐसे साधक के लिए सारी स्त्रियां बहन या मां हैं। उसे कभी यह खयाल भी नहीं आता कि स्पर्शमात्र बुरा है। उसमें से दोष पैदा होने का डर नहीं रहता। वह सारी स्त्रियों में उसी भगवान को देखता है, जिसे व अपने में पाता है।

"ऐसे लोग हमने नहीं देखें, इसलिए यह मानना कि वे हों ही नहीं सकते, घमंड की निशानी है। इससे ब्रह्मचर्य की महिमा घटती है।......[1]" (२९-६-'४७)

२३—......सबको अपनी कमजोरी पहचाननी चाहिए। जान-बूझकर उसे जो छिपाता है और बलवान की नकल करने जाता है, वह ठोकर खायेगा ही। इसलिए मैंने तो कहा है कि हरेक को अपनी मर्यादा खुद बांधनी चाहिए।

मुझे नहीं लगता कि किशोरलाल भाई जिस चटाई पर स्त्री बैठी हो, उस पर बैठने से इनकार करेंगे। ऐसा हो तो मुझे ताज्जुब होगा। मैं तो ऐसी मर्यादा को समझ नहीं सकता। मैंने उनके मुँह से ऐसा कभी नहीं सुना। स्त्री की निर्दोष संगति की तुलना सांप के बिल से करना मैं तो अज्ञान ही मानता हूँ। इसमें स्त्री-जाति का और पुरुष का अपमान है। क्या जवान लडका अपनी मां के पास नहीं बैठेगा? बहन के पास नहीं बैठेगा? रेल में उसके साथ एक पटरी पर नहीं बैठेगा। ऐसे संग से भी जिनका मन चंचल होता हो, उसकी हालत कितनी दयाजनक मानी जायगी?

यह मैं मानता हूँ कि लोक-संग्रह के लिए बहुत कुछ छोड़ना चाहिए। मगर इसमें भी समझ से काम लेना होगा। यूरोप में नंगों का *एक संघ है।* उन्होंने मुझे इसमें खींचने की कोशिश की। मैंने साफ इन्कार कर दिया।

......नंगों की मिसाल को मैं लोक-संग्रह की आवश्यकता में गिनूंगा। मगर लोक-संग्रह की दलील देकर मुझ पर दबाव डाला गया कि मैं छुआछूत मिटाने की बात छोड़ दूं। लोक-संग्रह की दृष्टि से नौ बरस की लड़की की शादी करने का रिवाज चालू रखने की बात कही गई है। लोक-संग्रह की खातिर दरिया पार जाने से रोका जाता था। ऐसी और भी कई मिसालें दी जा सकती हैं। मगर घर के कुएँ में हम तैरें, डूब न मरें।

बन्धन ऐसे तो नहीं होने चाहिए कि जिनसे स्त्री-पुरुष का भेद हम भूल ही न सके। हमें याद रखना चाहिए कि हमारे अनेक कामों में इस फर्क के लिए कोई जगह नहीं है। दरअसल इस भेद को याद करने का मौका एक ही होता है, वह तब, जब काम सवारी करता है। जिन स्त्री-पुरुषों पर सारे दिन ही काम सवार रहता है, उनके मन सड़े हुए हैं। मैं मानता हूँ ऐसे लोग लोक-कल्याण नहीं कर सकते। इन्सान की हालत आमतौर पर ऐसी नहीं होती। करोडो देहाती अगर सारे दिन इसी चीज का खयाल किया करें, तो वे किसी भी शुभ काम के लायक नहीं रह सकते[2]। (१३-७-'४७)

महात्मा गांधी के पांच प्रयोगों का विस्तृत वर्णन ऊपर आया है। इन प्रयोगों में स्त्रियों के साथ एक-स्थान में वास, एकशय्या-शयन, एकान्त भाषण और स्त्री-स्पर्श होते रहे। सर्दी की मौसम में महात्मा गांधी को कभी-कभी कंपन होने लगता। वह बड़े जोरों से होता और कुछ समय तक रहता। उस समय जो समीप में होते, वे महात्मा गांधी के शरीर को अपने शरीर से सटा कर रखते, जिससे कि उनके कांपते हुए

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ६२-६३

२—वही पृ० ६५-६६

शरीर को गर्मी पहुंच सके। ऐसे अवसरों पर बहनें भी होती[१]। प्रश्न हो सकता है—ऐसी स्थितियों में महात्मा गांधी को ब्रह्मचारी कहा जा सकता है या नहीं? ऐसा प्रश्न उठा। इस प्रश्न का उत्तर जैनी एकांतदृष्टि से नहीं दे सकता। महात्मा गांधी ने इन सारे प्रयोगों के अवसर पर अपनी मानसिक स्थिति को सम्पूर्णतः निर्विकार बतलाया है। उन्होंने कहा है—"पिता अपनी पुत्री का निर्दोष स्पर्श सब के सामने करे, उसमें दोष नहीं देखता। मेरा स्पर्श उस प्रकार का है[२]।" "इस व्यवहार के बीच अथवा उसके कारण कभी कोई अपवित्र विचार मेरे मन में नहीं आया।......मेरा आचरण कभी छिपा नहीं रहा है।......मेरा आचरण पिता के समान रहा है[३]।" "मेरे लिए तो इतनी सारी स्त्रियां बहिनें और बच्चियां ही थी[४]।" अगर महात्मा गांधी की मानसिक, वाचिक और कायिक स्थिति ऐसी ही थी तो कोई भी जैनी उन्हें अब्रह्मचारी कहने का साहस नहीं कर सकेगा। पर उनके मन में जरा भी मोह रहा होगा, अगर ये प्रवृत्तियाँ मोह-वश ही होती रही होंगी, तो महात्मा गांधी अपनी तुला में ही पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं ठहरेंगे। उन्होने स्वयं ही कहा था—"जिस बात की जाँच करना आवश्यक है, वह है मेरी मानसिक वृत्ति—वह ठीक है अथवा उसमें काम-वासना का अवशेष है[५]।" अगर उसमें "अज्ञातभाव से भी काम-वासना" का अवशेष रहा तो उन्हें ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकेगा।

स्थूलिभद्र ने कोशा गणिका के यहाँ चातुर्मास किया। स्पर्श और एक-शय्या-शयन से दूर रहे, पर जहाँ तक अन्य बाड़ों का प्रश्न था उनकी स्थिति वहाँ नहीं ही कही जा सकती है। रागवती वेश्या के घर में वास था। एकांत था। वेश्या अनुगा थी। षट्रसयुक्त भोजन था। सुन्दर महल था। वेश्या का सुन्दर रूप-दर्शन था। युवावस्था थी। वर्षाऋतु थी। मधुर संगीत था। नाना प्रकार का अनुनय-विनय था। ये सब होने पर भी स्थूलिभद्र दुष्कर, दुष्कर-दुष्कर, महा दुष्कर करनेवाले कहे गये हैं। महात्मा गांधी ने स्पर्श और एक-शय्या-शयन का प्रयोग किया। उन्होने स्थूलिभद्र से भी आगे का कदम उठाया। यदि कसौटी ठीक है, यदि स्थूलभद्र कई बाड़ों की अनवस्थिति में भी आत्मजय, मनजय के कारण आदर्श ब्रह्मचारी हो सके तो वैसी ही स्थिति में महात्मा गांधी ब्रह्मचारी नहीं हो सकते, ऐसा कोई भी जैनी नहीं कह सकता।

इस दिशा में सुदर्शन का प्रसंग भी एक प्रकाश देता है। सुदर्शन चम्पा नगरी के बारह व्रत धारी श्रावक थे। इस नगरी के अधिपति धात्रीवाहन राजा का मंत्री कपिल, सुदर्शन का मित्र था। उसकी पत्नी का नाम कपिला था। एक बार प्रसंग-वश सुदर्शन अपने मित्र कपिल के घर ठहरे। कपिला उसके सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो गयी। एक दिन कपिल घर पर नहीं थे। कपिला ने दासी के द्वारा सुदर्शन को कहलाया—"कपिल बीमार हैं और आप को याद कर रहे हैं।" मित्र के स्नेहवश सुदर्शन कपिल के घर पहुंचा। दासी उसे महल में ले गई। कपिला ने द्वार बन्द कर लिया और सुदर्शन से भोग की प्रार्थना करने लगी। सुदर्शन निर्विकार रहे। कपिला काम-विह्वल हो उनके शरीर से लिपट गई। फिर भी सुदर्शन निर्विकार रहा। कपिला बोली: "क्या आप में पुरुषत्व नहीं?" सुदर्शन बोले: "हाँ मैं नपुंसक हूं।"

मनोरमा के अतिरिक्त सब स्त्रियाँ सुदर्शन के लिए माँ-बहिन के समान थीं। वह वास्तव में उन सब के प्रति नपुंसक-से थे। कपिला उनसे दूर हुई। सुदर्शन घर लौटे।

एक बार राजा ने नगरी में वसन्त-महोत्सव रचा। सब का जाना अनिवार्य था। सुदर्शन की पत्नी मनोरमा भी अपने पुत्रों सहित उत्सव में उपस्थित हुई। महारानी अभया ने, मनोरमा के देवकुमार सदृश पुत्रों को देखकर दासी से पूछा—"ये पुत्र किस के हैं?" दासी ने कहा—"यह नगर के सुदर्शन सेठ के पुत्र हैं। मनोरमा इनकी माँ है"। अभया सुदर्शन के प्रति मोहित हो गई।

एक बार सुदर्शन चतुर्दशी के दिन पौषध कर रात्रि में श्मसान में ध्यानस्थ थे। रानी के कहने से धाय सुदर्शन को उसी अवस्था में उठा कर महल में ले आई। अभया सुदर्शन को आकर्षित करने लगी, पर वह तो मिट्टी के से पुतले बने रहे। वे अभया के समीप भी उसी तरह समाधिस्थ रहे, जैसे श्मसान में हों। अन्त में रानी कुपित हो चिल्लाने लगी—"बचाओ! बचाओ!! सुदर्शन मुझ पर अत्याचार कर

१—My days with Gandhi p. 201

२—पृ० ७३

३—पृ० ७४

४—पृ० ७५

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase p. 591

रहा है।" द्वारपालों ने सुदर्शन को कैद कर लिया। धात्रीवाहन राजा ने सुदर्शन को शूली पर चढ़ाने का आदेश दिया। सुदर्शन शांत रहे। नमुक्कारमंत्र का ध्यान करने लगे। शूली सिंहासन के रूप में परिणत हुई।

इसके बाद सुदर्शन धर्मघोष स्थविर के उपदेश से गृह-त्याग कर मुनि हुए। अब एक दवदंती नामक वेश्या मुनि सुदर्शन के रूप पर मोहित हो गयी। उसने श्राविका का रूप बनाया। मुनि सुदर्शन आहार के लिए उसके घर आये। वेश्या ने गृह-द्वार बन्द कर लिया और मुनि को अपने वश में करने का प्रयत्न करने लगी। मुनि उस सुन्दरी वेश्या के सम्मुख भी निर्विकार रहे। वेश्या ने आखिर उन्हें छोड़ दिया। मुनि सुदर्शन ने अपनी साधना से मोक्ष-प्राप्त किया[१]।

महात्मा गांधी ने जितने गुण ब्रह्मचारी के बतलाये हैं, वे सारे के सारे सुदर्शन में देखे जाते हैं। उनमें नपुंसकत्व की सिद्धि थी। वे ऐसी स्थिति में आ गये जब स्पर्शादि की बाड़ें स्वयं नहीं रहीं, फिर भी अपनी मानसिक, वाचिक और शारीरिक स्थिति के कारण वे ब्रह्मचारी के आदर्श उदाहरण समझे जाते हैं।

स्थूलिभद्र और सुदर्शन की स्तुति में कवियों की लेखनी झंकृत हो उठी :

न दुक्करं अंबयलुंबतोडणं, न दुक्करं सिरसव नच्चिआए।
तं दुक्करं तं च महानुभावं, जं सो मुणी पमयवणंमि वुच्छो॥
गिरौ गुहायां विजने वनान्तरे, वासं श्रयंतो वशिनः सहस्रशः।
हर्म्यति रम्ये युवतीजनांतिके, वशी स एकः शकडालनंदनः॥
श्रीनंदीषेणरथनेमिमुनीश्वरार्द्रं, बुद्धया त्वया मदन रे मुनिरेष दृष्टः।
ज्ञातं न नेमिजंबूसुदर्शनानाम्, तुर्यो भविष्यति निहत्य रणांगणे माम्॥
श्रीनेमितोपि शकडालसुतं विचार्य, मन्यामहे वयममुं भटमेकमेव।
देवोऽद्रिदुर्गमधिरुह्य जिगाय मोहं, यन्मोहनालयमयं तु वशी प्रविश्य॥

महात्मा गांधी ने स्वयं अपने लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न की जिसमें बाड़ें नहीं रही। अगर उनकी स्थिति बहिनों के सम्पर्क में भी विशुद्ध रही तो स्थूलिभद्र और सुदर्शन की तरह वे भी ब्रह्मचारी क्यों न कहे जा सकेंगे? यह एक प्रश्न है जिस पर जैनियों को गंभीर विचार करना है।

मुनि स्थूलिभद्र ने आचार्य संभूतिविजय से वेश्या के यहाँ चातुर्मास करने की आज्ञा ली। स्थूलिभद्र का यह प्रयोग इस बात का प्रमाण बन गया कि ब्रह्मचर्य की साधना में एक मुनि कितना आगे बढ़ा हुआ हो सकता है। महात्मा गांधी के स्वप्रयोग भी इसी दृष्टि से थे। वह इस बात की खोज में थे कि 'संयम धर्म कहाँ तक जा सकता है[२]'।

जैसे स्थूलिभद्र का प्रयोग उनके गुरुभाई सिंहगुफावासी मुनि के लिए एक धर्म के रूप में नहीं हुआ था और उनके अनुकूल नहीं पड़ा, वैसे ही महात्मा गांधी ने भी कहा था : "निर्दोष स्पर्श की छूट लेना कोई स्वतंत्र धर्म नहीं[३]।

मुनि स्थूलिभद्र और महात्मा गांधी के दृष्टान्त केवल इसी दृष्टि से अनुकरणीय हैं कि मनुष्य को अपने ब्रह्मचर्य की आराधना में कितना दृढ़ होना चाहिए और कितनी ऊंचाई तक पहुंचा हुआ होना चाहिए। वे इस बात का आदर्श नहीं रखते कि सब को ऐसा करना चाहिए। महात्मा गांधी अपने प्रयोगों में रहे हुए खतरों से अच्छी तरह अवगत थे। उनके निम्न शब्द हर समय साधक के कानों में गूंजते रहने चाहिए : "स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर सम्बन्ध की मर्यादा होनी ही चाहिए। छूट में जोखम है, इसका मैं रोज प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ। जो कोई विकार के वश होकर निर्दोष से निर्दोष लगनेवाली भी छूट लेता है, वह खुद खाई में गिरता है और दूसरों को भी गिराता है[४]।" "मेरे उदाहरण का

१—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर ख० २, रत्न १९, पृ० ६२१ से ६९६

२—पृ० ७२

३—वही

४—पृ० ७२

कभी यह अर्थ नहीं कि उसका चाहे जो अनुसरण करने लग जाय[1] ।"

आचार्य तुलसी ने अनुभव-वाणी में कहा है : "सभी स्त्रियों को माता की दृष्टि से देखें। माता पूज्य होती है। उसमें विकार की दृष्टि नहीं बनती[2] ।" 'मातृस्वसृसुतातुल्यं दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकरूपकम्—ब्रह्मचर्य-पालन में सबसे बड़ी चीज स्त्रीमात्र में माता, बहिन और पुत्री-भाव का साक्षात्कार करना है। महात्मा गांधी के अनुसार उन्होंने ऐसी भावना को सम्पूर्णरूप से उत्पन्न कर लिया था। अतः असाधारण प्रयोगों में भी वे सम्पूर्ण निर्दोष रह सके, ऐसा उनका स्वयं का आत्मनिरीक्षण उन्हें कहता था।

गांधीजी के बाड़ विषयक विचार ऊपर में विस्तार से दिये गये हैं। उनमें—"ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित नौ बाड़ों की जो रूढ़िगत कल्पना है, वह मेरे विचारों से अपर्याप्त और दोषपूर्ण है। मैंने अपने लिए कभी इसे स्वीकार नहीं किया। मेरे मत से इन बाड़ों की आड़ में रह कर सच्चे ब्रह्मचर्य का प्रयत्न भी संभव नहीं" (पृ० ८८), "मुझे लगता है कि जो ब्रह्मचारी बनने की सच्ची कोशिश कर रहा है, उसे भी ऊपर बताई हुई मर्यादाओं की जरूरत नहीं" (पृ० ८७), जैसे वाक्य मिलते हैं। ऐसे वाक्यों को एक बार दूर रखा जाय तो देखा जायगा कि आरंभ से अन्त तक महात्मा गांधी बाड़ों की आवश्यकता का ही प्रतिपादन कर सके हैं, उनके खण्डन का नहीं। उन्होंने समय-समय पर वैसे ही नियम बतलाये हैं जो जैन धर्म की बाड़ों में मिलते हैं।

सन् १९३२ में महात्मा गांधी ने कहा : "ब्रह्मचारी की अपनी व्याख्या का अर्थ ……पूरी तरह स्पष्ट तो आज भी नहीं हुआ।…जब मैं उस स्थिति में (निर्विकार स्थिति में) पहुंच जाऊंगा, तब इसी व्याख्या को नयी आंखों से देखूंगा[3] ।"

सन् १९४२ में उन्होंने लिखा : "मैंने ब्रह्मचर्य-पालन का व्रत १९०६ में लिया था, अर्थात् मेरा इस दिशा में छत्तीस वर्ष का प्रयत्न है।……मेरे कितने ही प्रयोग समाज के सामने रखने की स्थिति को प्राप्त नहीं हुए। जहाँ तक मैं चाहता हू, वहाँ तक वे सफल हो जायं तो मैं उन्हें समाज के आगे रखने की आशा रखता हूं। क्योंकि मैं मानता हूं कि उनकी सफलता से पूर्ण ब्रह्मचर्य शायद प्रमाण में कुछ सहज बन जाय[4] ।"

महात्मा गांधी के इस दिशा के प्रयोग कौन-से थे और उनमें वे पूर्ण सफल हुए या नहीं, खोज करने पर भी इसका पता नहीं लग सका। ब्रह्मचर्य प्रमाण में कुछ सहज बन जाय, ऐसा कोई नया नियम उनकी ओर से सामने नहीं आया। क्योंकि उन्होंने ब्रह्मचर्य-पालन के लिए वही नियम अन्त तक बतलाये, जो उन्होंने शुरू-शुरू में बतलाये थे। उनके सन् १९४७ में बतलाये हुए नियम वे ही हैं, जो उन्होंने सन् १९२० में बतलाये।

ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थानों का जैसा सुव्यवस्थित रूप जैन धर्म में मिलता है, वैसा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं है। गांधीजी द्वारा बताये हुए नियम भगवान महावीर द्वारा वर्णित समाधि-स्थानों से जरा भी भिन्न नहीं और न कोई नयी बात सामने रखते हैं।

महात्मा गांधी कहते हैं—"मैं उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहता जिसका अर्थ है—स्त्री का स्पर्श न करना।" "स्त्री का स्पर्श न करना ब्रह्मचर्य है"—ब्रह्मचर्य की ऐसी परिभाषा जैन आगम अथवा अन्य ग्रंथों में नहीं मिलती। जैन धर्म में कहा गया है कि स्त्री-स्पर्श न करने से ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है। पर ऐसा नहीं कहा गया है कि स्त्री-स्पर्श न करना ही ब्रह्मचर्य है। जब साधक पूछता है कि ब्रह्मचर्य-पालन की सुगमता के लिए मेरा रहन-सहन कैसा हो, तब ज्ञानी गुरु कहते हैं—वह स्त्री-संसर्ग आदि का वर्जन करता हुआ रहे :

१—साधक स्त्री-संसक्त, नपुंसक-संसक्त, पशु-संसक्त स्थान में रहनेवाला न हो।

२—वह शृंगार-पूर्ण विकारी स्त्री-कथा करनेवाला न हो।

३—एक शय्या, आसन आदि का सेवन करनेवाला न हो।

४—स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियादि की ओर ताकनेवाला न हो।

५—प्रणीतभोजी न हो।

१—पृ० ७४

२—पथ और पाथेय पृ० ४०

३—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४१

४—आरोग्य की कुंजी पृ० ३२

६—अतिमात्रा में आहार करनेवाला न हो।

७—पूर्व रति, क्रीडाओं का स्मरण करनेवाला न हो।

८—शब्दानुपाती, रूपानुपाती और श्लोकानुपाती न हो।

९—सुखाभिलाषी न हो।

१०—शरीर-विभूषा करनेवाला न हो[1]।

महात्मा गांधी ने भी प्रश्नकर्त्ताओं को ठीक ऐसे ही उत्तर दिये हैं, जो उद्धृत अंशों में जगह-जगह प्राप्त हैं। महात्मा गांधी के चिन्तन स्वयं अस्थिर से लगते हैं। कभी उन्होने बाड़ों की अत्यन्त आवश्यकता महसूस करते हुए उनके पालन पर अत्यन्त बल दिया और कभी जब उन्होने स्वतंत्र प्रयोग किये और आलोचना हुई तब बाड़ों की निरर्थकता पर काफी जोर दिया। कभी साधक के लिए उन्हें जरूरी माना और कभी उसके लिए भी उनकी जरूरत न होने की बात कह दी।

ऐसा होते हुए भी महात्मा गांधी बाड़ों का खण्डन नहीं कर पाये। पर उन्होने स्वयं वही बाड़ें दी हैं, जो श्रमण भगवान महावीर ने दीं। नीचे तुलनात्मक तालिका दी जाती है, जिससे यह बात स्पष्ट होगी :

१—ब्रह्मचारी स्त्री-नपुंसक-पशु-संसक्त स्थान में न रहे।	१—पति और पत्नी को अलग-अलग कमरों में रहना चाहिए[2]। ...अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए[3]।
२—वह मोहोत्तेजक स्त्री-कथा न करे, एकान्त में स्त्री के साथ बात न करे।	२—यदि साथ-साथ बातें करने में विकार पैदा हों तो बातें नहीं करनी चाहिए[4]।
३—वह स्त्री के साथ एक शय्या, एक आसन पर न बैठे।	३—पति-पत्नी को एकांत से बचना चाहिए[5]। उन्हें एक-दूसरे के साथ एकान्त-सेवन नहीं करना चाहिए। एक कोठरी में एक चारपाई पर नहीं सोना चाहिए[6]।
४—वह स्त्री की मनोहर इन्द्रियों पर टकटकी न लगाये।	४—आँखें दोष करती हों तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिए।... आँखों को सदा नीची रखकर चलने की रीति अच्छी है[7]।
५—वह कामुक शब्दों को न सुने।	५—अनेक...ब्रह्मचर्य-पालन में हताश हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे श्रवण, दर्शन...भाषण आदि की मर्यादाएँ नहीं जानते[8]।...कान दोष करें तो उनमें रूई भर लेनी चाहिए। जहाँ गन्दी बातें हों या गन्दे गीत गाये जा रहे हों, वहाँ से तुरन्त रास्ता लेना चाहिए[9]।

१—(क) देखिए पृ० १२६

(ख) उपदेशमाला गा० ३२४-३२६ :

इत्थिपसुसंकिलिट्ठं, वसहिं इत्थीकहं च वज्जंतो। इत्थिजणसंनिसिज्जं, निरूवणं अंगुवंगाणं॥
पुव्वरयाणुस्सरणं, इत्थीजणविरहरूवविलवं च। अइबहुअं अइबहुसो, विवज्जंतो अ आहारं॥
वज्जंतोअ विभूसं, जइज्ज इह बंभचेरगुत्तीसु। साहु तिगुत्तिगुत्तो, निहुओ दंतो पसंतो अ॥

२—अनीति की राह पर पृ० ५५

३—देखिए पीछे पृ० ६२

४—देखिए पीछे पृ० ६५

५—अनीति की राह पर पृ० ५५

६—देखिए पीछे पृष्ठ ६५

७—देखिए पीछे पृ० ६२

८— " पृ० ६५

९— " पृ० ६२

६—वह पूर्व क्रीड़ा का स्मरण न करे।	६—जो शरीर को तो वश में रखता हुआ जान पड़ता है पर मन में विकार का पोषण करता, वह मूढ़ मिथ्याचारी है।... जहाँ मन होता है वहाँ शरीर अन्त मे घसिटाए बिना नहीं रहता[१]।
७—वह विषयवर्द्धक गरिष्ट आहार का वर्जन करे	७—दूध का आहार ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नकारक है, इस विषय में मुझे तनिक भी शका नहीं है[२]। मेरी अपनी राय यह है कि जो अपने विकारों को शान्त करना चाहता हो, उसे घी-दूध का इस्तेमाल थोड़ा ही करना चाहिए······विकारोत्तेजक वस्तुएँ खाने-पीनेवाले को तो ब्रह्मचर्य निभा सकने की आशा ही न रखनी चाहिए[३]। ब्रह्मचारी को मिर्च-मसाले जैसी गरमी और उत्तेजना पैदा करनेवाले और मिठाइयाँ, तली-भुनी चीजों जैसे पाचन में भारी पड़नेवाले पदार्थों से परहेज करना चाहिए[४]।
८—वह अति आहार न करे	८—मित आहारी बनिए, सदा थोड़ी भूख रहते ही चौके पर से उठ जाइए[५]। ब्रह्मचारी मित आहारी नहीं किन्तु अल्पाहारी होना चाहिए[६]।
९—वह शरीर-विभूषा और शृंगार को दूर रखे	९—पुरुष के आगे अपनी देह की सुन्दरता दिखाना क्या उसे पसन्द होगा ?
१०—पांचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन से दूर रहे	१०—पहला काम है ब्रह्मचर्य की आवश्यकता को समझ लेना। दूसरा काम है इन्द्रियों को क्रमशः वश में लाना। ब्रह्मचारी को (क) अपनी जीभ को तो वश मे लाना ही चाहिए। उसे जीने के लिए खाना चाहिए—रसना-सुख के लिए नहीं, (ख) आँख से वही चीजें देखनी चाहिए जो शुद्ध निष्पाप हों, गन्दी चीजोंकी ओर से उसे अपनी आँखें बन्द कर लेनी चाहिए। निगाह निची कर के चलना—उसे इधर-उधर नचाते न रहना शिष्ट संस्कारवान होने की पहिचान है (ग) ब्रह्मचारी को अश्लील बातें सुनने और (घ) नाक-से तीव्र उत्तेजक गंध सूघने से भी परहेज रखना होगा। (ङ) अपने हाथ-पैरों को किसी-न-किसी अच्छे काम में लगाये[७]। ...कान से विकारी बातें सुनना, आँख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारनेवाली चीज को छूना और फिर भी जननेन्द्रिय रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डाल कर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है[८]।

१—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ८
२—आत्मकथा ३.८
३—अनीति की राह पर पृ० १३६
४—वही पृ० ५५
५—वही पृ० ११०
६—पृ० ६५
७—अनीति की राह पर पृ० ७२
८—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ७

महात्मा गांधी ने कहा है कि साधक अपनी बाड़ें खुद बना लें। इसमें जैन धर्म का मतभेद नहीं। ब्रह्मचर्य की समाधि के लिए जो दस नियम दिये गये हैं, वे अन्तिम संख्या के सूचक नही हैं। आगमों में स्पष्ट उल्लेख है कि—जो भी ब्रह्मचर्य में विघ्न डालनेवाली बातें हैं, उनका ब्रह्मचारी वर्जन करे[१]।

महात्मा गांधी ने सूत्ररूप में कही हुई बाड़ों के अध्याहारों को पूरे रूप से जाने बिना ही उनके त्रुटित रूप को उपस्थित कर उनकी आलोचना की है।

भगवान महावीर ने संघ में श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका—इन चारों को स्थान दिया। हजारों वर्षों से यह संघ-पद्धति चली आ रही है। श्रमण, श्रमणियों अथवा गृहस्थ बहिनों का स्पर्श नहीं करते और न श्रमणियाँ अथवा गृहस्थ बहनें श्रमणों का। फिर भी संघ में सेवा-कार्य अबाध रूप से चलता रहा है। परस्पर वैयावृत्त्य करते हुए भी स्पर्श की आवश्यकता ही नहीं आती। सेवा के लिए स्पर्श आवश्यक होगा ही, ऐसी कोई बात नहीं। महात्मा गांधी ने जो प्रयोग किये, वे स्वयं स्पर्शमूलक रहे। वे सेवा के लिए स्पर्श के प्रसंग के नहीं। कंधो का सहारा लेना, नग्न अवस्था में बहिनों से सर्व-अङ्ग स्नान करना, एक शय्या पर सोना, सेवा के लिए स्पर्श नहीं, पर स्पर्शमूलक प्रवृत्तियाँ हैं। कौन कह सकता है कि स्वयं मोहमूलक न हों?

श्रमण, श्रमणियों का आदर्श है कि वे एक दूसरे का स्पर्श नही करते, पर शुद्ध सेवा के अवसर पर एक दूसरे का स्पर्श नहीं करता, ऐसा महावीर अथवा उनकी बाड़ो का विधान ही नहीं। वास्तविक वैयावृत्त्य की स्थितियो के अतिरिक्त, जैन धर्म में श्रमण-श्रमणी का परस्पर स्पर्श पिता-पुत्री, माता-पुत्र, भाई-बहिन मे भी निरपवाद वर्जित रहा।

बृहत्कल्प सूत्र में निम्न सूत्र मिलते हैं :

१— यदि निर्ग्रंथ के पैर में कीला, काँटा, कांच का टुकड़ा या कंकड़ गड़ गया हो और वह गड़कर टूट गया हो और वह स्वयं उसे निकालने में अथवा समाप्त करने में असमर्थ हो, तो उसे निकालती हुई अथवा विशोधन करती हुई निर्ग्रंथी तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती ॥ ३ ॥

२—यदि निर्ग्रंथ की आँख में कोई जीव, बीज या रज पड़ जाय और वह उसे स्वयं निकालने में अथवा विशोधन करने में असमर्थ हो, तो उसे निकालती हुई अथवा विशोधन करती हुई निर्ग्रंथी तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती ॥ ४ ॥

३—यदि निर्ग्रंथी के पैर में कील, काँटा, काँच या कंकड गड़ गया हो और गड़ कर टूट गया हो और वह स्वयं उसे निकालने में या विशोधन करने में असमर्थ हो, तो उस कांटे को निकालता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ ५ ॥

४—यदि निर्ग्रंथी की आंख में कोई जीव, बीज या धूलि पड़ जाय और वह उसे स्वयं निकालने में या विशोधन करने में असमर्थ हो तो उसे निकालता हुआ अथवा विशोधन करता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ६ ॥

५—यदि निर्ग्रंथी दुर्ग—कठिन, विषम—ऊँचे-नीचे अथवा पर्वतीय स्थानों में चल रही हो और वह गति के स्खलन से गिर रही हो या गिरनेवाली हो, तो ऐसी स्थिति में अपनी भुजाओ से उसके अंग को पकड़ता हुआ या उसकी भुजा अथवा सम्पूर्ण शरीर को पकड़ कर उसे अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ७ ॥

६—यदि निर्ग्रंथी जल-सीकरो से युक्त जलाशय में, पंक में, ढीले कीचड़वाले जलाशय में, उदक की प्रतीति होनेवाले जलाशय में डूब रही हो तो ऐसी स्थिति में उसको पकड कर अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ ८ ॥

७—जिस समय निर्ग्रंथी नाव में चढ़ रही हो या नाव से उतर रही हो उस समय उसे पकड़ता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ९ ॥

८—निर्ग्रंथी के क्षिप्त-चित्त होने पर उसे ग्रहण करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १० ॥

९—यदि निर्ग्रंथी दीप्तचित्ता—लाभादि के मद से परवशीभूत हृदय हो गई हो तो उसे ग्रहण करता—पकड़ता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ११ ॥

१—उत्तराध्ययन १६.१४ : संकाथाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं

१०—निर्ग्रन्थी के यक्षाविष्ट होने पर उसे ग्रहण करता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १२ ॥

११—उन्मादप्राप्ता निर्ग्रन्थी को पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १३ ॥

१२—उपसर्ग को प्राप्त हुई निर्ग्रन्थी को पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १४ ॥

१३—यदि निर्ग्रन्थी साधिकरण—क्लेशपूर्ण स्थिति में हो तो उसे पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १५ ॥

१४—प्रायश्चित्त के आ जाने पर ग्लाना या विषण्णवदना निर्ग्रन्थी को पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १६ ॥

१५—भात—अन्न-पानी का प्रत्याख्यान करनेवाली निर्ग्रन्थी (यदि मूर्च्छित हो रही हो) को पकड़ता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १७ ॥

१६—यदि अर्थजात—द्रव्य से उत्पन्न होनेवाले कारणों से निर्ग्रन्थी मूर्च्छित हो जाय तो उस स्थिति में उसे ग्रहण करता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरों की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १८ ॥

पाठक देखें कि जैन-धर्म का वाड़-विधान शुद्ध सेवा-कार्य के अवसर उपस्थित होने पर उनसे पराङ्मुख होना नहीं सिखाता। विकट स्थितियों में श्रमण-श्रमणी भी निर्विकार भाव से एक दूसरे के स्पर्श-प्रसंगों में भाग ले सकते हैं। पर ऐसी स्थितियाँ जीवन में थोड़ी ही होती हैं। ऐसी परिस्थितियों को छोड़ कर स्पर्श-वर्जन सार्वजनिक और सर्वकालिक नियम रहा है, उसमें कोई दोष नहीं बता सकता।

गृहस्थ-जीवन में जहाँ माता-पुत्र, भाई-बहिन जैसे सम्बन्ध हैं, वहाँ अनिवार्य आवश्यक स्पर्श मर्यादा के साथ हर समाज में स्वीकृत है। उपर्युक्त सम्बन्धों में परिचर्या आदि की आवश्यकतावश निर्विकार स्पर्श किसी भी समाज में गृहस्थों के मर्यादित ब्रह्मचर्य का उल्लंघन नहीं माना गया है।

महात्मा गांधी की यह दलील भी ठीक नहीं कि पुत्र अपनी माँ के पैर दबा सकता है, वैसे ही निर्विकार अवस्था में वह स्त्री-मात्र का स्पर्श करे तो दोष नहीं। निर्विकार स्पर्श अपने आप में कोई दोष नहीं पर स्त्री-पुरुषों में ऐसे निर्विकार स्पर्श का प्रचलन भी हितावह नहीं हो सकता। वह विषैला अङ्कुर है, जो विष-वृक्ष के रूप में ही पल्लवित हो सकता है, अमृत-फल के वृक्ष के रूप में नहीं।

महात्मा गांधी के स्पर्श-मूलक प्रयोगों पर निर्विकार पुत्र का माता के पैर दबाने का उदाहरण लागू नहीं पड़ता।

२३-महात्मा गांधी बनाम मशरूवाला

महात्मा गांधी ने बाड़ों के सम्बन्ध में विचार देते हुए लिखा है : "संसार से नाता तोड़ लेने पर ही ब्रह्मचर्य प्राप्त हो सकता है, तो इसका कोई मूल्य नहीं है।" "ब्रह्मचर्य का यह अर्थ नहीं कि मैं स्त्री-मात्र का, अपनी बहिन का भी स्पर्श न करूँ,......मेरी बहिन बीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण उसकी सेवा करने से हिचकिचाना पड़े, तो वह ब्रह्मचर्य कौड़ी काम का नहीं।" "मैं उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहता, जिसका अर्थ है—स्त्री का स्पर्श न करना।" "जिसे रक्षा की जरूरत हो, वह ब्रह्मचर्य नहीं।" "मेरा यह विश्वास कभी नहीं रहा कि ब्रह्मचर्य का उपर्युक्त रूप में पालन करने के लिए स्त्रियों के किसी भी तरह के संसर्ग से बिल्कुल बचना चाहिए।" पाठक देखेंगे कि यहाँ संसक्त-शय्या परिहार, स्त्री-संग परिहार, एकशय्यासन वर्जन—ये बाड़ें विकृत रूप में अवतरित हुई हैं और ऐसी परिस्थिति में उनकी आलोचना भी बेबुनियाद-सी बन गई हैं।

महात्मा गांधी ने उपर्युक्त वाक्यों में बाड़ों की जो आलोचना की है, उस विषय में मशरूवाला का चिन्तन भी सामने आ जाना आवश्यक है। उन्होंने स्त्री-पुरुष-मर्यादा और स्पर्श-मर्यादा पर चिन्तनपूर्ण विचार दिये हैं। हम नीचे उनके कई लेखों का सारांश उपस्थित करते हैं :

१—"क्या समाज में और क्या संस्थाओं में, स्त्री-पुरुष के बीच अनैतिक या नाजुक सम्बन्ध पैदा होने के उदाहरण हम बहुत बार सुनते हैं। ......यह शायद आसानी से कहा जा सकता है कि आजकल की भोग-विलास की प्रेरणा देनेवाली जीवन-पद्धति तथा स्त्रियों और पुरुषों को परस्पर सहवास के अधिक अवसर देनेवाली प्रवृत्तियाँ इसमें बहुत ज्यादा वृद्धि कर रही हैं।......

"अपने सामने पवित्र जीवन का आदर्श रखनेवाले और उसके लिए बहुत प्रयत्नशील रहनेवाले अनेक स्त्री-पुरुषों के जीवन में भी अनैतिक सम्बन्ध पैदा होने के किस्से सुने गये हैं। ईश्वर की कृपा से मैं आज तक ऐसी स्थिति से बच सका हूँ। अपने चित्त की परीक्षा करते हुए मैं ऐसा

बिलकुल नहीं मानता कि मेरे दिल में ईश्वर ने कोई विशेष प्रकार की पवित्रता रख दी है और उसकी वजह से मैं बच गया हूं। मुझमें भी साधारण पुरुष की तरह ही विकार भरे हैं, और उनके साथ मुझे हमेशा झगड़ा जारी ही रखना पड़ता है।

"फिर भी, हम जिन्हें अनैतिक या अपवित्र सम्बन्ध मानते हैं, वैसे सम्बन्धों से मैं और जहां तक जानता हूं, मेरे परिवार के बहुत से लोग आज तक बचे हुए हैं। ईश्वर की कृपा के अलावा मैं एक ही कारण मानता हूं। और वह है सदाचार के स्थूल नियमों का पालन।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा विजने तु वयःस्थया।
अनापदि न तैः स्थेयं.................... ॥

"जवान मां, बहन या लडकी के साथ भी आपत्काल के बिना एकान्त में नहीं रहना चाहिए—शिक्षापत्री का यह सूत्र हमें बचपन से ही रटाया गया था। और मेरे पिताजी तथा भाइयों के जीवन में जिसका पालन करने और कराने का आग्रह मैं बचपन से देखता रहता था।

"स्त्री-पुरुष आपस में आजादी से हिलें-मिलें, एक दूसरे के साथ अकेले घूमें-फिरें, एकान्त में भी बैठें और फिर भी उनमें विकार पैदा न हो या वे नाजुक स्थिति में न फंसें, तो उसे मैं केवल ईश्वरीय चमत्कार ही समझूंगा। ऐसे चमत्कार कदम-कदम पर नहीं हो सकते। सैंकड़ों बरसों में कोई एक स्त्री या पुरुष भले ही ऐसा पैदा हो। लेकिन मैं हर किसी के बारे में तुरन्त ऐसी श्रद्धा नहीं कर लेता; और ऐसा दावा करने वाले हर किसी के शब्दों पर विश्वास भी नहीं करता। कोई मनुष्य बड़ा ब्रह्मनिष्ठ और योगीराज माना जाता हो और मुझसे कोई यह सलाह पूछे कि उसके निर्विकारी होने के दावे पर विश्वास किया जाय या नहीं, तो मैं पूछनेवाले से यही कहूंगा कि विश्वास न करने से उसकी या आपकी कोई हानि न होगी।

"इस विषय में स्त्री के बनिस्बत पुरुष की स्थिति को ज्यादा संभालने की जरूरत होती है। कोई पुरुष ५० वर्ष तक विकारों से बचा रहा हो, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि अब वह सुरक्षित हो चुका है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि ७० वें वर्ष में भी विकारों का शिकार होने का भय उसे नहीं रहेगा। इसलिए अगर कोई यह कहे कि अब मुझे पर स्त्री या पुरुष के साथ एकान्तवास न करने के स्थूल नियमों का पालन करने की जरूरत नहीं रही, तो मुझे यह शंका हुए बिना नहीं रहेगी कि वह ढोंग करता है।

"इन स्थूल नियमों का सख्ती से पालन करने का संस्कार मुझ पर पड़ा है, और मुझे लगता है कि इसी कारण से मैं आज तक किसी विषम परिस्थिति में फंसने से बच सका हूं।

".........एकान्त-वास का अर्थ अधिक समझने की जरूरत है। जवान स्त्री-पुरुषों के बीच खानगी और लम्बे पत्र-व्यवहार का सम्बन्ध भी एकान्त-वास की ही गरज पूरी करता है, और उसी में स्थूल एकान्त-वास उत्पन्न होता है।

"आधुनिक जीवन में दूसरे भी बहुत से भयस्थान बढ़ गये हैं। ये भयस्थान एकान्त-वास से उलटे ढंग के अर्थात् अति-सहवास के होते हैं। अनेक प्रकार के कामकाज और शहरी जीवन के कारण कभी अनजान में, कभी अनिवार्यरूप में और कभी अचानक स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे के अंगों का स्पर्श हो जाता है। रेलगाड़ियों में, मोटरों में, सभाओं में, रास्तों में एक दूसरे से सटकर बैठना पड़ता है, चलना पड़ता है, बातचीत करनी पड़ती है; शिक्षकों को लड़कियों या बालाओं को पढ़ाना होता है—और ये सब दोनों के लिए भयस्थान हैं। इन सब परिस्थितियों में जो अपनी पवित्रता के लिए आवश्यकता से अधिक अभिमान करता है, वह गिरता ही है; जो जाग्रत रहता है, ऐसे अवसरों को सुखरूप नहीं बल्कि आपत्ति-रूप समझता है और यह मनोवृत्ति रखता है कि पास आने के बजाय यथासंभव इनसे इंच भर भी दूर रहा जाय, वही ईश्वर की कृपा से बच सकता है।

"जहां-जहां हम ऐसे दोष पैदा होने की बात सुनते हैं, वहां-वहां यह देखने में आयेगा कि दोष पैदा होने से पहले ऊपर के स्थूल नियमों के पालन में लापरवाही, उन नियमों के लिए थोड़ा-बहुत अनादर, अपनी संयम-शक्ति पर झूठा विश्वास और बहुत बार अनावश्यक स्त्री-दाक्षिण्य (Chivalry) थे ही।

"जिसे स्वयं जिन दोषों से बचना हो और समाज का—खास करके भोली बालाओं का—बचाव करना हो, वह इन नियमों का अक्षरशः पालन करे। यही राजमार्ग है।

"जब-जब मेरे जीवन में स्त्रियों और बढ़ती हुई उमर की लड़कियों को पढ़ाने का मौका आया है, तब-तब मैंने सदा इस बात का ध्यान रखा है और आज भी रखता हूं, कि मेरी पत्नी मेरे पास मौजूद रहे या कई स्त्रियां साथ में हों और मैं ऐसी खुली जगह में बैठकर पढ़ाऊं, जहां

मुझे मालूम हुए बिना हर कोई आ सके। यह चीज मैंने अपने पिताजी और बड़े भाई से सीखी है। स्त्रियों के साथ एक आसन पर सटकर बैठने की बात मुझे आधुनिक जीवन में निभा लेनी पड़ती है, किन्तु, अच्छी बिलकुल नहीं लगती। अपने भाइयों की जवान लड़कियों का भी आशीर्वाद के बहाने मैं जान बूझकर अंग-स्पर्श नहीं करता या नहीं होने देता। यदि कोई स्त्री लापरवाही से अथवा आजकल जैसी स्वतंत्रता ली जाती है, उसे निर्दोष मानकर मेरे पास आकर बैठ जाती है तो मुझे दुःख होता है। ऐसा बर्ताव आज के जमाने में 'अति-मर्यादी' (Ultra-Puritan) समझा जाता है, यह भी मैं जानता हूँ। लेकिन इसमें मैंने अपनी और समाज की दोनों की रक्षा मानी है[१]।

"......मैंने अपने को कभी पूरी तरह सुरक्षित नहीं माना; विशेष मनोबलवाला नहीं माना। वेदान्त-निष्ठा से सुरक्षित रहा जाता है, ऐसा मैं नहीं मानता। इस अभिमान से गिरने और फिसलनेवालों के उदाहरण मैंने बहुत देखे हैं। ईश्वर की कृपा से, बड़े-बूढ़ों के दिये हुए सस्कारों से और ऊपर बताये गये स्थूल नियमों के पालन से ही मैं अभी तक बच रहा हूं, ऐसा मैं मानता हूं। और इसी के बल पर आगे भी बचे रहने की आशा रखता हू[२]।" (२३-९-'३४)

२—"जहाँ तक मैं जानता हूँ हिन्दुस्थान में—हिन्दू और मुस्लिम दोनों समाजों में—जो सदाचार-धर्म माना गया है, वह जवान मां, बहन और बेटी को पर स्त्री की कोटि में ही रखता है और दूसरे की स्त्री के साथ व्यवहार करने में जो मर्यादायें पालनी चाहिए, उन्हीं को इनके साथ के व्यवहार में भी पालने की सूचना करता है। मैंने हिन्दू-आदर्श को इस तरह समझा है कि पर स्त्री को मां, बहन या बेटी के समान मानना चाहिए और मां, बहन या बेटी के साथ भी एक खास उमर के बाद मर्यादायुक्त व्यवहार ही करना चाहिए। इस तरह वह सभी स्त्रियों के साथ एक-सा व्यवहार करने का आदेश देता है।

"यह बात विचारने जैसी है कि मां, बहन या बेटी को भी इस तरह दो हाथ दूर रखने की प्रथा का खण्डन आवश्यक और उचित है या नहीं, धर्म और समाज के सुधार के लिए आवश्यक है या नहीं। एकाध लोकोत्तर विभूति का व्यवहार इस प्रथा के बन्धन से परे हो, यह दूसरी बात है। उसकी लौकिक या लोकोत्तर विशेषता के कारण समाज उसमें कोई दोष न मान कर उसे सहन कर लेता है। लेकिन 'दोष न मानने' का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि करोड़ों मनुष्यों में एकाध के लिए सदा अपवाद रहता ही है[३]। लेकिन अगर सभी मनुष्य उस प्रथा को तोड़ें, तो समाज सहन नहीं करेगा ; यानी उनकी निन्दा किए बिना नहीं रहेगा। इसलिए, इस विचार के साथ मेरा बहुत विरोध नहीं है कि किसी विरले पवित्र व्यक्ति के लिए इसका अपवाद हो सकता है[४]। लेकिन जो पिता अपनी मां, बहन या बेटी का निकट से स्पर्श करने में—उदाहरण के लिए कंधे पर हाथ रखकर चलने में—संकोच रखता है, वह संकुचित मनोवृत्तिवाला है, ऐसा कहा जाय तो यह मुझे ग्राह्य नहीं लगता।

१—२७ जुलाई, १९४७ के 'हरिजनबन्धु' में 'पुराने विचारों का बचाव' नाम से गांधीजी ने एक पत्र छापा था। उसमें पत्र लेखक मेरा उल्लेख करके लिखते हैं कि ये तो "यहाँ तक कहते हैं कि स्त्री-पुरुष को एक चटाई पर नहीं बैठना चाहिए।"

इस पर गांधीजी लिखते हैं : "अगर यह सच है कि जिस चटाई पर कोई स्त्री बैठी हो, उस पर किशोरीलाल भाई न बैठें तो मुझे आश्चर्य होगा। मैं ऐसी पाबन्दी को नहीं समझ सकता। उनके मुंह से ऐसा मैंने कभी नहीं सुना।"

मेरा खयाल है कि पत्र-लेखक ने ऊपर के पैरे के विचारों का उल्लेख किया है। इन विचारों में आज भी मैं कोई परिवर्तन करने का कारण नहीं देखता। एक चटाई पर बैठना और एक ही आसन—यानी आम तौर पर जिस पर एक ही आदमी अच्छी तरह बैठ सके, ऐसी जगह पर या दूसरी काफी जगह होते हुए भी मेरे पलंग पर आकर बैठ जाना, इन दोनों में बड़ा फर्क है। रेलगाड़ी, ट्राम, भीड़भाड़ खचाखच भरी सभा आदि में ऐसा होना अलग बात है। परन्तु किसी के घर मिलने गये हों या अकेले हों, तब ऐसा व्यवहार मुझे बुरा और असभ्य मालूम होता है। इस तरह पुरुष का पुरुष के साथ या स्त्री का स्त्री के साथ बैठना भी जरूरी नहीं माना जायगा। सदाचार का यह नियम "मेहनत का काम न करनेवाले सफेदपोश मध्यमवर्ग का" नहीं है ; सच पूछा जाय तो यही वर्ग इस नियम का कम पालन करता है। शहर के मजदूरों के बारे में तो निश्चयपूर्वक मैं कुछ नहीं कह सकता, लेकिन मैं यह मानता हूं कि "गांव के किसान और कारीगर जिस ढंग से रहते और काम करते हैं" उनमें यह नियम अधिक पाला जाता है। (जनवरी १९४८)

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (स्त्री-पुरुष सम्बन्ध) पृ० ३४-३८

३—इस वाक्य में 'सदा अपवाद रहता ही है' के बदले में अब मैं यह सुधार करना चाहता हूं : 'समाज उदारता से या निर्बलता से उस पुरुष के दूसरे महान गुणों को ध्यान में रखकर उसके दोषों की उपेक्षा करता है। (जनवरी, १९४८)

४—'इसलिए...अपवाद हो सकता है'—यह वाक्य मैं निकाल देना चाहूंगा। (जनवरी, १९४८)

"सच पूछा जाय तो स्त्री-पुरुष के बीच की जो मर्यादा है, उसका पालन स्त्री-स्त्री में या पुरुष-पुरुष में करना जरूरी नहीं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। स्त्रियाँ स्त्रियों के साथ और पुरुष पुरुषों के साथ जान-बूझ कर आवश्यकता से अधिक स्पर्शादि करें तो वह दोष ही माना जायगा। यानी स्त्री-पुरुष के बीच जो मर्यादाएँ बताई गई हैं, वे दो विभिन्न जातियों के कारण ही नहीं बताई गई हैं। बात इतनी ही है कि दो विभिन्न जातियों के लिए उनका ज्यादा स्पष्टीकरण किया गया है—उन पर ज्यादा जोर दिया गया है।

"गांधीजी कहते हैं—"जो ब्रह्मचर्य स्त्री को देखते ही डर जाय, उसके स्पर्श से सौ कोस दूर रहे, वह ब्रह्मचर्य नहीं। साधना में उसकी आवश्यकता होती है। लेकिन अगर वह स्वयं साध्य बन जाय तो वह ब्रह्मचर्य नहीं।······ब्रह्मचारी के लिए स्त्री का, पुरुष का, पत्थर का, मिट्टी का स्पर्श एक-सा होना चाहिए।"

"इस भाषा को आवश्यक अध्याहारों के साथ समझें, तो यह मुझे ठीक मालूम होती है। अध्याहार ये हैं: "जो ब्रह्मचर्य धर्म पैदा हो जाने पर भी स्त्री को देखते ही डर जाय······" तथा "विवेक दृष्टि रखकर ब्रह्मचारी के लिए स्त्री का···।" जिस तरह हम गीताजी के सम-दृष्टिवाले श्लोकों में इन शब्दों को अध्याहार के रूप में समझते हैं, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए। वहाँ जैसे समदृष्टि का अर्थ यह नहीं होता है कि गाय की तरह ब्राह्मण को भी बिनौले और घास खिलाया जाय, या ब्राह्मण की तरह गाय के लिए भी आसन बिछाया जाय बल्कि यह होता है कि हर प्राणी के प्रति समान वृत्ति रखते हुए भी हरएक की विवेकयुक्त सेवा करनी चाहिए, वैसे ही यहाँ भी हरएक का समान वृत्ति से परन्तु केवल विवेकयुक्त स्पर्श किया जाय। दो वर्ष की बाला और २५ वर्ष की युवती के स्पर्श के प्रति ब्रह्मचारी की समान वृत्ति होनी चाहिए। फिर भी दो वर्ष की बाला को वह गोद में बैठाये, उसके साथ बालोचित खेल खेले और आदत होने के कारण कभी-कभी उसे चूम भी ले, तो वह निर्दोष माना जायगा। लेकिन २५ वर्ष की युवती के साथ वह यह सब नहीं करेगा—नहीं कर सकता। अर्थात् संकट का कारण पैदा किए बिना नहीं करेगा; और उसे चूम लेने की तो संकट में भी कल्पना नहीं की जा सकती। यह भेद किस लिए? इसका कारण यह है कि दोनों के बारे में एक-सा निर्विकारी होने पर भी किसके साथ क्या बर्ताव उचित है, यह उसकी आँखें जानती हैं, मन जानता है और बुद्धि जानती है। यही उसका विवेक है।

"कोई मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी हो, अपनी निर्विकारी अवस्था के बारे में उसके मन में जरा भी शंका न हो, वह छाती ठोक कर यह भी कह सके कि कैसी भी परिस्थिति में उसके मन में विकार पैदा नहीं होगा, फिर भी यदि वह मनुष्य-समाज में साधारण जनता के लिए सदाचार के जो नियम आवश्यक मालूम हों उनकी मर्यादा में रहे, तो क्या इसे उसके ब्रह्मचर्य का दोष माना जायगा? और यदि ऐसे नियम पालने से वह अधूरा ब्रह्मचारी माना जाय तो इससे क्या? क्योंकि वह कितना निर्विकार है, इसकी अपने संतोष के लिए परीक्षा करने या जगत के सामने यह सिद्ध कर दिखाने की उसकी जिम्मेदारी—पैदा हुआ धर्म—नहीं है। उसकी जिम्मेदारी या धर्म तो हर बात में अपना आचरण ऐसा रखने की है, जिसका यदि अविवेकी पुरुष अनुकरण करे तो भी उससे समाज में दोषयुक्त आचरण का निर्माण न हो; उसका अनुकरण करने से समाज में रसिक स्त्री-पुरुषों की मनोदशा को पोषण न मिले। बल्कि संयमी स्त्री-पुरुषों की मनोदशा का निर्माण हो और उसे पोषण मिले।

"किन्हीं मनुष्यों में बड़ी-बड़ी संख्याओं का मुंह से गुणाकार कर देने की शक्ति होती है। यह उसकी विशेष सिद्धि मानी जायगी। फिर भी यदि वह शिक्षक बन जाय, तो उसे बालकों को संख्यायें लिखकर और एक-एक अंक लेकर गुणा की रीति इस तरह सिखानी होगी, मानो उसके पास ऐसी कोई सिद्धि है ही नहीं। यदि ऐसी सिद्धि प्राप्त करने की कोई विशेष रीति हो तो, वह बालकों को बतानी चाहिए। यदि वह केवल जन्मसिद्ध शक्ति हो, तो किसी समय भले ही वह उसका उपयोग करे। लेकिन इससे गुणाकार करने की गणित की पद्धति का निषेध नहीं किया जा सकता, और बालकों को सिखाने के लिए तो वह उसी पद्धति का उपयोग कर सकता है। उसी तरह जो दृढ़ ब्रह्मचारी हो, उसे ऐसे नियमों का शोधन व पालन करना चाहिए, जो समाज के प्रयत्नशील साधकों और भोगियों के लिए ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलने में सहायक सिद्ध हों। मैं इसी दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया करता हूं।

"गांधीजी का एक दूसरा वाक्य यह है—"स्त्री के स्पर्श के मौके ढूंढे बिना अनायास ही स्त्री का स्पर्श करने का मौका आ पड़े, तो ब्रह्मचारी उस स्पर्श से भागेगा नहीं।" इस वाक्य में भी 'कर्तव्य की दृष्टि से' 'धर्म समझ कर' जैसे शब्द जोड़ देने चाहिए, क्योंकि यह निश्चय करना कठिन है कि क्या अनायास आ पड़ा है और क्या अनायास आ पड़ा मान लिया गया है। किसी क्रिया को करने की आदत डालने से वह

सहज या स्वाभाविक हो जाती है और फिर वह अनायास आ पड़ी मालूम होती है। उदाहरण के लिए, मुझे लेख लिखने की आदत है, इसलिए कई संपादक मुझसे लेखों की मांग किया करते। अब एक तरह से देखें तो यह कहा जा सकता है कि 'लेख लिखने का काम मुझ पर सहज ही आ पड़ता है। 'लेकिन हर समय वह धर्म के रूप में आ पड़ता है', ऐसा कहना कठिन है। लेख लिखने का धर्म आ पड़ा है, ऐसा तो कुछ अंश में भी तभी कहा जायगा, जब उस लेख के प्रकाशन की जिम्मेदारी मुझ पर हो अथवा कोई विचार मुझे इतना महत्त्वपूर्ण लगे कि उसे जनता को समझाना विवेक-बुद्धि से मुझे जरूरी मालूम होता हो। हम जानते हैं कि विवेक-बुद्धि का उपयोग करने में भी कभी-कभी आत्म-वंचना होती है। फिर भी यह तो माना ही जायगा कि यथासंभव हमने विवेक-बुद्धि का उपयोग किया है। सारांश यह है कि अनायास आ पड़नेवाला प्रत्येक कर्म, धर्म नहीं ठहरता; और इसलिए यह बचाव नहीं किया जा सकता कि कोई कर्म अनायास आ पड़ा, इसलिए किया गया। गीता में यह अवश्य कहा गया है कि 'सहजं कर्म कौन्तेय, सदोषमपि न त्यजेत्।' लेकिन जो धर्म न हो, उसे गीता ने कर्म ही नहीं माना है। वह विकर्म है, और इसलिए अपकर्म है। उसके लिए अनायास आ पड़ने का बहाना नहीं किया जा सकता। फिर गीता में 'सहज' का अर्थ 'अनायास आ पड़नेवाला नहीं', बल्कि सह-ज—साथ उत्पन्न हुआ—स्वाभाविक, प्रकृति-धर्म के अनुसार है। कोई कर्म सहज हो और कर्त्तव्यरूप में आ पड़ा हो, तो भी वह दोषयुक्त होने पर भी नहीं छोड़ा जा सकता।

"आप यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मचर्य की साधना बड़ी कठिन है। इसका अर्थ यही है कि हमारे जमाने में करोड़ों मनुष्यों के लिए ब्रह्मचर्य असंभव-सा है। एकाध के लिए वह स्वाभाविक हो सकता है; और अति-पुरुषार्थी के लिए प्रयत्न-साध्य है। अतः करोड़ों के लिए तो ऐसा ही धर्म बताना होगा, जिससे वे भोग में मर्यादा का पालन कर सकें, अति भोग की तरफ न बह जायं और मर्यादा-पालन करनेवालों की दिनोदिन संयम की ओर प्रगति हो।............मुझे लगता है कि ब्रह्मचर्य की साधना के मार्ग का और मर्यादा के नियमों का इस तरह विचार होना चाहिए।

"इस बारे में हम सिर्फ कल्पना के घोड़े दौड़ाना चाहें, तब तो कहीं के कहीं पहुँच सकते हैं। यदि ऐसा कहें कि जो स्त्री के सहज या साधारण स्पर्श से भागे, वह ब्रह्मचारी नहीं, तो जो एकान्त-वास से या बलात्कारपूर्वक संभोग करना चाहनेवाले से डरकर भागे, उसे भी ब्रह्मचारी कैसे कहा जाय? और शंकर की कथा में बताया गया है वैसे क्रोध से कामदेव को जला देनेवाला भी ब्रह्मचारी कैसा? ब्रह्मचारी तो भागवत में नारायण की कथा में बताये गये मनुष्य को कहा जा सकता है। यानी जो अप्सराओं से कह सके कि "तुम भले ही नाचो परन्तु मेरे तप के प्रभाव से मैं या तुम—दोनों में से किसी में भी विकार पैदा नहीं होगा'।" विकारी वातावरण में स्वयं तो निर्विकार रहे ही, पर जो विकारी के विकार को भी शान्त कर दे, वही सच्चा ब्रह्मचर्य है। ऐसे ब्रह्मचर्य को साध्य मानें, तो उसकी साधना क्या है? इसमें मुझे कोई शंका नहीं कि वह साधना अनावश्यक सामान्य स्पर्श करते रहना या स्त्री पुरुष के साथ एकान्त-वास के प्रयोग करते रहना तो हो ही नहीं सकती। मुझे तो लगता है कि जिस स्पर्श की कोई जरूरत ही नहीं, ऐसा हर तरह का स्पर्श त्याज्य ही माना जाना चाहिए। न केवल स्त्री या पुरुष का, न केवल प्राणियों का, बल्कि जड़ पदार्थों का भी ऐसा स्पर्श त्याज्य है। स्पर्शेन्द्रिय सारी त्वचा पर फैली हुई है। वह चाहे जिस जगह से और चाहे जिसके स्पर्श से विकार पैदा कर सकती है। भोग में उसकी सीमा अवश्य है। जहाँ जड़ या चेतन—किसी का भी लिपटकर स्पर्श करने की इच्छा होती है, वहाँ सूक्ष्म कामोपभोग है। इस तरह की स्पर्शेच्छा न हो और यदि हो तो उसके प्रति मन निर्विकार रहे—ऐसी शक्ति और दृष्टि प्राप्त करना ही ब्रह्मचर्य की साधना है। यह सच है कि इसमें अन्त में भागने की आवश्यकता नहीं रहेगी; लेकिन आरम्भ में या अन्त में भी लिपटने की, स्पर्श को खोजने की या उसकी आदत डालने की जरूरत नहीं होनी चाहिये। सूक्ष्म स्पर्श अनायास नित्य के जीवन में होते ही रहते हैं। आदत के लिए, परीक्षा के लिए उतना स्पर्श काफी है। जिस प्रकार त्वचा को जीतने के लिए सर्दी या धूप में बैठना, पंचाग्नि में तपना, कांटों पर सोना आदि साधना जड़ और तामसी हैं, उसी प्रकार इन स्पर्शों के सेवन को साधना कहें तो वह रसिक और राजसी साधना है। इस रास्ते में गिरे तो बहुत हैं, परन्तु पार कौन लगे हैं, यह तो प्रभु ही जाने।

"इस बारे में गांधीजी का अनुकरण करने का मोह छोड़ देना चाहिये। गान्धीजी की तो सब मार्गों में पराकाष्ठा होती है। उनके त्याग, दीर्घश्रम और व्रत-पालन का अनुकरण करके उन्हें कोई अपना जीवन-धर्म नहीं बनाता, लेकिन उनकी संगीत की रुचि, स्त्रियों के साथ निःसंकोच व्यवहार और कुछ सूक्ष्म सुघड़ता की आदतों का अनुकरण करने का मोह होता है। परन्तु गान्धीजी को जिस बात में जिस क्षण अपनी भूल मालूम हो जाती है, उसमें से उसी क्षण पीछे हटने और सारे जगत के सामने अपना अपराध स्वीकार करके माफी मांगने में उन्हें कभी संकोच नहीं

होता। दूसरों को तो प्रतिष्ठा के और ऐसे दूसरे कितने ही विचार आते हैं।

"मुझे लगता है कि गीता के श्लोक को[1] आपने बहुत गलत तरीके से लागू किया है। आपके अर्थ के अनुसार तो संयम के सारे प्रयत्न मिथ्याचार में शामिल हो जायेंगे। विवाह की इच्छा रखनेवाले एक वृद्ध पुरुष को मैंने इस श्लोक का ऐसा ही अर्थ करते सुना है। वे कहते थे कि जब मेरे मन में तीव्र विषय-वासना है, तब मेरे स्थूल संयम-पालने से क्या होगा? यह तो केवल मिथ्याचार ही होगा। इसलिए मुझे शादी कर लेनी चाहिए। 'अ' शराब के लिए तड़पता रहता हो, 'ब' पराई स्त्री को कुदृष्टि से देखता हो, 'स' का किसी की घड़ी चुरा लेने का मन करता हो, परन्तु वे अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हों, तो क्या इसे मिथ्याचार माना जायगा? क्या उन्हें शराब का नशा, व्यभिचार, चोरी आदि करना चाहिये? विषयों का स्मरण हो सकता है, इच्छा भी हो सकती है, परन्तु इस कारण कर्मेन्द्रियों का संयम गलत है—ऐसा इस श्लोक का अर्थ करना मुझे ठीक नहीं लगता। जैसा कि मैंने ऊपर कहा—'गीता के अनुसार जो कर्म धर्म नहीं, वह कर्म ही नहीं है; वह विकर्म या अप-कर्म है।' विकर्म की तरफ चाहे जितना हमारा मन दौड़े, हमें वह पागल भी बना दे, तो भी उससे कर्मेन्द्रियों को हमेशा हठपूर्वक रोकना ही चाहिये। परन्तु जो कर्म धर्म्य हों, उनमें इन्द्रियों का संयम करना चाहिये या नहीं, यह प्रश्न पैदा हो तो गीता कहती है कि 'मन में उनकी आसक्ति रखना और स्थूल त्याग करना ठीक नहीं है। सबसे उत्तम होगा तो यह होगा कि आसक्ति न रखकर वे कर्म किये जायं।......'

'.........कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिन्हें करने की धर्म—सदाचार—इजाजत देता है; लेकिन वे अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप में नहीं होते। ऐसे कर्मों के बारे में भी यह श्लोक लागू हो सकता है। उनमें आसक्ति हो तो धार्मिक ढंग से उन्हें करते क्यों नहीं? लेकिन आसक्ति न हो तो कोई उन्हें करने को नहीं कहता। परन्तु आसक्ति है, इसलिए अधार्मिक ढंग से उन्हें करना तो ठीक नहीं।

"लेकिन आसक्ति होने पर भी ये कर्म करने ही चाहिए, ऐसा कोई नहीं कहता। साधक आसक्ति के समय में ही संयम का प्रयत्न करता है। वह इन्द्रियों को रोकता है, मन को मोड़ना चाहता है, पर सफल नहीं होता। उसका यह संयम कैसा माना जायगा? सफलता नहीं मिलती, इसलिए उतने समय के लिए हम भले ही उसे मिथ्याचार कहें। परन्तु यह उसी तरह मिथ्या है, जिस तरह गणित के किसी अटपटे सही सवाल को रीति से किये जाने पर भी कहीं नजर से भूल हो जाने के कारण गलत उत्तर आवे और हम उसे मिथ्या कहें। इसमें उत्तर गलत आया है, लेकिन रीति सही है। उसी तरह संयम का प्रयत्न भले निष्फल गया, लेकिन उसकी रीति तो सही है। वह मिथ्याचार है, इसका यह अर्थ नहीं कि वह सत्य-विरोधी आचार है; उसका अर्थ केवल इतना ही है कि वह उस क्षण के लिए गलत—मिथ्याचार है। उसे मिथ्याचार कहें तो, ऐसे सैकड़ों मिथ्याचार उचित माने जायंगे[2]।" (२५-४-'३५)

३—"......धर्म की रक्षा के लिए व्यवहार की मर्यादा बांधना और पालना जरूरी तो है, लेकिन उस मर्यादा की भी कोई मर्यादा होनी चाहिए, वरना वह मर्यादा भी अधर्म बन जायेगी। उदाहरण के लिए खाने-पीने की चीजों, बर्तनों, कपड़े-लत्ते वगैरह के बारे में स्वच्छता का नियम बेशक होना चाहिये। परन्तु जब हम इस स्वच्छता को एक ऐसा धर्म बना डालें कि वह धर्म का अङ्ग बनने के बजाय धर्म की आत्मा का महत्व ग्रहण कर ले, तब स्वच्छता का वह नियम दोषरूप ही माना जायेगा। झाड़ की रक्षा के लिए बाड़ लगानी चाहिए। लेकिन यदि यह बाड़ ही झाड़ को निगल जाय, तो वह रक्षक के बदले भक्षक बन जायगी।

"घूंघट या पर्दा की प्रथावाले समाज में भी मां, बहन या लड़की अपने पुत्र, भाई या पिता का पर्दा नहीं करती। अगर ऐसा हो तो वह अतिशयता ही कही जायेगी। फिर भी मां, बहन या लड़की के साथ भी एकान्त में न रहा जाय और मर्यादा में रहकर ही हिला-मिला जाय, इस सूचना में धर्म की मर्यादा बांध दी गई है। जो नियम मां, बहन या लड़की के साथ के बरताव में पाला जाय, वही दूसरी स्त्रियों के साथ के बरताव में विशेष आग्रह से पाला जाय, यही धर्म है।

१—कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥३-६
—कर्मेन्द्रियों का संयम करके जो मूढ़ पुरुष मन में विषयों का स्मरण किया करता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है।

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (स्पर्श की मर्यादा) पृ० ६६-७१

"किसी स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे के सम्बन्ध में आना ही नहीं चाहिए, ऐसा धर्म नहीं बनाया जा सकता। यदि दोनों एक-दूसरे का मुख नहीं देखें, ऐसा धर्म बना कर स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक-सा लागू किया जाय, तो उससे भी सामाजिक जीवन असंभव बन जायेगा। कोई सूरदास यदि यह देखकर अपनी आँखें फोड़ लें कि वह पापी बने बिना नहीं रहती, तो वह उसकी अपनी पसन्दगी मानी जायगी। लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता कि शील और पवित्रता की रक्षा के लिये आँखें फोड़ लेना धर्म है। यदि कोई भक्त-संप्रदाय आँखें फोड़ने को धर्म बना ले, तो उसे रोकने का भी कर्त्तव्य पैदा हो सकता है। उसी तरह कोई निवृत्ति-मार्गी भक्त या साधक ब्रह्मचर्य पालने के लिए स्त्री-सहवास का आठों प्रकार से त्याग करें, तो वह उनकी स्वतंत्र पसन्दगी मानी जायगी, और वह कभी जरूरी भी नहीं हो सकती है। लेकिन इसे यदि समाज का धर्म बना दिया जाय, तो उसमें अतिशयता का धर्म माना जायगा। उसी तरह यदि कोई सुन्दर स्त्री को यह अनुभव होता हो कि अपनी या पुरुषों की रक्षा के लिए, उसका मुंह छिपाकर रखना ही सुरक्षित मार्ग है। और जिस कारण से वह स्वेच्छा से बुर्का पहने या घूंघट करे, तो उसके खिलाफ शिकायत करने की शायद हमें जरूरत न रहे। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा करना उसका धर्म है।

"......अगर यह अनुभव हो कि स्त्रियों के पर्दा करने से पुरुषों के विकार कुछ शान्त रहते हैं, तो भी उसे धर्म का नियम नहीं बनाया जा सकता।

"मैं जब यह कहता हूँ कि सिर्फ मन की पवित्रता पर आधार न रखकर स्थूल नियम भी पालने चाहिये, तो उसका यह मतलब नहीं है कि मैं स्थूल नियमों के पालन को मन की पवित्रता का स्थान देता हूँ[1]।" (७-१०-'३४)

४—"......यह जरूर है कि मैं स्त्री-पुरुषों के परस्पर मिलने में मर्यादा-पालन की आवश्यकता मानता हूं। और जो मर्यादाएँ मैंने सुझाई हैं, वे मेरे खयाल से स्त्री-पुरुष के साथ मिलकर काम करने में बाधा नहीं डालतीं। मैं यह सोच भी नहीं सकता कि साथ मिलकर काम करने के लिए एक-दूसरे के साथ एकांत में रहने, एकांत में गुप्त बातें करने या जान-बूझ कर एक-दूसरे के अङ्गों को छूने की जरूरत क्यों पैदा होनी चाहिए। एक खास उम्र में केवल पुरुष-पुरुष का और स्त्री-स्त्री का ऐसा सहवास भी अनिष्ट होता है, तब यदि स्त्री-पुरुष का सहवास ज्यादा अनिष्ट सिद्ध हो, तो कोई अचरज की बात नहीं।

"कुछ नवयुवक इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि ३० वर्ष की भरी जवानी में होते हुए और जवान लड़कियों के साथ आजादी से मिलते हुए भी उन्होंने पवित्र जीवन बिताया है और मेरी बताई हुई मर्यादाओं के पालन की जरूरत महसूस नहीं की। उनका जीवन पवित्र रहा है, यह उनकी बात मैं सच मान लेता हूं और उन्हें बधाई देता हूं। मैं चाहता हूँ कि उनकी यही स्थिति जीवन के अन्त तक बनी रहे। लेकिन मैं उन्हें सावधान कर देता हूं कि जीवन के इतने ही अनुभव से वे फूल कर कुप्पा न हो जायं। यह तो वैसी ही बात हुई, जैसे कोई कहे कि हम २० वर्ष तक आग से जले नहीं, इसलिए आग से जलने का डर झूठा है।

"बहुत से नवयुवकों को शायद यह पता नहीं होगा कि पुरुष के जीवन में—और खासकरके महत्त्वाकांक्षी पुरुष के जीवन में—नीचे गिरने का समय ३५-४० की उम्र के बाद आरंभ होता है। डॉक्टरों, मनोवैज्ञानिकों और वृद्धों का अनुभव है कि पिछले २५ वर्षों के आंकड़े यह बताते हैं कि व्यभिचारी जीवन बितानेवाले पुरुषों का बड़ा हिस्सा ३५-४० की उम्र पार कर चुकनेवालों का रहा है। इसके पीछे कारण भी रहता है। इस उम्र तक उत्साही नवयुवकों के हृदय में विषय-भोग की अपेक्षा छोटी-मोटी अभिलाषायें पूरी करने के मनोरथ ज्यादा बलवान होते हैं। भोग-विलास का इस उम्र में प्रमुख स्थान नहीं होता। इसलिए वे इस इच्छा को दबा भी देते हैं। इस उम्र में भी जो युवक भोगों के पीछे पड़ा हो, वह रोगी कहा जा सकता है। इस उम्र के बाद उसके जीवन में थोड़ी स्थिरता आती है, वह दौड़-धूप और चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है, शायद कुछ फुरसतवाला, स्वतंत्र और पहले की अपेक्षा खाने-पीने के ज्यादा सुभीते पा सकनेवाला हो जाता है। उसकी महत्त्वाकांक्षायें ठंडी पड़ जाती हैं, और अगर उसका जीवन प्रपंच में बीता हो तो वह थोड़ा बहुत धूर्त भी बन जाता है। इसके साथ यदि उसकी सदाचार और नैतिकता की भावना शिथिल हो, तो उसके गिरने की संभावना बढ़ जाती है। इसलिए यह कहा जाता है कि व्यभिचारी पुरुषों का बड़ा हिस्सा इस उम्र को पार कर चुकनेवाला होता है।

"इस पर से यह कहा जा सकता है कि ३० वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालने की बात कहना किसी असंभव बात की सूचना नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि इस उम्र तक नियम-पालन करने की जरूरत नहीं, या इस उम्र से पहले विवाह-सम्बन्ध जोड़े बिना

१—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (पर्दा और धर्मरक्षा) पृ० ४३-४५

किया गया विषय-भोग निर्दोष है। यह तो वैसा ही होगा जैसे यह कहना कि आमतौर पर 'केन्सर' ३५-४० की उम्र के बाद होता है, इसलिए इस उम्र तक यह रोग उत्पन्न करनेवाली चीजें छूट से खाई जा सकती हैं[1]।" (२१-१०-'३४)

५—"हिंसा न करनी जंतकी, परत्रिया संगको त्याग ; मांस न खावत, मद्य को पीवत नहीं वड़भाग ।
विधवा को स्पर्शत नहीं, करत न आत्मघात ; चोरी न करनी काहुकी, कलंक न कोउको लगात ।
निन्दत नहीं कोउ देवको, विन खपतो नहीं खात ; विमुख जीव के वदन से कथा सुनी नहीं जात ।
यह विधि धर्म सह नियम में, वर्तें सव हरिदास; भजे श्री सहजानन्द प्रभु, छोड़ी और सव आस ।
रही एकादश नियम में करो श्रीहरिपद प्रीत ; प्रेमानन्द के धाम में, जाओ निःशंक जग जीत ।"

"—यह स्वामिनारायण-संप्रदाय की सायं-प्रार्थना के नित्य पाठ का एक हिस्सा है। मेरे पिताजी जीवन में इसे अक्षरशः पालने और और दूसरों से पलवाने का आग्रह रखते थे। वम्बई शहर में रहकर भी वे स्वयं इन नियमों का इतनी सख्ती से पालन करते थे कि भुलेश्वर तीसरे भोइवाड़े के संकड़े और भीड़-भड़क्केवाले रास्तों पर भी किसी विधवा का स्पर्श न हो जाय, इसका ध्यान रखते थे। और कभी स्पर्श हो जाता, तो एक बार का उपवास कर लेते थे।

"एकान्त से बचने के बारे में उन्होंने हमें जो शिक्षा दी थी, उसका एक किस्सा यहां कह दूं। एक बार मेरी छोटी बहन (१२-१३ साल की) एक कमरे में कंघी कर रही थी। उस बीच कोई परिचित गृहस्थ उस कमरे में दाखिल हुए। कमरा खुला था। उसकी बनावट ऐसी थी कि आते-जाते किसी की भी नजर अन्दर पड़ जाती थी। मेरी बहन उनके आने पर कमरे से उठकर चली नहीं गई और कंघी करती रही। मेरे पिताजी ने दूसरे कमरे में से यह सब देखा। उन्होंने बहन को पास बुलाकर 'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा...' सहजानन्द स्वामी की आज्ञा समझाई। फिर कहा कि इस आज्ञा का भङ्ग हुआ है, इसलिए प्रायश्चित्त के रूप में तुम्हें एक दिन का उपवास करना चाहिए।

"स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध' नाम के मेरे लेख पर कुछ नवयुवक और प्रौढ़ युवक भी चिढ़ गये थे......जो मर्यादा-धर्म में विश्वास रखते हैं, उन में से भी कुछ को ऐसा लगेगा कि मेरे पिता का यह वरताव मर्यादा की भी मर्यादा को लांघ गया था। कुछ यह भी कहेंगे कि इस तरह पाला गया सदाचार वास्तव में सदाचार ही नहीं है ; इस तरह पाला गया ब्रह्मचर्य वास्तव में ब्रह्मचर्य ही नहीं है। लेकिन यह राय भी कोई नई नहीं है। स्थूल नियम-पालन का यह विरोध स्मृतियों जितना ही पुराना है।

"............एक बार एक वैरागी साधु ने सहजानन्द स्वामी के साथ चर्चा करते हुए कहा : "स्वामिनारायण, आपने सब कुछ तो अच्छा किया, लेकिन एक बात बहुत बुरी की। आपने स्त्री-पुरुष के अलग-अलग वाड़े बनाकर ब्रह्म में भेद डाल दिया।" सहजानन्द स्वामी ने उत्तर दिया : "बावाजी, यह भेद कोई रहनेवाला थोड़े ही है। मैं एक विशेष घिनवाला आगया हूं, इसलिए मैंने यह भेद कर डाला है। मेरी थोड़ी-बहुत घिन इन लोगों (शिष्यों) को लगी है। वह जब तक टिकेगी, तब तक यह भेद रहेगा। फिर तो आपका ब्रह्म पुनः एक ही हो जाने वाला है।"

"...............ये कड़े नियम संसारी समाज के लिए न तो बनाये गये और न सोचे गये थे। परन्तु यदि नियमों को 'घिन' का नाम दिया जाय, तो कहा जा सकता है कि संसारी समाज में भी कुछ मर्यादारूपी घिन की छूत उन्होंने जरूर लगाई थी। यह छूत मेरे पिताजी को विरासत में मिली थी। उन्होंने विचारपूर्वक उसका पोषण किया था और हमें भी वह छूत लगाने की कोशिश की थी। मेरी शक्ति के अनुसार मुझमें यह 'घिन' टिकी रही है ; और मैं मानता हूं कि उसके टिके रहने में मेरा अपना और समाज का हित ही हुआ है।

'घिन' शब्द का उपयोग तो सहजानन्द स्वामी ने व्याजोक्ति से किया था। सच पूछा जाय तो उनके मन में स्त्री-जाति के लिए कभी अनादर नहीं रहा ; इतना ही नहीं, वे व्यक्तिगत रूप में स्त्रियों के साथ कभी घृणा का बरताव नहीं करते थे। और स्त्रियों की उन्नति के लिए उन्होंने ऐसी बहुत-सी प्रवृत्तियां चलाई और संस्थाएँ कायम की थी, जिन्हें उस जमाने की दृष्टि से नवीन कहा जा सकता था[2]।" (जनवरी, १९३७)

१—स्त्री-पुरुष मर्यादा (अभी इतना हीं) पृ० ४६-४८

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (प्रस्तावना) पृ० ४-६

६—"....स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध में एकान्त, शरीर-स्पर्श (सजातीय या विजातीय नौजवानों या किशोरों का एक-दूसरे से लिपटना, एक दूसरेपर गिरना या दूसरी तरह से लाड़भरे नखरे करना), काम को भड़कानेवाले दृश्यों, नाटकों, पुस्तकों, संगीत आदि में साथ-साथ भाग लेना, भाई-बहन-मां-बाप जैसे कौटुम्बिक संबंध न होने पर भी वैसे सम्बन्ध कायम करने की बात मन को समझा कर, सगे भाई-बहन और मां-बाप के साथ भी न किये हों, ऐसे लाड़ या घनिष्ठता (intimacy) की छूट लेना—आदि मलिनता या खतरे के स्थान माने जा सकते हैं। यदि ऐसा आग्रह न रहे कि सगे भाई-बहिन-मां-बाप द्वारा भी उनके साथ के व्यवहार में भी अमुक स्वतंत्रता तो कभी ली ही नहीं जा सकती; हमारा शरीर एक पवित्र तीर्थ (गंगाजल या मंत्रपूत जल) या पवित्र भूमि है और आपद्धर्म के सिवा जैसे पवित्र तीर्थ या क्षेत्र को थूक, मल-मूत्र या पांव के स्पर्श से अपवित्र नहीं किया जा सकता या पवित्र बनकर ही स्पर्श किया जा सकता है, वैसे ही अपने शरीर को भी—जिसके साथ विवाह-सम्बन्ध बांधा हो ऐसे पति या पत्नी के सिवा—पवित्र रखने का आग्रह न हो; और विषय-भोग की तीव्र इच्छा होते हुए भी किसी कारण से विवाह करने का साहस न होता हो, तो कभी न कभी, युवावस्था बीत जाने पर भी, मन के मलिन होने का डर बना रहता है[1] ।" (१४-१-'४५)

७—"आपस में कोई नाता-रिश्ता न रखनेवाले स्त्री-पुरुषों के बीच कभी-कभी एक दूसरे के "धर्म के भाई-बहन" का सम्बन्ध बांधने का रिवाज पुराने समय से चला आया है।......ऐसे नाते पवित्र बुद्धि से जोड़े जाते हैं और कुलीनता के खयाल से अन्त तक निभाये जाते हैं। इनमें स्त्री-पुरुष-मर्यादा के नियमों को शिथिल करने का जरा भी इरादा नहीं होता। हो भी नहीं सकता; क्योंकि मर्यादा के जो नियम बताये गये हैं, वे वही हैं, जिन्हें सगे भाई-बहन, मां-बेटे या बाप-बेटी के बीच भी पालना जरूरी होता है।

"परन्तु कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि मर्यादा के पालन में पैदा हुई शिथिलता का बचाव करने के लिए भी ऐसा सम्बन्ध बताया जाता है। दो एकसी आयुवाले स्त्री-पुरुष के बीच मैत्री होती है। और उसमें से वे खूब छूट से एक-दूसरे के साथ हिलने-मिलने लगते हैं। यह छूट समाज को खटकती है, या खटकने का उन्हें डर लगता है। यह छूट उचित नहीं होती, फिर भी दोनों उसे छोड़ना नहीं चाहते। ऐसे मौके पर धर्म के भाई-बहन होने की दलील दी जाती है।

"सच पूछा जाय तो ऐसी स्थिति में यह दलील केवल बहाना ही होती है। क्योंकि वे अपने सगे भाई-बहन के साथ या सगे लड़के-लड़की के साथ जैसा छूट का व्यवहार नहीं रखते, वैसा व्यवहार इन माने हुऐ भाई-बहन, मां-बेटे या बाप-बेटी के साथ रखते हैं।

"धर्म का नाता जोड़नेवाले को यह सोचना चाहिये कि यह नाता धर्म के नाम पर जोड़ना है। अर्थात् उसमें परमार्थ की, पवित्रता की, कुलीनता की, गंभीरता की बुद्धि होनी चाहिए। यह संबंध एकांत में गप्पे मारने की, साथ में घूमने-फिरने की, पीठ या सिर पर हाथ रखते रहने की, *एक-दूसरे के साथ सटकर बैठने की या कारण-अकारण किसी न किसी बहाने से एक दूसरे को स्पर्श करने की छूट लेने के लिए नहीं होना* चाहिये। यह एक दूसरे की आबरू रखने और बढ़ाने के लिए होना चाहिये, और समाज में उसका ऐसा परिणाम आना ही चाहिये। उसमें निन्दा के लिये कोई गुंजाइश ही नहीं आनी चाहिये[2] ।" (मई १९४५)

८—"......एक-दूसरे की सहायता करने में शरीर का स्पर्श, एकांत-वास आदि की संभावना रहती ही है। ......उनका धीरे-धीरे बढ़नेवाला परिचय स्त्री-पुरुष-मर्यादा के नियमों का पालन ढीला करा देता है। दोनों एक दूसरे को भाई-बहन या 'धर्म के भाई-बहन' कहते हैं, परन्तु सगे भाई-बहिन के बीच भी न पा[illegible]ली निकटता और निःसंकोचता अनुभव करते हैं। उनके उठने-बैठने, बातचीत करने वगैरह में शिष्टाचार जैसी कोई चीज नहीं रह जाती। यह व्यवहार आसपास के लोगों की निगाह में आता है। उन्हें इसमें सच्ची या झूठी विकार की शंका होती है। मनुष्य-स्वभाव के अनुसार वे अपनी शंका मुंह पर जाहिर नहीं करते या उस व्यवहार के बारे में रुचि-अरुचि शुरू में ही प्रकट नहीं करते। लेकिन अन्दर ही अन्दर उनकी निन्दा करते हैं और लोगों में बातें फैलाते हैं। अन्त में वे दोनों विकृतरूप में अपनी निन्दा होती अनुभव करते हैं। ......विवाहित या अविवाहित दोनों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि शुद्ध व्यवहार का विश्वास उचित मर्यादाओं के पालन से ही कराया जा सकता है, मनमाने व्यवहार से नहीं। जो लोग मर्यादा-पालन में विश्वास नहीं रखते, वे खुद ही लोक निन्दा को प्रोत्साहन देते हैं। उन्हें लोक-निन्दा से चिढ़ने और गुस्सा करने का कोई अधिकार नहीं है[3] ।" (मई, १९४५)

१—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (संस्थाओं का अनुशासन) पृ० १६५-१६६

२—वही (धर्म के भाई-बहन) पृ० १६७-१६८

३—वही (बुढ़ापे में विवाह) पृ० १७०-१७२

९—"'''जो स्त्री यह चाहती है कि उसकी पवित्रता कभी खतरे में न पड़े, उसे ज्यादा सचेत रहने की जरूरत है।

"उसे पहले यह खयाल या घमण्ड तो छोड ही देना चाहिए कि सती-धर्म या पतिव्रत-धर्म के उसके संस्कार जितने बलवान हैं कि उनके कारण वह किसी पुरुष की ओर आकर्षित होगी ही नहीं। यह संस्कार बड़े महत्त्व के हैं। उनका बल भी बहुत होता है। फिर भी इस बल को इतना महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिये, जिससे कोई स्त्री यह सोचने लगे कि पुरुषों के सहवास या संसर्ग में किसी तरह की मर्यादा का पालन न करने पर भी वह सुरक्षित है। इसलिए यह मानते हुए भी कि इन संस्कारों का बल बहुत बड़ा है, स्थूल मर्यादा के पालन में कभी लापरवाही नहीं करनी चाहिए[1]।" (३०-९-'३४)

२४-ब्रह्मचर्य और उपवास

महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य के साधनों में उपवास को भी गिनाया है (देखिए पृ० ९३ पेरा ४)। उनके अनुसार इन्द्रिय-दमन के उद्देश से इच्छापूर्वक किये हुए उपवास से इन्द्रिय को काबू में लाने में बहुत मदद मिलती है। गीता में कहा है—'निराहार रहनेवाले के विकार दब जाते हैं, पर आत्म-दर्शन के बिना आसक्ति नहीं जाती।' महात्मा गांधी इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं: "गीता के श्लोक का अर्थ यह नहीं है कि काम को जीतने में निराहार व्रत से कोई सहायता नहीं मिलती। उसका मतलब तो यह है कि निराहार रहते हुए भी कभी थको नहीं और ऐसी दृढ़ता तथा लग्न से ही आत्म-दर्शन हो सकता है। वह हो जाने पर आसक्ति भी चली जायगी[2]।"

प्रश्न हो सकता है कि जिस उपवास को महात्मा गांधी ने अपने अनुभव से ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अङ्ग कहा है, उसको भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बताये गये नियमों में स्थान क्यों नहीं दिया? इसका क्या कारण है? यह पहले बताया जा चुका है कि बाड़ों का अर्थ है—ब्रह्मचारी के शील—आचार—व्यवहार की तालिका। उपवास ब्रह्मचारी का प्रति रोज का शील—आचार—व्यवहार नहीं। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए उपवास की कम आवश्यकता नहीं, पर वह रोज का शील—धर्म नहीं। इसलिए उसका उल्लेख बाड़ों के प्रकरण में नहीं आया।

ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए जब कभी भी आवश्यक हो, उपवास करना चाहिए। स्थानाङ्ग में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए आहार छोड़ने की बात का उल्लेख आया है[3]।

निशीथ चूर्णि में लिखा है: "यदि निवृत्त आहार, निर्बल आहार, ऊनोदरी आदि से विकार की शान्ति न हो तो उपवास यावत् षट् मासिक तप करे। पारण में निर्बल आहार ले। उस से भी उपशम न हो तो कायोत्सर्ग करे"—''''''तह वि ण णाति चउत्थादि-जाव-छम्मासियं तवं करेति; पारणाए णिव्वलमाहारमाहारेति। जइ उवसमति तो सुंदरं। अह णोवसमति "ताहे" उद्धट्ठाणं महंत करेति कायोत्सर्ग-मित्यर्थः[4]।

इस तरह पाठक देखेंगे कि एक दो दिन के उपवास को ही नहीं, पर षट् मासिक जैसे दीर्घ उपवास को भी ब्रह्मचर्य की उपासना में स्थान है।

ऐसा उल्लेख भी प्राप्त है कि यदि सारे उपाय कर चुकने के बाद भी ब्रह्मचारी अपने विकारों को शान्त करने में समर्थ न हो, तो वह जीवन भर के लिए आहार छोड़ दे, पर स्त्री में मन न करे:

उव्वाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि निव्वलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दुइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिंदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं।

जैन धर्म के अनुसार अनशन बारह तपों में से एक तप है। अवशेष तप इस प्रकार हैं: ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काय-

---

१—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (शील की रक्षा) पृ० ४१

२—अनीति की राह पर पृ० १३८

३—ठाणाङ्ग सू० ५००: छहिं ठाणेहिं समणे णिग्गंथे आहार वोच्छिदमाणे णाइक्कमइ तं० आतंके उवसग्गे तितिक्खणे बंभचेरगुत्तीए पाणिदया तव हेउ सरीरवुच्छेयणट्ठाए

४—निशीथसूत्रम् सू० १ भाष्यगाथा ५७४ की चूर्णि

क्लेश, प्रतिसंलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग। जैन धर्म में इन सब तपों को ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक माना है[1]।

२५-रामनाम और ब्रह्मचर्य

महात्मा गांधी ने रामनाम, प्रार्थना, उपासना, ईश्वर में विश्वास—इनको ब्रह्मचर्य-रक्षा की साधना में अनन्य स्थान दिया है। वे लिखते हैं : "ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते हैं, वे तो खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा तो रामनाम है[2]।" "विषय-वासना को जीतने का रामबाण उपाय तो रामनाम या ऐसा कोई मंत्र है।......जिसकी जैसी भावना हो, वैसे ही मंत्र का वह जप करे।......हम जो मंत्र अपने लिए चुनें, उसमें हमें तल्लीन हो जाना चाहिए[3]।" "जब तुम्हारे विकार तुम पर हावी होना चाहें, तब तुम घुटनों के बल झुक कर भगवान से मदद की प्रार्थना करो[4]।" "विकाररूपी मल की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक जीवन-जड़ी है[5]।" "जो ......ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, वे अपने प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उनके निराश होने का कोई कारण नहीं[6]।" गांधीजी के अनुसार राम कहिए अथवा ईश्वर "शुद्ध चैतन्य है[7]।" "वह पहले था, आज भी मौजूद है, आगे भी रहेगा। न कभी पैदा हुआ न किसी ने उसे बनाया[8]"।

जैन दर्शन में रामनाम के स्थान में नवकार मंत्र है। नवकार मन्त्र के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह चौदह पूर्व अर्थात् सारे जैन-वाङ्मय का सार है। इस मन्त्र के सम्बन्ध में प्राचीन ऋषियों ने कहा है—"यह सर्व पाप का प्रणाश करनेवाला है। सर्व मङ्गलों में प्रधान मङ्गल है।"

> एसो पंच-नमोक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो ।
> मंगलाणंच सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥

यह नवकार मन्त्र इस प्रकार है : "नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व-साहूणं।"

इस मन्त्र में पहले पद में अरिहंतों को नमस्कार किया जाता है। जिन्होंने आत्मा के राग-द्वेष आदि समस्त शत्रुओं का हनन कर इस देह में ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, उन्हें अरिहंत कहते हैं। अरिहंतों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे स्वयं संबुद्ध, पुरुषोत्तम, लोकप्रदीप, अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता, संयमी जीवन के दाता, बोधिदाता, धर्मसारथी, अप्रतिहत श्रेष्ठ ज्ञानदर्शन के धारक, जिन, देह होते हुए भी मुक्त एवं सर्वज्ञ होते हैं। वे सारे भय स्थानों को जीत चुके होते हैं।

दूसरे पद में सिद्धों को नमस्कार किया जाता है। जो देह से मुक्त हो, जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छुटकारा पा चुके हैं और मोक्ष को पहुंच चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं। सिद्ध अशरीर—"शरीर-रहित होते हैं। वे चैतन्यघन और केवलज्ञान-केवलदर्शन से संयुक्त होते हैं। साकार

१—तत्त्वार्थसूत्र ९.१९ भाष्य :

(क) अस्मात्षड्विधादपि बाह्यात्तपसः सङ्गत्यागशरीरलाघवेन्द्रियविजयसंयमरक्षणकर्मनिर्जरा भवन्ति।

(ख) निशीथ भाष्य गाथा ४७४ :

> णिवितिगणिब्बले ओमे, तह उद्धट्ठाणमेव उब्भामे।
> वेयावच्चा हिंडण, मंडलि कप्पट्ठियाहरणं॥

२—देखिए पीछे पृ० ६७

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०३

४—रामनाम पृ० ६

५—गांधी वाणी पृ० ७४

६—देखिए पीछे पृ० ६३

७—रामनाम पृ० २३

८—वही पृ० २२

और अनाकार उपयोग उनका लक्षण होता है। सिद्ध केवलज्ञान से संयुक्त होने से सर्वभाव, गुणपर्याय को जानते हैं और अपनी अनन्त केवल दृष्टि से सर्वभाव देखते हैं। न मनुष्य के ऐसा सुख होता है और न सब देवों के, जैसा कि अव्याबाध गुण को प्राप्त सिद्धों के होता है। सिद्धों का सुख अनुपम होता है। उनकी तुलना नहीं हो सकती। निर्वाण-प्राप्त सिद्ध सदा काल तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुख को प्राप्त कर अव्याबाधित सुखी रहते हैं। सर्व कार्य सिद्ध होने से वे सिद्ध हैं, सर्व तत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं, संसार-समुद्र को पार कर चुके होने से पारगत हैं, हमेशा सिद्ध रहेंगे इससे परंपरागत हैं। वे सब दुःखों को छेद चुके होते हैं। वे जन्म, जरा और मरण के बन्धन से विमुक्त होते हैं। वे अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं। अनन्त सुख को प्राप्त हुये वे अनन्त सुखी वर्तमान अनागत सभी काल में वैसे ही सुखी रहते हैं[1]।"

तीसरे पद में आचार्य की वन्दना की जाती है। जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का आचरण दें, उन्हें आचार्य कहते हैं।

चौथे पद में उपाध्यायों को नमस्कार किया जाता है। जो अज्ञान-अन्धकार में भटकते हुए प्राणियों को विवेक—विज्ञान देते हैं—शास्त्र-ज्ञान देते, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों की सम्यक् आराधना करते हैं, उन्हें साधु कहते हैं। पाँचवें पद में ऐसे साधुओं को नमस्कार किया जाता है।

इसके उपरान्त चतुर्विंशतिस्तव में सिद्धों की स्तुति, वन्दना और नमस्कार किया जाता है :

एवं मए अभिथुआ, विहुय-रयमला पहीण-जरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु॥
कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाभं, समाहि-वरमुत्तमं दिंतु॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥

—जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्मरूप धूल के मल से रहित हैं, जो जरा-मरण दोनों से सर्वथा मुक्त हैं, वे अन्तः शत्रुओं पर विजय पानेवाले धर्मप्रवर्तक चौबीसों तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों।

—जिनकी इन्द्रादि देवों तथा मनुष्यों ने स्तुति की है, वन्दना की है, पूजा—अर्चा की है, और जो अखिल संसार में सबसे उत्तम हैं, वे सिद्ध—तीर्थंकर भगवान मुझे आरोग्य—सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शान्ति, बोधि—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ, तथा उत्तम समाधि प्रदान करें।

—जो अनेक कोटाकोटि चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयंभूरमण जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, वे सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि अर्पण करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि—मोक्ष प्राप्त हो।

इस तरह जैन धर्म में भी साधक के लिए आवश्यक है कि वह रोज मन्त्र-स्मरण, प्रार्थना, उपासना करे।

२६-ब्रह्मचर्य और ध्येयवाद

संत विनोबा ने दुष्कर ब्रह्मचर्य सुकर कैसे हो जाता है—इस पर एक विचार, बार-बार दिया है, वह इस प्रकार है :

"अपने अनुभव से मेरा यह मत स्थिर हुआ कि यदि आजीवन ब्रह्मचर्य रखना है, तो ब्रह्मचर्य की कल्पना अभावात्मक (Negative) नहीं होनी चाहिए। विषय-सेवन मत करो, कहना अभावात्मक आज्ञा है ; इससे काम नहीं बनता। सब इन्द्रियों की शक्ति को आत्मा में सर्व करो, ऐसी भावात्मक (Positive) आज्ञा की आवश्यकता है। *ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में, यह मत करो, इतना कहकर काम नहीं बनता।* यह करो, कहना चाहिए। 'ब्रह्म' अर्थात् कोई भी बृहत् कल्पना। कोई मनुष्य अपने बच्चे की सेवा उसे परमात्मस्वरूप समझ कर करता है और वह इच्छा रखता है कि उसका लड़का सत्पुरुष निकले, तो वह पुत्र ही उसका ब्रह्म हो जाता है। उस बच्चे के निमित्त से उसका ब्रह्मचर्य

१—ओपपातिक सू० १७८-१७९

आसान होगा।......इसी प्रकार ब्रह्मचारी मनुष्य का जीवन तप से—संयम से—ओतप्रोत रहता है। पर उसके सामने रहनेवाली विशाल कल्पना के हिसाब से सारा संयम उसे अल्प ही जान पड़ता है। इन्द्रिय-निग्रह मैं करता हूँ, ऐसा कर्तरि प्रयोग न रहकर इन्द्रिय-निग्रह किया जाता है, यह कर्मणि प्रयोग बच जाता है।...नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाले की आँखों के सामने कोई विशाल कल्पना होनी चाहिए, तभी ब्रह्मचर्य आसान होता है। ब्रह्मचर्य को मैं विशाल ध्येयवाद और तदर्थ संयमाचरण कहता हूँ[1]।"

श्री मशरूवाला इसी विचार को और भी स्पष्ट रूप से रख पाये हैं :

"......जॉन डाल्टन से बुढ़ापे में किसी ने उनसे पूछा—'आप किस उद्देश्य से अविवाहित रहे?' वे इस प्रश्न से विचार में पड़ गये। थोड़ी देर बाद बोले—'भाई, आज ही आपने यह प्रश्न सुझाया है। मेरा जीवन विज्ञान के अध्ययन में कैसे बीत गया, इसका मुझे पता ही नहीं चला। मेरे मन में यह विचार ही कभी पैदा नहीं हुआ कि विवाह किया जाय या न किया जाय, अथवा मैं विवाहित हूँ या अविवाहित।'

"हमारे पुराणों में अत्रि ऋषि और सती अनसूया की कथा भी......ऐसी ही आदर्शवाली है। वे विवाहित दम्पति थे, लेकिन ऋषि का यौवनकाल अपने अभ्यास में और सती की युवावस्था ऋषि के लिए सुविधाएँ जुटाने और काम-काज में ऐसी बीत गई कि बुढ़ापा कब आ गया, इसका उन्हें पता नहीं चला। पुराणकार कहते हैं कि एक बार अत्रि ऋषि अपने अध्ययन में लगे हुये थे, इतने में दिये में तेल खतम हो गया। उन्होंने तेल माँगने की इच्छा से ऊपर देखा, तो थकावट के कारण अनसूया की आँख लगी मालूम हुई। अत्रि ने जब अनसूया की तरफ ध्यान से देखा तो वे बूढ़ी जान पड़ीं। इसलिए उन्होंने अपनी दाढ़ी की तरफ देखा, तो वह भी सफेद दिखाई दी। तारुण्य-अवस्था कब चली गई, इसका अत्रि को पता ही नहीं चला। इस कथा में काव्य की अतिशयोक्ति जरूर होगी, लेकिन ब्रह्मचारी के लिए अभ्यासपूर्ण जीवन बिताने का एक उत्तम आदर्श बताया गया है, और डाल्टन की अनुभव वाणी का यह कथा समर्थन करती है[2]।"

श्री विनोबाजी और मशरूवाला ने जो विचार दिया है, वह ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में बहुत पुराना है। निशीथ सूत्र की चूर्णि में निम्न कथा मिलती है, जो इस विषय को स्वयं स्पष्ट कर देती है :

"एक गृहस्थ लड़की निठल्ली और सुखपूर्वक रहती थी। वह तैल-मर्दन, उबटन, स्नान, विलेपन आदि शारीरिक शृंगार में परायण थी। बनाव-शृंगार के कारण उसके मन में मोह जाग्रत हुआ। वह अपनी धाय माँ से बोली—"मेरे लिये कोई पुरुष ले आवो।" उस धाय माँ ने उसकी माँ को जाकर कहा। माँ ने उसके पिता को कहा। पिता ने अपनी पुत्री को बुला कर कहा—"पुत्री! ये दासियाँ अपना सब धन अपहरण करके ले जाती हैं, अतः तुम स्वयं कोठे की देखरेख करो। उसने कहा—ठीक, और कोठे के देख-रेख का काम करने लगी। वह किसी को भोजन देती, किसी को उसकी तनख्वाह वृत्ति और किसी को चावल देती। कितना कोठार में आया है, कितना व्यय हुआ है, इस प्रकार दिनभर काम में व्यतीत हो जाता। वह दिनभर के काम से खूब थक जाती और अपनी शय्या पर आकर सो जाती। एक दिन धाय माँ ने कहा—"बेटी पुरुष लाऊँ?" वह बोली—"मुझे पुरुष से क्या काम? अब मुझे सोने दो"।

"इस प्रकार गीतार्थी के भी दिनभर सूत्रार्थ में लगे रहने से, स्वाध्याय में तन्मय रहने से काम-संकल्प उत्पन्न नहीं होते[3]।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी ध्येय में रात-दिन लगे रहने से ब्रह्मचर्य का पालन एक आसान चीज बन जाती है। विनोबाजी ने सब से विशाल ध्येय परमेश्वर का साक्षात्कार करना कहा है। वे लिखते हैं—

१—विनोबा के विचार (दू० भा०; च० आ०) पृ० १६०-६१

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा पृ० २४-२६

३—नि० गा० ४७४ चूर्णि :

एगस्स कुडुंबिगस्स धूया णिक्कम्मवावारा सुहासणत्था अच्छति। तस्स य अब्भंगुव्वट्टण-ण्हाण-विलेवणादिपरायणाए मोहुब्भवो। अम्मधातिं भणति। आणेहि मे पुरिसं। तीए अम्मधातीए माउए से कहियं। तीए वि पिउणो। पिउणा वाहिरत्ता भणिया। पुत्तिए! एताओ दासीओ सव्वधणादि अवहरंति, तुमं कोठायारं पडियरए, तह त्ति पडिवन्न, सा-जाव अण्णस्स भत्तयं देति, अण्णस्स वित्ति, अण्णस्स तंदुला, अण्णस्स आयं देक्खति, अण्णस्स वयं, एवमादिकिरियासु वावडाए दिवसो गतो। सा अतीव खिण्णा रयणीए णिवण्णा अम्मधातीते भणिता—आणेमि ते पुरिसं? सा भणेति—ण मे पुरिसेण कज्जं, णिद्दं लहामि। एवं गीयत्थस्स वि सुत्तपोरिसिं दतस्स अतीव सुत्तत्थेसु वावडस्स कामसंकप्पो ण जायइ। भणिं च "काम! जानामि ते मूलं" सिलोगो॥

"किसी भी विशाल ध्येय के वास्ते भी ब्रह्मचर्य की साधना की जाती है। जैसे, भीष्म ने अपने पिता के लिए ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी।......उनका जो आरंभ हुआ, वह ब्रह्म की प्राप्ति के लिए नहीं हुआ। फिर भी उनका जो ध्येय था, वह बड़ा ही था। अपने पिता के लिए उन्होंने त्याग किया और फिर उसका अर्थ उन्होंने गहरा सोच लिया। उसी तरह गांधीजी ने भी समाज की सेवा के लिए ब्रह्मचर्य का प्रारंभ किया। ......लेकिन बाद में उनका विचार उस चीज की गहराई में पहुँचा। गांधीजी ने भी जो प्रारम्भ किया, वह अन्तिम उद्देश्य से—ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं किया, बल्कि समाज-सेवा के लिए किया। वह भी एक विशाल ध्येय है। फिर उनका विचार विकसित होता गया।

"इसी तरह ब्रह्मचर्य दूसरी बातों के लिए भी होता है।......तन्मयता में एक बड़ी शक्ति है। किसी एक ध्येय में तन्मय हो जाओ, रात दिन वही बात सूझे, तो ब्रह्मचर्य सध सकता है। माना कि वह पूरा ब्रह्मचर्य नहीं है। कारण, जब तक ब्रह्मनिष्ठा उत्पन्न नहीं होती है, तब तक पूरा ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकेगा[१]।"

जैन धर्म में सबसे विशाल ध्येय है आत्म-शोधन। जो रात-दिन आत्म-शोधन में लगा रहता है, उसका ब्रह्मचर्य अपने आप सधता है।

२७-ब्रह्मचर्य और आत्मघात

ऐसे अवसर आ सकते हैं, जब किसी बहिन पर बलात्कार होने की परिस्थिति पैदा हो गई हो। ऐसी स्थिति में अपने शील की रक्षा के लिए बहिन क्या करे?

ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देते हुए, एक बार महात्मा गांधी ने कहा था: "...बहुत स्त्रियाँ यह मानती हैं कि अगर उनकी रक्षा करनेवाला कोई तीसरा आदमी न हो या वे खुद कटारी या बन्दूक वगैरह का इस्तेमाल करना न सीखी हों, तो उनके लिए जालिम के वश में होजाने के सिवा और कोई उपाय ही नहीं। ऐसी स्त्री से मैं जरूर कहूँगा कि उसे पराये के हथियार पर भरोसा रखने की कोई जरूरत नहीं। उसका शील ही उसकी रक्षा कर लेगा। मगर वैसा न हो सके, तो कटारी वगैरह काम में लेने के बजाय, वह आत्म-हत्या कर सकती है। अपने को कमजोर या अबला मान लेने की कोई आवश्यकता नहीं[२]।" (३-७-'३२)

उन्होंने दूसरी बार कहा—"जिसका मन पवित्र है, उसे विश्वास रखना चाहिए कि पवित्रता की रक्षा ईश्वर जरूर करेगा। हथियारों का आधार झूठा है। हथियार छीन लिए जायँ तो? अहिंसा-धर्म का पालन करनेवाला हथियारों का भरोसा न रखे; उसका हथियार उसकी अहिंसा, उसका प्रेम है।" "......जो अहिंसा-धर्म का पालन करता है, वह मरकर ही अपनी रक्षा करेगा, मारकर नहीं। स्त्रियों को द्रौपदी की तरह विश्वास रखना चाहिए कि उनकी पवित्रता (यानी ईश्वर) उनकी रक्षा करेगी ...[३]।" (३१-७-'३२)

इसी समस्या पर विचार करते हुए उन्होंने बाद में लिखा: "यदि लड़कियों को मालूम होने लगे कि उनकी लाज और धर्म पर हमला होने का खतरा है, तो उनमें उस पशु मनुष्य के आगे आत्म-समर्पण करने के बजाय मर जाने तक का साहस होना चाहिए। कहा जाता है कि कभी-कभी लड़की को इस तरह बांधकर या मुंह में कपड़ा ठूंसकर विवश कर दिया जाता है कि वह आसानी से मर भी नहीं सकती, जैसे कि मैंने सलाह दी है; लेकिन मैं फिर भी जोरों के साथ कहता हूँ कि जिस लड़की में मुकाबिले का दृढ़ संकल्प है, वह उसे असहाय बनाने के लिए बांधे गये सब बन्धनों को तोड़ सकती है। दृढ़ संकल्प उसे मरने की शक्ति दे सकता है[४]।" (३१-१२-'३८)

महात्मा गांधी ने एक बार यह भी कहा—"आत्म-हत्या करने का धर्म अपने आप सूझना चाहिए। कोई स्त्री बलात्कार न होने देने के लिए आत्म-हत्या करना पसन्द न करे, तो मुझे या तुम्हें यह कहने का हक नहीं है कि उसने अधर्म किया[१]।" (३-७-'३२)

महात्मा गांधी ने शील-रक्षा के लिए आत्म-हत्या की राय दी, उसके पीछे निम्न भावना थी:

"कोई औरत आत्म-समर्पण करने के बजाय निश्चय ही आत्म-हत्या करना ज्यादा पसंद करेगी। दूसरे शब्दों में जिंदगी की मेरी योजना में आत्म-समर्पण को कोई जगह नहीं। लेकिन मुझसे यह पूछा गया था कि आत्म-हत्या या खुदकुशी कैसे की जाय? मैंने तुरंत जवाब दिया

१—महादेवभाई की डायरी (पहला भाग) पृ० २६४

२—वही पृ० ३३०

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ११५

४—महादेवभाई की डायरी (पहला भाग) पृ० २६४

कि आत्म-हत्या के साधन सुझाना मेरा काम नहीं। और ऐसी हालतों में आत्म-हत्या की स्वीकृति देने के पीछे यह विश्वास था, और है कि जो आत्म-हत्या करने के लिए भी तैयार है, उनमें ऐसे मानसिक विरोध और आत्मा की ऐसी पवित्रता के लिए वह जरूरी ताकत मौजूद है, जिसके सामने हमला करनेवाला अपने हथियार डाल देता है[१]।" (२७-१-'४७)

विकारी व्यक्ति के लिए आत्म-हत्या किस तरह धर्म रूप में उत्पन्न होती है, इसपर प्रकाश डालते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है :

"साधारण तौर से जैन धर्म में भी आत्मघात को पाप माना जाता है। परन्तु जब मनुष्य को आत्मघात और अधोगति के बीच चुनाव करने का प्रसंग आवे, तब यही कहा जा सकता है कि उस हालत में उसके लिए आत्म-घात ही कर्त्तव्यरूप है। एक उदाहरण लीजिए किसी पुरुष में विकार इतना बढ़ जाय कि वह किसी स्त्री की आबरू लेने पर उतारू हो जाय और अपने आप को रोकने में असमर्थ हो, लेकिन यदि उस वक्त उसमें थोड़ी भी बुद्धि जाग्रत हो और वह अपनी स्थूल देह का अन्त करदे, तो वह अपने आप को इस नरक से बचा सकता है[२]।" (१२-१२-'४८)

इस सम्बन्ध में भगवान महावीर के विचार निम्न रूप में प्राप्त हैं :

"जिस भिक्षु को ऐसा हो कि मैं निश्चय ही उपसर्ग से घिर गया हूँ और शीत-स्पर्श को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ, वह संयमी अपने समस्त ज्ञान-बल से उस अकार्य को न करता हुआ, अपने को संयम में अवस्थित करे। (अगर उपसर्ग से बचने का कोई उपाय नजर नहीं आये तो) तपस्वी के लिए श्रेय है कि वह कोई वेहासनादि अकाल-मरण स्वीकार करे। निश्चय ही यह मरण भी उस साधक के लिए काल-पर्याय—समय-प्राप्त मरण है। इस मरण में भी वह साधक कर्म का अन्त करनेवाला होता है। यह मरण भी मोह-रहित व्यक्तियों का आयतन—स्थल रहा है। यह हितकारी है, सुखकारी है, क्षेमकर है, निःश्रेयस है और अनुगामी—पर-जन्म मे शुभ फल देनेवाला है[३]।"

टीकाकार ने मूल के 'सीयफासं' (शीत-स्पर्श) शब्द का अर्थ किया है—स्त्री आदि का उपसर्ग (स्त्र्याद्युपसर्गैर्वा)। 'विहमाइए' का अर्थ किया है—विहायोगमनादि मरण। वे लिखते हैं—"मन्दसंहनन के कारण यदि भिक्षु के मन में ऐसा अध्यवसाय हो कि मैं स्त्री-उपसर्ग से स्पृष्ट हो गया हूँ अतः मेरे लिए शरीर छोड़ना ही श्रेय है ; मैं स्पर्श को सहन करने में असमर्थ हूँ तो उसे भक्तपरिज्ञा, इङ्गित, पादोपगमन मरण करना चाहिए। यदि उसे ऐसा लगे कि कालक्षेप का अवसर नहीं तो वह वेहानस, गार्द्धपृष्ठ जैसे अपवादिक मरण को प्राप्त हो। यदि साधु को अर्द्ध-कटाक्ष, निरीक्षण आदि के उपसर्ग हो तो वह स्वयं ये कार्य न करे। अपनी आत्मा को व्यवस्थित रखे। यदि उसे स्त्री द्वारा उपसर्ग प्राप्त हो और विष-भक्षण आदि उपायों के करने में तत्पर होते हुए भी वह स्त्री उसे नहीं छोड़े तो ऐसे उपसर्ग के समय ऐसा मरण ही श्रेय है। जैसे किसी को अपने आदमियों द्वारा सपत्नीक कोठे में प्रविष्ट कर दिया जावे तथा प्रणय आदि भावों से वह प्रेयसी भोग की प्रार्थना करने लगे और वहाँ से निकलने का उपाय नहीं हो तो आत्मोद्बन्धन के लिए वह भिक्षु विहाय मरण को प्राप्त हो, विष-पान करले, गिर पड़े अथवा सुदर्शन की तरह प्राणों को छोड़े।

"यहाँ प्रश्न हो सकता है—वेहासनादि बालमरण कहे गये हैं। वे अनर्थ के हेतु हैं। आगम में कहा है : 'इच्चेएणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ जाव अणाइयं च णं अणवयग्गं चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जो भुज्जो परियट्टइ' त्ति"। फिर इस मरण की संगति कैसे ? इसका उत्तर यह है कि अर्हतों ने एकान्ततः न किसी बात का प्रतिषेध किया है और न किसी का प्रतिपादन। एक मैथुन ही ऐसा है, जिसका सदा प्रतिषेध है। द्रव्यक्षेत्रकाल भाव के अनुसार जिसका प्रतिषेध होता है, वह प्रतिपाद्य हो जाता है। उत्सर्ग मार्ग भी गुण के लिए है और अपवाद मार्ग भी गुण के लिए। जो कालज्ञ है उसके लिए मैथुन से बचने के अभिप्राय से वेहानसादि मरण भी कालप्राप्त मरण की तरह ही है[४]।"

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५१

२—वही पृ० ७६

३—आचाराङ्ग १।७.४ : जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए से वसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए सेऽवि तत्थ विअंतिकारए इच्चेयं विमोहायतणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं ति बेमि।

४—आचाराङ्ग १।७.४ की टीका

स्थनाङ्ग सूत्र में बारह प्रकार के मरण का उल्लेख है—

(१) वलन्मरण—परीषह आदि की बाधा के कारण संयम से भ्रष्ट होकर मरना।

(२) वशार्त्त मरण—स्निग्ध दीपक-कलिका के अवलोकन में आसक्त पतंग आदि के मरण की तरह, इन्द्रियों के वश में होकर मरना।

(३) निदान मरण—समृद्धि और भोग आदि की कामना करते हुए मरना।

(४) तद्भव मरण—जिस भव में हो, उसी भव की आयु का बन्ध करके मरना।

(५) गिरिपतन मरण—पर्वत से गिरकर मरना।

(६) तरुपतन मरण—वृक्ष से गिर कर मरना।

(७) जलप्रवेश मरण—जल में प्रविष्ट होकर मरना।

(८) अग्निप्रवेश मरण—अग्नि में प्रवेश कर मरना।

(९) विषभक्षण मरण—विष खाकर मरना।

(१०) शस्त्रावपाटन मरण—छुरिकादि शस्त्र से अपने शरीर को विदीर्ण कर मरना।

(११) वैहायस मरण—वृक्ष की शाखा से बन्धकर—लटक कर मरना।

(१२) गृध्रस्पृष्ट मरण—गृद्धो द्वारा स्पृष्ट होकर मरना।

इन ऊपर के मरणो के सम्बन्ध में कहा गया है कि भगवान महावीर ने कभी इनकी प्रशंसा नही की, कीर्ति नही की, और अनुमति नहीं दी। कारण होने पर केवल अन्तिम दो को निवारित नही किया[१]। कारण का खुलासा करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि 'शीलरक्षणार्थं' अर्थात् शील-रक्षण आदि प्रयोजन के लिए अन्तिम दो मरण निवारित नहीं हैं। एक प्राचीन गाथा में इन दोनो मरणो को अनुज्ञात कहा है[२]।

उपर्युक्त विवेचन से फलित है कि जैन धर्म के अनुसार संयम से भ्रष्ट होकर मरना, इद्रियों के वश होकर मरना, गर्ह्य है और उन्हें बालमरण कहा है। वैसे ही संयम की रक्षा के लिए वैहायस, गृद्धस्पृष्ट मरण की अनुज्ञा भी दी है।

यह यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैन साध्वियां अपने पास विहार के समय रस्सियां रखती हैं और शील विषयक उपसर्ग के उत्पन्न होने पर उनके द्वारा फांसी खाकर शील-रक्षा कर सकती हैं।

२८-ब्रह्मचर्य और भावनाएँ

जैन धर्म में ऐसी भावनाएं—अनुप्रेक्षाएं—दृष्टियों का भी वर्णन मिलता है, जिनका बार-बार चिन्तन करने से ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य में दृढ़ रह सकता है। उदाहरणस्वरूप :

(१) त्यागे हुए भोगों को पुनः भोगने की इच्छा करना वमन की हुई वस्तु को पीना है। इससे तो मरना भला[३]।

१—ठाणाङ्ग सू० १०२ :

दो मरणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं वण्णियाइं णो णिच्च कित्तियाइं णो णिच्च बुइयाइं णो णिच्चं पसत्थाइं णो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं भवति, कारणेणं पुण अप्पडिकुट्ठाइं त जहा—वेहाणसे चेव गिद्धपिट्ठे चेव।

२—ठाणाङ्ग सू० १०२ की टीका में उद्धृत :

गद्धादिभक्खणं गद्धपट्ठमुब्बंधणादि वेहासं।
एते दोन्निऽवि मरणा कारणजाए अणुन्नाया॥

३—उत्तराध्ययन २२ : ४२-४३ :

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे॥

(२) यदि समभावपूर्वक विचरते हुए भी यह मन कदाचित् बाहर निकल जाय तो साधक सोचे—"वह न मेरी है और न मैं उसका हूँ[१]।"

(३) नरक में गये हुए दुःख से पीड़ित और निरन्तर क्लेशवृत्तिवाले जीव की जब नरक सम्बन्धी पल्योपम और सागरोपम की आयु भी समाप्त हो जाती है, तो फिर मेरा यह मनोदुःख तो कितने काल का है ?[२]

(४) यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वती है। यदि विषय-तृष्णा इस शरीर से न जायगी, तो मेरे जीवन के अन्त में तो अवश्य जायगी[३]।

(५) जब कभी इन मनोरम कामभोगों को छोडकर चल बसना है। इस संसार में धर्म ही त्राण है। धर्म के सिवा अन्य वस्तु नहीं है जो दुर्गति से रक्षा कर सके[४]।

(६) जैसे घर में आग लगने पर गृहपति सार वस्तुओं को निकालता है और असार को छोड़ देता है, उसी तरह जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए इस संसार में अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा[५]।

(७) जिसमें मैं मूर्च्छित हो रहा हूँ—वह जीवन और रूप विद्युत्सम्पात की तरह चंचल है[६]।

(८) स्त्री का शरीर जिसके प्रति मैं मोहित हूँ, अशुचि का भण्डार है[७]।

१—दशवैकालिक २. ४ :

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अ हं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥

२—दशवैकालिक चू० १. १५ :

इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो, दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥

३—वही १. १६ :

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ, असासया भोगपिवास जंतुणो।
न मे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥

४—उत्तराध्ययन १४. ४० :

मरिहिसि रायं जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥

५—वही १९. २३-२४ :

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ ॥
एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहि अणुमन्निओ ॥

६—वही १८. १३ :

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचञ्चलं।
जत्थ तं मुज्झसि रायं, पेच्चत्थं नाव बुज्झसि ॥

७—आचाराङ्ग १, २-५ :

अंतो-अंतो पूइदेहंतराणि पासइ पुढोविसवंताइं पंडिए पडिलेहाए

(९) जीव जो शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है, उन कर्मों से संयुक्त हो परलोक को जाता है। उसके दुःख में दूसरा कोई भाग नहीं बंटा सकता। मनुष्य को स्वयं अकेले को ही दुःख भोगना पड़ता है। कर्म, करनेवाले का ही पीछा करता है; उसे ही कर्म-फल भोगना पड़ता है[१]।

(१०) ये काम-भोग त्राणरूप नहीं, शरणरूप नहीं। कभी तो मनुष्य ही काम-भोगों को छोड़कर चल देता है। और कभी काम-भोग ही मनुष्य को छोड़ कर चल देते हैं। ये काम-भोग अन्य हैं और मैं अन्य हूँ। फिर मैं इन काम-भोगों में मूच्छित क्यों होता हूँ ![२]

(११) यह शरीर अनित्य है, अशुचिपूर्ण है और अशुचि से उत्पन्न है। यह आत्मारूपी पक्षी का अस्थिर वास है और दुःख तथा क्लेश का भाजन है। अतः मुझे मानुषिक काम-भोग में आसक्त, रक्त, गृद्ध, मूच्छित नहीं होना चाहिए और न अप्राप्त भोगों को प्राप्त करने की लालसा करनी चाहिए[३]।

(१२) विषय और स्त्रियों में आसक्त जीव स्थावर और जंगम योनियों में बार-बार भ्रमण करता है[४]।

(१३) जो सर्व साधुओं को मान्य संयम है, वह पाप का नाश करनेवाला है। इस संयम की आराधना कर बहुत जीव संसार-सागर से पार हुये हैं और बहुतों ने देव-भव प्राप्त किया है[५]।

(१४) जैसे लेपवाली भित्ति लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है, उसी तरह अनशनादि तप द्वारा अपनी देह को कृश करना चाहिए[६]।

१—(क) उत्तराध्ययन १८.१७ :

तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छइ उ परं भवं ॥

(ख) वही १३.२३ :

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥

२—सूत्रकृताङ्ग २, १.१३ :

इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहन्ति। अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि। से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ?

३—(क) उत्तराध्ययन १९.१३ :

इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं ॥

(ख) ज्ञाताधर्म कथाङ्ग ८ :

तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया, माणुस्सएसु कामभोगेसु।
सज्जह रज्जह गिज्झह, मुज्झह अज्झोववज्जह ॥

४—सूत्रकृताङ्ग १, १२.१४ :

जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरन्ति ॥

५—वही १, १५. २४ :

जं मयं सव्वं साहूणं, त मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते ॥

६—वही १, २१.१४ :

धुणिया कुलियं व लेववं।
किसए देहमणसणा इह ॥

(१५) मुनि आत्मा को कसना चाहिए। उसको जीर्ण—पतली करना चाहिए। तप से शरीर को क्षीण करना चाहिए[१]।

(१६) जिन्हें तप, संयम और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे शीघ्र ही अमर-भवन को प्राप्त करते हैं[२]।

(१७) मनुष्यों के सब सदाचार सफल होते हैं। जीवन अशाश्वत है। जो इसमें पुण्य, सत्कर्म और धर्म नहीं करता, वह मृत्यु के मुख में पड़ने के समय पश्चात्ताप करता है[३]।

(१८) भोग से ही कर्मों का लेप—बन्धन—होता है। भोगी को जन्म-मरण रूपी संसार में भ्रमण करना पड़ता है, जब कि अभोगी संसार से छूट जाता है[४]।

(१९) काम-भोग शल्य रूप हैं। काम-भोग विषरूप हैं। काम-भोग जहरी नाग के सदृश हैं। भोगों की प्रार्थना करते-करते जीव विचारे उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गति में चले जाते हैं[५]।

(२०) आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने और न करनेवाली है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र—शत्रु है[६]।

(२१) अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध कर। बाहरी युद्ध करने से क्या मतलब? दुष्ट आत्मा के समान युद्ध योग्य दूसरी वस्तु दुर्लभ है[७]।

१—आचाराङ्ग १, ४।३ : ४-५ :

कसेहि अप्पाणं।
जरेहि अप्पाणं॥
इह आणाकंखी पंडिए।
अणिहे एगमप्पाणं।
सपेहाए धुणे सरीरगं।

२—दशवैकालिक ४.२८ :

पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो, संजमो अ खन्ती अ बंभचेरं च॥

३—उत्तराध्ययन १३. १०, २१ :

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं, कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं, आया ममं पुण्णफलोववेए॥
इह जीविए राय असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंमि लोए॥

४—वही २५. ४१ :

उवलेवो होई भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई॥

५—वही ९. ५३ :

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं॥

६—वही २०. ३७ :

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

७—आचाराङ्ग ५।३ ; १५३ :

इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
जुद्धारिहं खलु दुल्लभं।

(२२) तू ही तेरा मित्र है। बाहर क्यों मित्र की खोज करता है? हे पुरुष! अपनी आत्मा को ही वश में कर। ऐसा करने से तू सर्व दुःखों से मुक्त होगा[१]।

आगम में कहा है—"जिसकी आत्मा इस प्रकार दृढ़ होती है, वह देह को त्यज देता है, पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ता। इन्द्रियाँ (विषय-सुख) ऐसे दृढ़ धर्मी पुरुष को उसी तरह विचलित नहीं कर सकतीं, जिस तरह महावायु सुदर्शन गिरि को[२]।" "जिस तरह नौका अथाह जल को पार कर किनारे लगती है, उसी तरह जिसकी अन्तर आत्मा भावनारूपी योग—चिन्तन से विशुद्ध निर्मल होती है, वह संसार-समुद्र को तिर कर—सर्व दुःखों को पार कर, परम सुख को प्राप्त करता है। क्षुर अपने अन्त पर—धार पर चलता है और चक्का भी—पहिया भी अपने अन्त—किनारों पर चलता है। धीर पुरुष भी अन्त का सेवन करते हैं—एकान्त निश्चित सत्यों पर जीवन को स्थिर करते हैं और इसीसे वे संसार का—बार-बार जन्म-मरण का अन्त करते हैं[३]।"

२९-ब्रह्मचर्य और निरन्तर संघर्ष

संत टॉल्स्टॉय ने कहा है: "जो पतन से बचा हुआ है, उसे चाहिए कि इसी तरह बचे रहने के लिए वह अपनी तमाम शक्तियों का उपयोग करे। क्योंकि गिर जाने पर उठना सैकड़ों नहीं, हजारों गुना कठिन हो जायगा। संयम का पालन करना अविवाहित और विवाहित-दोनों के लिए श्रेयस्कर है।

"मनुष्य का कर्त्तव्य है कि संयम की आवश्यकता को समझ ले। वह समझ ले कि विवेकशील मनुष्य के लिए विकारों से झगड़ना अप्राकृतिक नहीं, बल्कि उसके जीवन का पहला नियम है। मनुष्य केवल पशु नहीं, एक विवेकशील प्राणी है।

"प्रकृति ने मनुष्य के अन्दर वैषयिकता और अन्य पाशविक वृत्तियों के साथ-साथ ब्रह्मचर्य और पवित्रता की पोषक आध्यात्मिक वृत्ति भी दी है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उसकी रक्षा और सवर्धन करे।

"सत्य और सत् के लिए सत् का प्रयत्न करते रहना। अपनी पवित्रता की रक्षा में सारी शक्ति लगा देना। प्रलोभनों के साथ खूब झगड़ना, किसी हालत में हिम्मत न हारना। लगाम को कभी ढीली न करना।

"मेरा तो उपदेश यही है और इस पर, मैं खूब जोर दूँगा कि अपने जीवन के ध्येय को समझो। याद रक्खो कि शारीरिक विषय-सुख नहीं बल्कि ईश्वर के आदेशों का पालन मनुष्य के जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य है। विलासयुक्त नहीं, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करो।

"ब्रह्मचर्य वह आदर्श है, जिसके लिए प्रत्येक मनुष्य को हर हालत में और हर समय प्रयत्न करना चाहिए। जितना ही तुम उसके नजदीक जाओगे उतना ही अधिक परमात्मा की दृष्टि में प्यारे होगे और अपना अधिक कल्याण करोगे। विलासी बन कर नहीं, बल्कि पवित्रतायुक्त जीवन व्यतीत करके ही मनुष्य परमात्मा की अधिक सेवा कर सकता है[४]।

१—आचाराङ्ग ३।३.११७-८:

पुरिसा! तुममेव तुमं मितं, किं बहिया मित्तमिच्छसी?
पुरिसा! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि॥

२—दशवैकालिक चू० १. १७:

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ, चइज्जदेहं न हु धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिया, उवितवाया व सुदंसणं गिरिं॥

३—सूत्रकृताङ्ग १, १५ : ६, १४-१५ :

भावणा जोगसुद्धप्पा, जले नावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई॥
से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अन्तए।
अन्तेण खुरो वहई, चक्कं अन्तेण लोट्टई॥
अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह॥

४—स्त्री और पुरुष पृ० १५०-१५३

"अर्थशास्त्र के क्षेत्र में जिस प्रकार अकाल पीड़ित को एक बार या अनेक बार भोजन करा देने से उसके पेट का सवाल हल नहीं होता, उसी प्रकार शारीरिक विषयोपभोग से मनुष्य को कभी सन्तोष नहीं होता। फिर सन्तोष कैसे होगा? ब्रह्मचर्य के आदर्श की सम्पूर्ण भव्यता को भली-भाँति समझ लेने से, अपनी कमजोरी पूर्णतया स्पष्टरूप से देख लेने से, और उसे दूर कर उस उच्च आदर्श की ओर बढ़ने का निश्चय करने से।

"संघर्ष जीवनमय और जीवन संघर्षमय है। विश्रान्ति का नाम भी न लीजिए। आदर्श हमेशा सामने खड़ा है। मुझे तब तक शान्ति नसीब नहीं हो सकती, जब तक मैं उस आदर्श को प्राप्त नहीं कर सकता[1]।

"संसार की जितनी लड़ाइयाँ हैं, उनमें कामाभिलाषा (मदन) के साथ होनेवाली लड़ाई सबसे ज्यादा कठिन है, और सिवाय प्रारम्भिक बाल्यावस्था तथा अत्यन्त वृद्धावस्था के कोई भी ऐसी अवस्था अथवा समय नहीं है, जिसमें मनुष्य इससे मुक्त हो। इसलिए किसी मनुष्य को इस लड़ाई से न तो कभी हताश होना चाहिए और न कभी अवस्था की प्राप्ति की आशा करनी चाहिए जिसमें इसका अभाव हो। एक क्षण के लिए भी किसी को निर्बलता न दिखानी चाहिए, किन्तु उन समस्त साधनों को एकत्र कर उनका उपयोग करना चाहिए, जो उस शत्रु को निःशस्त्र बना देते हैं। उन बातों का परित्याग कर देना चाहिए जो शरीर और मन को उत्तेजित (दूषित) करनेवाली हों और हमेशा काम करने में व्यस्त रहना चाहिए[2]।"

"पर प्रधान और सर्वोत्तम उपाय तो अविरत संघर्ष ही है! मनुष्य के दिल में हमेशा यह भाव जाग्रत रहना चाहिए कि यह संघर्ष कोई नैमित्तिक या अस्थायी अवस्था नहीं, बल्कि जीवन की स्थायी और अपरिवर्तनीय अवस्था है[3]।"

जैन धर्म में भी सतत् जागृति को संयमी का परम धर्म कहा है। वह सोये हुओं में जाग्रत रहे—"सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी" भारंडपक्षी की तरह अप्रमत्त रहे—"भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते", मुहूर्तमात्र भर भी प्रमाद न करे—"मुहुत्तमवि णो पमाए"। वीर पुरुष संयम में अरति को सहन नहीं करता और न असंयम में रति को सहन करता है। चूंकि वीर पुरुष संयम में अन्यमनस्क नहीं होता, अतः असंयम में अनुरक्त नहीं होता—"नारइं सहई वीरे, वीरे न सहइ रतिं। जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे न रज्जई।" वह असंयम जीवन में आनन्द भाव को घृणा की दृष्टि से देखे—"निव्विंद नंदिं इह जीवियस्स।" ज्ञानी, जिसे आत्मा-साधना के सिवा अन्य कुछ परम नहीं, कभी प्रमाद नहीं करता—"अणन्नपरमं नाणी, नो पमाए कयाइवि।" ये सारी आज्ञाएँ अविश्रान्त रूप से जाग्रत रहने की ही प्रेरणाएँ देती हैं। वास्तव में ही संयमी के लिए अन्तिम क्षण तक विश्राम जैसी कोई चीज नहीं होती। "जावज्जीवमविस्सामो"—जीवन-पर्यंत विश्राम नहीं, यही उसके जीवन का सूत्र होता है।

संयमी को किस तरह उत्तरोत्तर संघर्ष करते रहना चाहिए—इसका आदर्श सुदर्शन के जीवन-वृत्त द्वारा दिया गया है।

सुदर्शन सेठ की कथा संक्षेप में पहले दी जा चुकी है। सुदर्शन का जीवन ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में निरन्तर संघर्ष का रहा। स्वामीजी ने लिखा है: "सुदर्शन ने शुद्ध मन से निरतिचार शील व्रत का पालन किया। घोर परीषह उत्पन्न होने पर भी वह डिगा नहीं। जो निर्मलता पूर्वक शील का पालन करते हैं, वे सब ब्रह्मचारी पुरुष महान् हैं, परन्तु सुदर्शन का चरित्र तो व्याख्यान करने योग्य ही है, क्योंकि उसने घोर परीषहों के सम्मुख अविचल रह ब्रह्मचर्य का पालन किया। उसका चरित्र ऐसा है कि जिसका पतन हो गया हो, वह भी सुने तो ब्रह्मचर्य के प्रति उसके प्रेम की वृद्धि हो और पुनः उसके पालन में तत्पर हो। कायर उसके चरित्र को सुनकर वीर होते हैं और जो शूर हैं, वे और भी अडिग होते हैं[4]।"

कपिल पुरोहित की स्त्री कपिला ने जब प्रपंच रच दासी के द्वारा सुदर्शन को अपने महल में बुला लिया और उससे भोग की प्रार्थना करने लगी तब सुदर्शन की क्या अवस्था हुई, उसका वर्णन स्वामीजी ने इस प्रकार किया है: "कपिला की बात सुनकर और उसके अनूप रूप को देखकर सुदर्शन मन में उदास हो गया। उसका गात्र पसीने से भर गया। शरीर काँपने लगा। वह सोचने लगा—मैं प्रपंच को न समझ, इस प्रकार फँस गया। पर कपिला चाहे कितने ही उपाय करे, मैं अपने शील को खण्डित नहीं करूँगा। यदि मेरी आत्मा वश में है, तो मुझे

१—स्त्री और पुरुष पृ० ४३

२—वही पृ० ४४

३—वही पृ० ४५

४—भिक्षु-ग्रंथ रत्नाकर (ख० २): सुदर्शन चरित पृ० ६३३

कोई भी चलित नहीं कर सकता। स्त्री चतुर पुरुष को भी भ्रम में डाल, उसे मूर्ख बना देती है; पर यदि मैं दृढ़ रहूँगा तो यह मेरा तिलमात्र भी बिगाड़ नहीं कर सकती।"

पिण शील न खंडू मांहरो, था करे अनेक उपाय।
जो वश छे म्हारी आतमा, तो न सके कोइ चलाय॥
चतुर नें भोल मूर्ख करे, इसी नारी नीं जात।
जो हूं इण आगे सेंठो रहूं, तो म्हारो बिगड़े नहीं तिलमात॥

इस समय की सुदर्शन की दृढ़ता पर टिप्पण करते हुए स्वामीजी लिखते हैं: "सम्यक् दृष्टि कष्ट के समय भी सम्यक् ही सोचता है। वह काँटों को फूल की तरह ग्रहण करता है। जैसे-जैसे परीषह अधिक बढ़ते हैं, वह अधिकाधिक वैराग्य के साथ व्रत को अभङ्ग रख उसका पालन करता है। शूर वही है, जो कष्ट पड़ने पर भाग न छूटे। जो कायर क्लीव होते हैं, वे ही कष्ट के समय भाग छूटते हैं। जो वैरी के सम्मुख भाग छूटता है, उसका कभी भला नहीं होता। जो पैर थाम कर मुकाबिला करता है, उसे कोई परास्त नहीं कर सकता।"

समदृष्टि वेवे समों, पाले व्रत अभंग।
ज्यूं ज्यूं परीषह ऊपजे, तिम तिम चढ़ते रंग॥
कष्ट पड्या कायम रहे, ते साचेला सूर।
कोइ कायर क्लीव हुवे, ते भाग हुवे चकचूर॥
वेरी तो पाछे पड्या, जब भागां भलो न होय।
पग रोपी साह्यो मंडे, त्यांसूं गंज न सके कोय॥

कपिला सुदर्शन के शरीर से लिपट गई। सुदर्शन की वृत्तियाँ और भी अन्तर्मुख हो गईं। उसने नियम लिया—यदि मैं इस उपसर्ग से बच गया तो मुझे यावज्जीवन के लिए अब्रह्मचर्य का प्रत्याख्यान है:

जो इण उपसर्ग थी ऊबरूं, व्रत रहे कुशले खेम।
तो शील छें म्हारे सर्वथा, जावजीव लगे नेम॥

सुदर्शन ने स्त्री-परीषह के समय इस तरह अपना मन दृढ़ कर लिया। सुदर्शन की उस समय की दृढ़ता को स्वामीजी ने इस प्रकार प्रकट किया है:

मन दृढ़ कर लियो आपणो, शील कियो अंगीकार।
कपिला भारी वो ज्यांही रही, तजी मनोरमां नार॥
अरिहंत सिद्ध नीं साखे करी, पहरचो शील सन्नाह।
मन वच काया वस किया, तिणरे त्यांनी परवाह॥
आतो कपिला छे बापड़ी, मल मूत्र नीं भंडार।
जो आय उर्भी रहे अपच्छरा, तोही शील न खंडू लिगार॥

सुदर्शन ने अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म को शरण ली और कपिला की तो बात दूर, यावज्जीवन के लिए ब्रह्मचर्य धारण कर, अपनी पत्नी मनोरमा तक के साथ विषय-सेवन का त्याग कर दिया। सुदर्शन ने उस अनुकूल परीषह के समय भी भोग को विष के समान समझा।

आखिर में कपिला ने निराश हो सुदर्शन को अपने पाश से मुक्त किया और सुदर्शन अपने घर वापिस आया। उसने नियम लिया—"आज के बाद मैं पर-घर में प्रवेश नहीं करूँगा:"

कदा वले मिले जी एहवी, तो छूटीजे केम।
तिणसूं पर घर जावा तणो, आज पछे छे नेम॥

जब धात्रीवाहन राजा की पटरानी अभया ने पंडिता धाय द्वारा सुदर्शन को ध्यानावस्था में महल में मंगाया, तब सुदर्शन के लिए फिर एक भयानक परीषह उत्पन्न हुआ। अभया सुदर्शन से भोग की प्रार्थना करने लगी। सुदर्शन ने ध्यान पूरा कर आँखें खोलीं तो सारा दृश्य देखकर

काँपने लगा। सुदर्शन ने अपने मन को मेरु की तरह दृढ़ कर लिया :

ओ उपसर्ग मोटो ऊपनों, मन गमतो परीसो जाण।
जब सेठ मन गाढो कियो, जाणेक मेरु समान॥

स्वामीजी कहते हैं :

गमतो परीसो अस्त्री तणो, सहिवो घणो दुलभ।
दृढ़ परिणामी पुरुष नें, सहिवो घणो सुलभ॥
गमता अण गमता बेहुं, उपसर्ग उपजे आय
जब शूर पुरुष साह्मा मंडे, कायर भागी जाय॥

सुदर्शन इस घोर अनुकूल परीषह के समय शील के गुणों का चिन्तन करने लगा :

सेठ इसो मन चितवे, शील व्रत हो व्रतां में प्रधान।
तण शील थकी सद्‌ गति मिले, अनुक्रमें हो पामें मुगत निधान॥
ग्रह नक्षत्र तारां ना वृंद में, घणो सोभे हो मोटो जिम चंद।
रत्नां में वैडूर्य मोटको, फूलां में हो मोटो फूल अरविंद।
ज्यूं व्रतां में शील व्रत वडो॥
रत्नां रा आगर में समुद्र वडो, आभूषण में हो माथा री मुकुट।
वस्त्र मांहे क्षोम वस्त्र मोटको, नदियां मांहें हो सीता नो पट।
इत्यादि शील व्रत नें ओपमा, सूत्र में हो जिन भाषी बतीस।
ए व्रत चोखे चित्त पालसी, तिण री करणी हो जाणो विस्वावीस॥
शील थकी संकट टले, शील थकी शीतल हुवे आग।
शील थी सर्प न आभडे, शील थकी हो वाधे जस सोभाग॥
शील थी विष अमृत हुवे, शील सेवी हो देवे समुद्र थाग।
वाघ सिंघ टले शील थी, शील पाले हो तेहनो मोटो भाग॥
शील थकी अनेक जीव उद्धरया, कहितां कहितां हो त्यांरा नावें पार।
इण शील थकी चूका तिका, जाय पड़िया हो नरक निगोद मझार॥

इस तरह शील की महिमा का चिन्तन करते हुए सुदर्शन ने प्रतिज्ञा की : "अभया जैसी कितनी ही स्त्रियाँ क्यों न आ जायं, मैं शील से अणु मात्र भी दूर नहीं होऊँगा। इन्द्र की अप्सरा भी क्यों न आये, मैं धर्म की टेक नहीं छोड़ सकता। यदि मेरा इस उपसर्ग से उद्धार हुआ तो मैं घर छोड़ कर श्रामण्य ग्रहण करूँगा—"इण उपसर्ग थी हूं बचूं, तो लेसूं संजम भार।"

अभया और कामातुर हो गयी। सुदर्शन मौन ध्यान में लीन रहा। अभया ने सुदर्शन को गात्र-स्पर्श से जकड़ लिया, पर सुदर्शन जरा भी डिगा नहीं। उसकी मनःस्थिति ठीक वैसी ही रही, जैसे मानो दो वर्ष के बच्चे को माता ने स्पर्श किया हो :

सेठ में अंग भीड़ियो, पिण डिग्यो नहीं तिलमात।
दोय मास तणा बालक भणी, जाणेक फरस्यो मात॥

सेठ सुदर्शन सोचने लगा :

हिवे सेठ करे रे विचार, ए काई होय जासी कामणी जी।
ए आपेइ जासी हार, ए कांई करेला मांहरो भामणी जी॥
ए आय बणी छे मोय, ते कायर हुवां किम छूटिये जी।
होणहार जिम होय, मो अडिग ने वहो किम लूंटिये जी॥

ए प्रत्यक्ष काम नें भोग, मोनें लागे छे वमिया आहार सारखा जी।
ते हूं किम करूं भोग संजोग, मोन मुगत सुखां री आद्य पारिखा जी॥
जो हूं करूं राणी सूं प्रीत, तो हूं कर्म बांधि जाऊं कुगत में जी।
चिहुं गत में होऊं फजीत, घणो भ्रमण करूं इण जगत में जी॥
मोन मरणो छे एक बार, आगल पाछल मा भणी जी।
सुख दुःख होसी कर्म लार, तो सेंठो रहूं न चूकूं अणी जी॥
आ मल मूत्र तणो भंडार, कूड कपट तणी कोथली जी।
इण में सार नहीं छे लिगार, तो हूं किण विध पामूं इणसूं रली जी॥
अनेक मिले अपछरा आण, रूप करे रलियामणो जी।
त्यांनें पिण जाणूं जहर समान, म्हारे मुगत नगर में जावणो जी॥

इस तरह विचार, सुदर्शन ने मन को स्थिर कर लिया। उसके मन में काम जरा भी व्याप्त नहीं हुआ।

रानी ने सुदर्शन को चलित करने के लिए अनेक मोहक बातें कहीं पर वे सब उसी तरह अनसुनी हुईं जैसे कोई पाषाण की मूर्ति के सामने बोल रहा हो—"जाने पाषाण की मूरत आगे, कहिवा लागी वाणी जी।"

इस तरह सारी रात बीत गयी। प्रभात होने पर रानी बाहर आयी और उसने जोर-जोर से चिल्लाकर सबको इकट्ठा कर लिया और सुदर्शन पर दुश्चरिता का कलंक लगा दिया। राजा ने सुदर्शन को गिरफ्तार करा लिया और शूली पर चढ़ाने की आज्ञा दे दी। शूली पर चढ़ाने के लिए सेठ सुदर्शन को शूली के नीचे खड़ाकर दिया गया। वह विचारने लगा :

सेठ सुदर्शन करे छें विचारणा रे, ऊभो सूली रे हेठ।
कर्म तणी गति बांकडी रे, ते भोगवणी मुझ नेठ॥
किहां आभया राणी राजा तणी रे, किहां सुदर्शन सेठ।
किहां हूं मसाण भूमिका मांहीं रह्यो रे, किहां हूं आय ऊभा सूली हेठ॥
इण चंपा नगरी में हूं मोटको रे, ते हूं सुदर्शन सेठ।
म्हारा बांधा पाप कर्म उदे हुवा रे, तिणसूं आय ऊभो सूली हेठ॥
कर्म सूं बलियो जग में को नहीं रे, विन भुगत्यां मुगत न जाय
जे जे कर्म बांध्या इण जीवडे रे, ते अवश्य उदे हुवे आय
ज्यूं में पिण कर्म बांध्या भवां पाछले रे, ते उदे हुवां छे आय।
पिण याद न आवे कर्म किया तिके रे, एहवो ग्यान नहीं मों मांय॥
के में चाडा चाधी चोंतरे रे, दिया अणहुंता आल।
ते आल अणहुंतो आयो गिर मांहरे रे, निज अवगुण रह्यो छे निहाल॥
के में दोपद चोपद छेदिया रे, के छेदी वनराय।
के भात पाणी किणरा में रूंधिया रे, के में दीधी त्याने अंतराय॥
के में साधु सती संतापिया रे, के में दिया कुपात्र दान।
के में शील भांग्या निज पारका रे, के में साधां रो कियो अपमान॥
तीर्थङ्कर चक्रवर्त्ति छे महा बली रे, वासुदेव नें बलदेव।
त्यांरे पिण अशुभ कर्म उदे हुवा रे, जब भुगत लिया स्वयमेव॥
मोटी मोटी सतियां थी तेहमें रे, विखा पड्या छे आय।
वले वडा वडा ऋषिश्वर त्यां भणी रे, कष्ट पड्यो त्यां मांय॥

त्यों समें परिणामें परीसा सही रे, पोंहता मुगत मझार।
एहवा साधु सती हुआ त्यां भणी रे, सेठ याद किया तिण वार॥
जेहनें जेहवा कर्मज संचिया रे, तेहवा उदे हुये आय।
जिण बोयो छे पेड़ बंबूल को रे, ते अंब कियां थी खाय॥
तो हूं कर्म भुगतूं छूं मांहरा रे, ते मैं बांध्या छे स्वयमेव।
तो हूं आमण दुमण होऊं किण कारणे रे, हिवे किसो करणो अहमेव॥

सुदर्शन ने सोचा—"कर्म की गति बड़ी टेढ़ी होती है। कर्मों से बलवान जग में और कोई नहीं है। उन्हें भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं होता। मेरे पिछले कर्मों का उदय हुआ है। मैंने किसी पिछले भव में किसी की चुगली की होगी, किसी पर कलङ्क लगाया होगा, द्विपद-चतुष्पदों का छेदन किया होगा अथवा वनस्पतिकाय का भेदन अथवा किसी के भात-पानी का विच्छेद किया होगा। मैंने साधु-सन्तों को सन्ताप दिया होगा या कुपात्र-दान दिया होगा। मैंने अपना या दूसरे का शील भंग किया होगा अथवा साधुओं का अपमान किया होगा। इसीलिए मैं आज शूली पर चढ़ाया जा रहा हूँ। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियों को भी किये का फल भोगना पड़ता है। उन्होंने समभाव से कष्टों को सहन किया। मैं भी उदय में आये हुए कर्मों को समभाव से झेलूं। मैंने बबूल बोया तो आम कैसे फलेगा? अपने बांधे हुए कर्म स्वयं को ही भोगने पड़ते हैं। फिर मैं दुःख क्यों करूं?"

देवताओं ने शूली को सिंहासन के रूप में परिणत कर दिया। सुदर्शन के शील की महिमा चारों ओर फैल गयी। राजा ने सुदर्शन से अपने अपराध की क्षमा चाही और बोले: "यह सारा राज्य आपको अर्पित है। आप राज्य करें।" सुदर्शन बोला: "मैंने अभिग्रह लिया था कि यदि मैं उपसर्ग से बच गया तो संयम-ग्रहण करूँगा। मेरा उपसर्ग दूर हुआ, अतः अब मैं संयम-ग्रहण करूंगा। अभया रानी और पंडिता धाय से मैं खमत-खामना करता हूँ। मुझ से कोई अपराध हुआ हो तो वे क्षमा करें।" राजा बोले: "इन दुष्टाओं ने बड़ा अकार्य किया। मैं शीघ्र ही इनके प्राण-हरण करूँगा।" सुदर्शन बोला: "अभया रानी और पंडिता धाय ने तो मेरा उपकार ही किया है। इन्हीं के कारण मेरी कीर्ति हो रही है। अतः आप इनकी घात न करें।" राजा बोला: "बुराई के बदले भलाई करनेवाले जगत में विरले ही होते हैं—एहवा औगुण ऊपर गुण करे, ते तो विरला छे संसार हो लाल।"

इसके बाद सुदर्शन संयम लेने की बाट जोहते हुये रहने लगा। उसकी भावनाएँ इस प्रकार रहीं: "आज मेरा मनोरथ पूरा हुआ है। मन-चिन्तित कार्य सिद्ध हुआ है। शील से मेरी लाज बची। मैंने चारों गतियों में भ्रमण किया। कभी संशय दूर नहीं हुआ। अब मुझे मनुष्य-जन्म मिला है। जैन धर्म पाया है। इस अमूल्य अवसर को पाकर मुझे धर्म का पालन करना चाहिए। मैं पाँचों महाव्रतों को ग्रहण करूँगा। बारह प्रकार के तपों का सेवन करूँगा। साधुओं के यहाँ आते ही संसार को छोड़ दीक्षा लूंगा।"

मनोरथ पूरो थयो, सुण प्राणी रे। मन चिंतव्या सरिया काज, आज सुण प्राणी रे॥
जग में जस वध्यो घणो, सुण प्राणी रे। म्हारी रही शील सूं लाज, आज सुण प्राणी रे॥
संजम पालें सू जीवड़ा, पाम्यों नहीं भवपार। जामण मरण करतो थको, भमियो ए संसार॥
कयहुक नरक निगोद में, कयहू तिर्यंच मझार। कयहुक हर नर देवता, इण रीते भम्यो संसार॥
कयहुक इष्ट संजोगियो, कयहुक इष्ट वियोग। कयहुक भोगज भोगव्या, कयहुक अति घणो रोग॥
इण रीते भमतां थकां, मेट्यो नहीं भ्रमजाल। अबे अपूर्व पामियो, श्री जिन धर्म रसाल॥
धर्म तणा जत्न करो, अब ऐसो अवसर पाय। धर्म विहूणा मानवी, गया ते जन्म गमाय॥
अब पांच महाव्रत आदरु, छांडी परिग्रह तास। बारे भेदे तप तपूं, ज्यू पामूं शिवपुर वास॥
इम भावना भावतां, मन आयो अति वैराग। जो इहां साधु पधारसी, तो करसूं संसार नो त्याग॥

इसके कुछ दिनों बाद अनेक साधुओं के परिवार के साथ धर्मघोष स्थविर पधारे। सुदर्शन ने उनके हाथ से दीक्षा ग्रहण की। सुदर्शन बड़े तपस्वी मुनि हुए। गुरु आज्ञा से वे अकेले विहार करने लगे।

एक बार विहार करते-करते मुनि सुदर्शन पाटलीपुर नगर पधारे और उसके बाहर वनखण्ड उद्यान में निर्मल ध्यान ध्याते हुए रहने लगे। उस नगर में देवदत्ता वेश्या रहती थी। वह उनके रूप पर मोहित हो गई। एक बार मुनि गोचरी करते हुए देवदत्ता के मकान के द्वार

पर आ पहुँचे। वेश्या ने श्राविका का रूप बनाया और मुनि सुदर्शन से गोचरी की अर्ज करने लगी। मुनि गोचरी के लिए घर के अन्दर गये। वेश्या बोली—"आप कुछ विश्राम करें। खेद को दूर कर एकांत में बैठ भोजन करें।" यह कह षट्रस भोजन थाल में परोस मुनिवर के सम्मुख धर दिया। उस थाल को देखकर साधु सुदर्शन समझ गये—यह श्राविका नहीं, यह तो कोई कुपात्र नारी है। यह विचार कर वे वापिस लौटे परन्तु वेश्या ने सारे द्वार बंद कर दिये थे, जिससे बाहर न जा सके और वापिस चौक में आ गये। अब देवदत्ता ने श्राविका का वेष छोड़ दिया और सोलह शृङ्गार कर उपस्थित हुई और मुनि को भोग भोगने के लिए प्रार्थना करने लगी। मुनि अंश मात्र भी विचलित नहीं हुए। अब वेश्या ने मुनि को दोनों हाथों से पकड़, अपने महल में ले जा, अपनी शय्या पर बिठा दिया। इस तरह तीन दिन बीत गये, पर मुनि अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। मुनि की इस समय की चित्त-स्थिति को स्वामीजी ने इस प्रकार चित्रित किया है :

जेहवो गोलो मेणको, ताप लागां गल जाय।
ज्यूं कायर पुरुष नारी कने, तुरत डिगजावे ताय॥
जेसो गोलो गार को, ज्यूं धमे ज्यूं लाल।
ज्यूं सूर पुरुष स्त्री कने, अडिग रहे अत भाल॥
गार गोला री दीधी ओपमा, साधु सुदर्शन नें जिनराय।
जिम जिम उपसर्ग उपजे, तिम तिम गाढो थाय॥
उपसर्ग उपनो वेश्या तणो, समरयो श्री नवकार।
सागारी अणसण लियो, सरण पडिवजिया चार॥
तीन रात दिन लगे, खम्यो घोर परिषह जाण।
शील मांहें सेंठो रह्यो, तिणरा जिनवर किया बखाण॥

जिस प्रकार मोम का गोला ताप लगने से गल जाता है, उसी प्रकार कायर पुरुष नारी के समीप तुरंत डिग जाता है। जिस प्रकार गार का गोला ज्यों-ज्यों तपाया जाता है वैसे-वैसे लाल होता जाता है, वैसे ही शूर पुरुष स्त्री के समीप अडिग रहता है। भगवान ने सुदर्शन को गार के गोले की उपमा दी है। जैसे-जैसे उपसर्ग होते गये शील के प्रति उसकी भावना गाढ़ होती गयी। जब यह वेश्या का उपसर्ग उत्पन्न हुआ तो उसने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया[1], चारों शरण ग्रहण किये और सागारी अनशन कर दिया। सुदर्शन ने इस तरह तीन दिन तक परिषह सहन किया।

सुदर्शन को अडिग देख कर वेश्या ने उन्हें तीन दिन के बाद डंडे मार कर घर के बाहर निकाल दिया।

अब मुनि ने विचार किया—मैं बहुत बड़े उपसर्ग से बचा हूँ। उचित है कि अब मैं संथारा करूँ। जिस तरह वीर पुरुष संग्राम के मंच पर जाने के लिए आगे-आगे बढ़ता जाता है, उसी तरह मुनि ने श्मशान में जाकर संथारा ठा दिया।

इधर अभया रानी मर कर व्यंतरी हुई। उसने मुनि सुदर्शन को देखकर उन्हें डिगाने का विचार किया। वह सोलह शृङ्गार कर उनके सम्मुख उपस्थित हुई, बतीस प्रकार के नाटक दिखाए। और भोग-सेवन की प्रार्थना करने लगी। मुनि शुभ ध्यान ध्याते रहे—"निश्चल मन नें थिर करयो, माणेक मेरु समान।" जब मुनि विचलित नहीं हुए तब उसने विकराल रूप बना उष्ण परिषह दिया। मुनि ने तब भी समताभाव रखा। अब उसने पक्षिणी का रूप बनाया और चोंच में ठण्डा जल भर-भर कर मुनि पर छिड़कने लगी। इस शीत परिषह में भी मुनि ने शुभ परिणाम रखे। अब देवता प्रगट हुए। व्यंतरी को भगा कर उपसर्ग दूर किया।

सुदर्शन अनगार चढ़ते हुए वैराग्य से शुक्ल ध्यान में आसीन थे। न वे व्यंतरी पर कुपित हुए और न देवताओं पर प्रसन्न। वे रागद्वेष से दूर रह समभाव में अवस्थित रहे। मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और उसी रात्रि में मोक्ष पहुँचे।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सुदर्शन का जीवन किस तरह उत्तरोत्तर घोर संघर्ष का जीवन रहा। उनका नाम आज भी प्रमुख ब्रह्मचारियों में लिया जाता है। ब्रह्मचर्य के मार्ग में साधक को किस तरह तीव्र से तीव्र तर भावना रखनी चाहिए, उसका आदर्श इस अद्भुत चरित्र से प्राप्त होता है।

१—जैन-धर्म में नमस्कार-मंत्र को किस तरह रक्षा-कवच माना गया है, यह इससे प्रकट है।

३०-बाल ब्रह्मचारिणी ब्राह्मी और सुन्दरी

हम पहले यह बता चुके हैं कि जैन धर्म में पुरुष और स्त्री दोनों को समानरूप से ब्रह्मचर्य-पालन का उपदेश दिया गया है। इस उपदेश का स्थायी प्रभाव यह हुआ कि जैन इतिहास के हर युग में ऐसी आदर्श स्त्रियाँ देखी जाती हैं, जिन्होंने अतुलित आत्मबल के साथ आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया और आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरुषों के समान ही दीप्त हुईं। जैन इतिहास के अनुसार ऋषभदेवजी जैनों के आदि तीर्थंकर हैं। उनके ब्राह्मी और सुन्दरी दो पुत्रियाँ थीं और दोनों ही ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया।

महात्मा गांधी ने एक पत्र में लिखा था—"………हमारी स्त्रियों को पत्नी बनना आता है, बहन बनना नहीं आता। बहन बनने में बड़ी त्यागवृत्ति की जरूरत है। जो पत्नी बनती है, वह पूरी तरह बहन बन ही नहीं सकती। यह मेरे खयाल से तो स्वयंसिद्ध है। सच्ची बहन सारी दुनिया की बहन हो सकती है। पत्नी अपने को एक पुरुष के हवाले कर देती है।………जगत् की बहन बनने का गुण मुश्किल से आता है। जगत् की बहन तो वही बन सकती है, जिसमें ब्रह्मचर्य स्वाभाविक बन गया हो और सेवाभाव बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच गया हो[1]।"

ब्राह्मी और सुन्दरी का जीवन महात्मा गांधी के विचारों के अनुसार ही स्वाभाविक ब्रह्मचर्य का जीवन था और दोनों जगत्-भर की सेवा-परायण बहिनें थीं।

ऋषभदेवजी के दो रानियाँ थीं, एक सुमंगला और दूसरी सुनंदा। सुमंगला के ब्राह्मी और भरत यमजरूप से उत्पन्न हुए और इसी तरह सुनंदा के सुंदरी और बाहुबल। सुमंगला के ६८ पुत्र और हुए। इस तरह ब्राह्मी के ९९ सगे भाई थे और सुंदरी के केवल एक बाहुबल।

दोनों बहिनों ने ६४ कलाएँ सीखीं। दोनों ही उत्तम स्त्री के बत्तीस लक्षणों से सुशोभित थीं। ब्राह्मी ने अठारह लिपी सीखी। दोनों ही बहिनें बड़ी शीलवती थीं। उनके मन में कभी विषय-वासना आती ही नहीं थी। दोनों बहिनों ने अपने पिता ऋषभदेवजी से विनती की: "हमें शील प्रिय है। हमारी सगाई न करें। हम किसी की स्त्री कहलाना पसन्द नहीं करतीं। हमें सांसारिक प्रियतम की चाह नहीं।" ऋषभदेवजी बोले: "तुम दोनों की करनी में कोई कमी नहीं। अच्छा है कि तुम लोगों ने इस मोह-जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया।" पुत्रियों की इच्छा से उन्होंने दोनों बहिनों का विवाह नहीं किया। बाद में ऋषभदेवजी ने प्रव्रज्या ले ली और प्रथम तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध हुए।

ब्राह्मी अत्यन्त रूपवती थी। भरतजी अपनी बहिन के प्रति मोहित हो गए। उन्होंने विचार किया: "ब्राह्मी को मैं उत्तम स्त्री-रत्न के रूप में स्थापित करूँ और अन्तःपुर में उसे प्रमुख महारानी रूप में रखूँ।"

ब्राह्मी की इच्छा दीक्षा लेने की थी। उधर भरत उससे प्रेम करते थे, अतः दीक्षा की अनुमति नहीं देते थे।

जब ब्राह्मी को भरत के मोह की बात मालूम हुई तो उसने अपने रूप की हानि करने के लिए दो-दो दिन के उपवास की तपस्या आरंभ कर दी। पारण में जल के साथ एक लूखा अन्न लेती।

भरत का मोह नहीं छूटा। ब्राह्मी भी सुदीर्घकाल तक इसी तरह तपस्या करती रही।

इस तपस्या से उसका फूल-सा शरीर मुरझा गया। ब्राह्मी के शरीर को इस प्रकार क्षीण देख भरत का मोह दूर हुआ। उसने ममत्व छोड़ ब्राह्मी को दीक्षा की अनुमति दी। ब्राह्मी और सुंदरी दोनों बहिनें दीक्षित हुईं और अपनी साधना से दोनों ने मुक्ति प्राप्त की। स्वामीजी ने दोनों बहिनों के चरित्र को इस प्रकार उपस्थित किया है[2]:

रिषभ राजा रे राणी दोय हुई, सुमंगला सुनंदा जूई ए जूई।
दोनूंई दोय बेटी जाई, ब्राह्मी नें सुंदरी बेहु बाई॥
ज्यां पूरव भव कीनी करणी, बेहू री काया कोमल कंचन वरणी।
वले रूप में कमी नहीं काई॥
ते स्वारथ सिद्ध थी चव आई, भरत बाहुबल रे जोडे जाई।
बेहु भायां रे हुवा सो भाई॥
भरत बाहुबल दोय मोटा, वले भाई अठाणू हुवा छोटा।
चित्त में घणी ज्यांरे चतुराई॥
ब्राह्मी रे हुवा निनाणू वीरा, जामण जाया अमोलक हीरा।
भरत चक्रवर्ति नीं पदवी पाई॥

१—महादेवभाई की डायरी (पहला भाग) पृ० ३८३

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड २): भरत चरित—ढाल १६, पृ० ४५०-५१

सुन्दरी रे एक आमण जणियो, बाहूबल कला पद्दोत्तर भणियो।
पछे सुनंदा री कूख न खुली कांई ॥
चतुर बायां सीखी चोसठ कला, गुण ज्यांमें पडिया सगला।
त्यांरी अकल में कुमी नहीं कांई ॥
बेहू बायां हुई बतीस लखणी, अठारे लिपि एक ब्राह्मी भणी।
श्री आदि जिनेश्वर सीखाई ॥
एक सील रो स्वाद बस रह्यो मन में, कदे विषेरी बात न तेवढी तन में।
छोड दीधी ममता समता आई ॥
बेहू बेटी बीनवे बापजी आगे, म्हानें सील रो स्वाद बल्लभ लागे।
म्हारी मत करजो कोई सगाई ॥
म्हें तो नारी किणरी नहीं बाजां, म्हें तो सासरां रो नाम लेती लाजां।
म्हारे पीतम री परवाह नहीं कांइ ॥
बापजी बोल्या सुणो बेटी, थें ता मोह जाल ममता मेटी।
थांरी करणी में कसर नहीं कांई ॥
भरत नहीं लेवण देवे दीक्षा, ब्राह्मी सील तणी मांडी रक्षा।
रूप देखी भरत रे बंछा आई ॥
सती बेले बेले पारणो कीनों, एक लूखो अन पाणी में लीनों।
फूल ज्यूं काया पडी कुमलाई ॥
भरत री विषे रूं जाणी मनसा, तिणसूं ब्राह्मी माली तपसा।
साठ हजार बरस री गिणती आई ॥
भरत छोड दीनी मन री ममता, सती रो सरीर देखीनें आइ समता।
पछे दीपती दीक्षा दराई ॥
बेहूं बायां रे वेराग घणो, बेहू कुमारी किन्या लीधो साधुपणो।
बेहू जिनमारग नें दीपाई ॥
बेहू रिषभदेव नीं हुई चेली, प्रभु बाहूबल पासे मेली।
सती समझायनें पाछी आई[1] ॥

१—ब्राह्मी और सुन्दरी के जीवन की एक अनोखी घटना का प्रसंग यहाँ उल्लिखित है। भरत को छोड़ कर सुमंगला के ६८ पुत्र तीर्थंकर ऋषभदेव के पास दीक्षित हो गये। बाहुबल भी दीक्षित हो गये। बाहुबल वय में बड़े थे पर, दीक्षा में छोटे थे। दीक्षा के बाद वे घोर तप में प्रवृत्त हुए। गणधरों ने ऋषभदेव से पूछा—"बाहुबल कहाँ है ?" उन्होंने उत्तर दिया— "वह घोर तपस्या में रत है। परन्तु वह अपने से दीक्षा में बड़े पर आयु में छोटे ६८ भाइयों को अभिमानवश वंदना नहीं करता, अतः उसे केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता।" यह सुनकर ब्राह्मी तथा सुन्दरी दोनों बहिनें ऋषभदेव के पास आईं और बोलीं—"यदि आप आज्ञा दें तो हम बाहुबल को समझा कर मार्ग में लावें।" ऋषभदेव बोले : "तुम्हें सुख हो वैसा करो। पर तुम लोगों को वह खोजने पर नहीं मिलेगा। अपने शब्द उसे सुनाना।" अब दोनों बहिनें बाहुबल को समझाने चलीं। जङ्गल में जाकर वे गाने लगीं :

थे राज रमण रिध परहरी, वले पुत्र त्रिया अनेको रे।
पिण गज नहिं छूटो ताहरो, तू मन मांहे आण विवेको रे॥
वीरा म्हारा गज थकी ऊतरो, गज चढियां केवल न होयो रे।
आपो खोजो आपरो, तो तं केवल जोयो रे॥

यह सुन कर बाहुबल सोचने लगे : "मैं कौन से हाथी पर चढ़ा हुआ हूँ कि ये मुझे उससे उतरने के लिए कह रही हैं ? मैं सब का त्याग कर चुका। मेरे पास हाथी कहाँ है !" फिर उन्होंने सोचा—"ठीक, मैं पार्थिव हाथी, घोड़े, रथों का तो त्याग कर चुका पर अभिमान रूपी हाथी पर अभी भी आरूढ हूँ, जो अपने से दीक्षा में बड़े-छोटे भाइयों की वंदना नहीं करता। ऐसा सोच वे विनम्र बन गये और भाई-मुनियों को वंदना करने के लिए पैर उठाया। जैसे ही उन्होंने कदम आगे रखा, उन्हें केवलज्ञान हो गया। ब्राह्मी और सुन्दरी वापिस लौटीं। इसी घटना का संकेत इस गाथा में है।

सगली साधवियां में हुई रे सिरें, त्यांरा वचन अमोलक रत्न भरें।
त्यांरी वाली सगलां में सुखदाई॥
घणां वरसां लगे चारित्र पाली, त्यां दोषण दूर दिया टाली।
त्यां घणां जीवां नें दिया समझाई॥
बेहूं बायां री जुगती जोडी, बेहूं मुगत गई आठूं कर्म तोडी।
चोरासी लाख पूरव आउ पाई॥

जैन धर्म में स्त्रियाँ भी किस प्रकार आजीवन ब्रह्मचारिणी रह सकती थीं, उसका यह नमूना है। भरत के मोह को दूर करने के लिए ब्राह्मी की तपस्या एक अभिनव प्रयोग है। बाद के तीर्थंकरों के युग में भी ऐसे चरित्र-प्राप्त हैं। आज भी जैन संघ में ब्रह्मचारिणी साध्वियाँ देखी जाती हैं।

३१-भावदेव और नागला

जैन धर्म में ऐसी स्त्रियों के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने अपने उपदेश से गिरते हुए मनुष्यों को उबारा। राजीमती ने मोहारूढ़ रथनेमि को जो अमूल्य उपदेश दिया, वह परिशिष्ट-क, कथा २० (पृ०१०२-३) में दिया गया है। साध्वी राजीमती वर्षा में भीगे कपड़ों को उतार कर उन्हें एक गुफा में सूखा रही थी। ऐसे ही समय रथनेमि ने भी गुफा में प्रवेश किया। राजीमती को वहाँ देख उनका मन मोहाच्छन्न हो गया। वे राजिमती से भोग की प्रार्थना करने लगे। राजिमती ने उन्हें फटकारते हुये कहा—"भले ही तू रूप में वैश्रवण सदृश हो, और भोगलीला में नलकूबर या साक्षात् इन्द्र, तो भी मैं तेरी इच्छा नहीं करती। अगन्धन कुल में उत्पन्न सर्प जाज्वल्यमान अग्नि में जलकर मरना पसन्द करते हैं, परन्तु वमन किये हुए विष को वापिस पीने की इच्छा नहीं करते। हे कामी ! तू वमन की हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा[1]।" "अपनी इन्द्रियों को वश में कर। अपनी आत्मा को जीत "—इंदियाइं वसे काउं, अप्पाणं उवसंहरे (उत्त० २२.४७),।" रथनेमि पर इसका जो असर पड़ा उसको आगम में इस प्रकार बताया गया है : "राजिमती के संयम की ओर मोड़नेवाले सुभाषित को सुनकर रथनेमि उस तरह धर्म-मार्ग पर आ गये, जिस तरह अंकुश से हाथी आता है। वे मनगुप्त, वचनगुप्त, कायगुप्त हुए। श्रामण्य का निश्चलता-पूर्वक पालन करने लगे। दृढव्रती हुए और अन्त में सर्व कर्मों का क्षय कर अनुत्तर सिद्ध-गति को प्राप्त हुए[2]।"

इसी तरह का दूसरा प्रसंग भावदेव और नागला का है। वह नीचे दिया जाता है। भावदेव नागला के पति थे। वे साधु हो गये थे, पर बाद में विषय-विमूढ हो पुनः नागला का संग करना चाहते थे। नागला की भी फटकार रही—"चाहे कोई ध्यानी हो, मौनी हो, मुंड हो, बल्कल चीरी हो, तपस्वी हो यदि वह अब्रह्मचर्य की प्रार्थना करता है तो ब्रह्मा होने पर भी वह मुझे नहीं रुचता[3]।" नागला ने अपने पूर्व पति को पतन से किस प्रकार बचाया, उसकी बोधप्रद कथा इस प्रकार है :

१—उत्तराध्ययन २२.४१-४३ :

जइऽसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो।
तहावि ते न इच्छामि, जइऽसि सक्खं पुरंदरो॥
पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे॥
धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे॥

२—उत्तराध्ययन २२.४८-५०

३—उपदेशमाला पृ० १३५ :

जइ ठाणी जइ मोणी, जइ मुंडी वक्कली तपस्सी वा।
पत्थिंतो अबंभं, बंभावि न रोयए मज्झं॥

भवदेव और भावदेव दोनों एक सम्पन्न परिवार की सन्तान थे। वह परिवार सम्पन्न तो था ही, साथ ही साथ धर्मप्रिय भी था। माता-पिता सभी धर्मप्रिय थे। दादी तो उन सबसे दो कदम आगे थी। भवदेव धर्माभिरुचि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसने दीक्षा ले ली। संन्यासी जीवन बिताने लगा। एक दिन वह अपने गुरु से बोला—"मैं अपने गांव जाना चाहता हूँ।" गुरु ने पूछा "क्यों?" प्रत्युत्तर मिला "मैं अपना कल्याण तो करता ही हूँ। चाहता हूँ, मेरा भाई भी स्वकल्याण करे।" गुरु ने आज्ञा देते हुए कहा—"अपने संयम का खयाल रखना।" भवदेव गांव आये। इच्छा लेकर आये—"मैं जैसा आत्मिक सुख पा रहा हूँ, वैसा ही मेरा भाई भी पाये।" गांव आने पर मालूम हुआ कि भाई आज ही शादी करके आया है।

भावदेव बड़ी खुशी से भ्रातृ-मुनि के दर्शन करने आया। मुनि ने पूछा—"शादी कर ली।" भावदेव बोला—"हाँ।" मुनि ने कहा—"फंस गया जाल में। बंध गया बंधन में। अब भी छूट, सांसारिक सुखों में कुछ नहीं है। अपना कल्याण कर, आत्म-रमण कर।" भवदेव ने संसार की अनित्यता बतलाई। कुछ वैराग्य ने और कुछ बड़े भाई के संकोच ने 'हां' भरा दी। माता ने सहर्ष अनुमति दे दी। नव विवाहिता वहू से माता ने अनुमति के लिए कहा। उसने भी हाँ भरते हुये कहा—"यदि वे दीक्षा लें तो मेरी सहर्ष आज्ञा है। मेरा विचार दीक्षा का नहीं है। मैं श्राविका-धर्म का पालन करूंगी। आप उन्हें देख लेना। बाद में साधुपन न पला तो घर में जगह नहीं है। मुझसे उनका कोई सरोकार नही रहेगा।" माता बोली—"बहू, ऐसे क्यों बोलती हो? एक भाई साधु है ही; वह अच्छी तरह साधुपन पालता है। यह भी पाल लेगा।" बहू ने कहा—"पाल लेंगे तो ठीक ही है।"

भावदेव दीक्षित हो गया। दोनों भ्रातृ-मुनि गुरु के पास आये। भावदेव साधु-जीवन बिताने लगे। किसी तरह की गलती नही करते। भाई का संकोच था। पर साधुपन का रंग उनकी रग-रग में जमा नही, रमा नहीं। वे सोचते—"मैं कहाँ आ गया, कब गांव जाऊँगा।" विकार उत्पन्न हुआ, पर भाई का संकोच था। प्रतिज्ञा की—भाई के जीते-जी घर नहीं जाऊँगा, साधु ही रहूँगा।

एक दिन एक ज्योतिषी आया। भावदेव पूछ बैठा—"मुझे भाई का कितना सुख है?" ज्योतिषी ने बताया—"बहुत वर्ष बाकी हैं।" भावदेव के मन में आया—यहाँ तो एक-एक क्षण वर्ष की तरह बीत रहे हैं और उधर ज्योतिषी कहता है—बहुत वर्ष बाकी हैं। क्या किया जाय? कब भाई मरे, कब गांव जाऊँ? उनके रहते भला कैसे जाऊँ?

पूरे बारह वर्ष बीत गये। भाई को बीमारी ने आ घेरा; मुनि भवदेव स्वर्गगामी हो गये। अब भावदेव को रोकनेवाला कौन था! शर्म किस की थी? बहुत दिनों की आशा पूर्ण हुई और उसने सुख की सांस ली।

सुबह होने को था। लोग मृत शरीर का जलूस निकालने के कार्यक्रम में व्यस्त थे। भावदेव अपनी योजना बना रहा था। उसने नवीन वस्त्रों की गठरी बांधी। फटे पुराने धर्मोपकरणों को छोड़ा; पर साधु-वेष नही छोड़ा। सूर्योदय से पूर्व ही उसने यात्रा का श्री गणेश कर ग्राम का रास्ता लिया।

भावदेव विचारों में लीन, चलता जाता था। चलते-चलते ग्राम आया। "सीधा घर कैसे जाऊँ?" यह प्रश्न उसके मन में बार-बार उठता। आखिर गांव के बाहर एक रमणीक बाग में उसने डेरा डाल दिया।

संयोग ऐसा मिला, कि नागला (इनकी पत्नी) अपनी सहेलियों के साथ कहीं जा रही थी। उसने मुनि को देखा और उसे बड़ा हर्ष हुआ। "धन्य भाग्य जो आज सन्त-दर्शन हुए।" उसने दर्शन करने के लिये सहेलियों से चलने को कहा, पर उन्होंने टाल दिया। नागला अकेली ही दर्शन को चली। दर्शन कर उसने पूरी तीन दफे प्रदक्षिणा दी तथा सुखसाता पूछी।

उसके मन में आया—"मुनि अकेले कैसे? अकेला रहना साधु को नहीं कल्पता। गुरु की आज्ञा होगी। साधु अकेली स्त्री से बात करते ही नहीं। दूर से ही कह देते हैं—'हमे कल्पता नहीं है।' इन्होंने तो कुछ कहा नही।"

इधर मुनि ने सोचा—"यह औरत आकर जाती है, क्यों न इसी से सब बात पूछी जाय?" मुनि ने आवाज दी। जवाब मिला—"महाराज! मैं अकेली हूँ।" मुनि ने कहा—"ऐसी क्या बात है, तुम दरवाजे के बाहर खड़ी हो, मैं भीतर हूँ।"

मुनि ने कहा—"तुम्हारे इस सुग्राम में बड़े-बड़े श्रावक थे। एक प्रसिद्ध श्राविका भी थी, जिसका नाम था रेवती, भावदेव की माता। वह अब जीवित है या नहीं?"

नागला ने सोचा—"यह सब नाम तो मेरे परिवार के ही हैं। जवाब मुझे सोच-विचार कर देना चाहिए।" असमंजस में पड़ी हुई

थी। फिर बोली—"महाराज ! मैं याद कर रही हूं, कौन रेवती है । नगरी बड़ी है, यहाँ रेवती कई हैं।"

इस तरह नागला बड़े सोच-विचार के बाद जवाब देती है। अपना कुछ भी भेद न देती हुई मुनि का भेद लेती है। विचार के बाद उसने बताया—"मैं रेवती को जानती हूँ । बड़ी नामी श्राविका थी। उसके बराबर श्रावक व्रतों में कोई मजबूत नहीं है। ब्रह्मचर्य-व्रत धारिणी, रात्रि को चौविहार का त्याग और भी नाना प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान किये उसने।"

मुनि ने कहा—"यह तो जानता हूँ, बड़ी पक्की श्राविका थी। अब वह जीवित है या नहीं?" नागला ने बताया—"वह अब जीवित नहीं है। उसे देवलोक प्राप्त हुए कई वर्ष हो गए।"

मुनि ने सुख की श्वास ली। न अब भाई रहा है, न माता। वह दोनों तरफ से आजाद है। मुनि ने कहा—"एक बात फिर पूछती है। रेवती के लड़के की बहू थी, वह अब जीवित है या नहीं ?"

नागला ने मन ही मन कहा—"आई बात समझ में। ये मेरे लिए आतुर हैं। ये तो वे हैं" उसने थोड़ा क्रोध दिखाते हुए कहा—"महाराज ! आप कैसी बातें करते हैं ? कभी रेवती जीवित है या नहीं, कभी नागला जीवित है या नहीं। क्या मतलब है आपको स्त्रियों से ? साधु पूछ सकता है—आहार-पानी की जोगवाई कहाँ होगी ? लोगों में धर्म-ध्यान की रुचि कैसी है ? सो तो नहीं, अमुक जीवित है या अमुक मर गई। मुझे शक होता है, आपकी नियत पर। आपको ऐसी बातों से क्या प्रयोजन ?"

मुनि ने सोचा कि बात आगे न बढ़ जाय और बोले—"वह मेरी पत्नी है, इसीलिए मैंने पूछा है।"

नागला बोली—"महाराज ! कैसी अविचार पूर्ण बातें करते हैं ? न कभी सुना न देखा, कि जैन साधु के भी पत्नी होती है !"

मुनि बोले—"मेरा नाम भावदेव है। आज से बारह वर्ष पूर्व की बात है। मैं शादी करके आया ही था। मैंने अभी 'कंकण-डोरड़'का बन्ध भी नहीं तोड़ा था। इसी समय मेरे बड़े भाई ने जो मुनि थे, मुझे सांसारिक बन्धनों से बचने का उपदेश दिया। मैं उसे टाल न सका; साधु बन गया।"

नागला बीच में ही पूछ बैठी, "तो क्या आपको जबरदस्ती साधु बना लिया गया ?" मुनि ने कहा—"नहीं, मेरी रजामन्दी थी। मैं भाई की बात न टाल सका।"

"अच्छा जब बारह वर्ष बित गये तो अब फिर क्या बात है ?"

"अब मैं नागला की खोज में हूँ।"

"नागला तन-मन से आपकी वाञ्छा नहीं करेगी, वह मेरी सहेली है। उसने रेवती की ठोकर खाई है। वहाँ तक न जाकर यहीं से लौट जाइये।"

भावदेव को भान नहीं रहा। वे बोल उठे : "तू जानती है दूसरों के मन की बात ? मैं जिस नागला को क्षण भर भी नहीं भूलता, अवश्य वह भी हरवक्त मेरे लिए कौवे उड़ाती होगी। भला, स्त्री के लिए पति के सिवाय और है ही क्या ?" आप साधु नहीं हैं, मैं पक्की श्राविका ठहरी,"

"अच्छा चलती हूँ"—नागला बोली।

नागला चिन्तातुर घर को चली। क्या किया जाय ? नाड़ी बिल्कुल धीमी पड़ चुकी है। प्राण जानेवाले हैं। नाम मात्र का साधु वेष है। मैं क्या करूंगी, घर आ ही गये तो ? वह उसी उधेड़बुन में घर पहुंची। कुछ हल निकाला जाय। अपनी विश्वासपात्र पड़ोसिन के पास गई। सारी बात कह सुनाई। सलाह-मशविरा कर, सारी योजना बनाकर दोनों चलीं उस बाग में, जहाँ मुनि ठहरे थे।

मुनि अपने घर की ओर रवाना होना ही चाहते थे कि इतने में नागला अपनी सहेली के साथ आ पहुंची। बोली—"हम सामायिक कर रही हैं।"

भावदेव ने सोचा—"इनके देखते कैसे जाऊंगा ?" उन्हें सामायिक न करने को कहा। नागला बोली—"हम दो हैं। यहाँ रहना कल्पता है।" और दोनों ने सामायिक पचक्ख ली।

"अब क्या किया जाय ? इतनी देर और रुकना पड़ेगा।" भावदेव विचार में पड़ गया। इतने में एक बच्चा भागा-भागा आया। और बोला माँ ! ऐ माँ !! और गोद में आने लगा।

"ना बेटा ! मेरे सामायिक है"—माता ने कहा।

"माँ ! ऐ माँ !! एक बात कहूँ" और वह गोद में आ ही गया। माता पहले गोद में आने के लिए मना करती थी। अब पुचकारने लगी, दुलारने लगी।

"कहो वत्स ! क्या बात है ?"

मुनि मन ही मन सोचने लगे—"कैसी मूर्ख स्त्री है। अभी-अभी मना कर रही थी। अब दुलार रही है !"

बच्चा बोला—"माँ ! आज तूने खीर बड़ी अच्छी बनाई। रसास्वाद अच्छा, केशर की गंध और बादाम, नोजा, पिस्ता, चिटकी के मिश्रण से बड़ी स्वादिष्ट बनी। मैं खाने बैठा और खाता ही गया। सारी खीर खाकर ही रहा। पर माँ ! कै हो आई। सारी खीर खाई, वैसे ही बाहर निकल आई। मेरे हाथ-पैर सभी अंग सन्न हो गये। नीचे न गिरने दी।"

"फिर क्या किया ?" माता ने लाड से पूछा।

"माँ ! करता क्या ? खीर बड़ी सुस्वादु थी। गंवाई जा नहीं सकती थी। कै में निकली खीर को मैं फिर चाट गया। माँ ! वह बड़ी स्वादिष्ट लगी। चाटते-चाटते हाथ-पैरों को भी साफ कर दिया।"

माता ने वात्सल्य-भाव दिखाते हुए कहा—"बहुत अच्छा किया बेटा ! खीर गंवाई नहीं। भला छोड़ी भी कैसे जाती ?"

मुनि से न रहा गया। एक तरफ ये घिनौनी बातें, ऊपर से माता का लाड ! बच्चे ने कुत्ते का काम किया और फिर दुलार—अनर्थ ! कैसी उलटी गंगा बह रही है ? वे बोल पड़े—"तुम कितनी मूर्ख हो ? यदि बच्चे के द्वारा कोई अच्छा काम होता तो सराहना भी करती।"

बस और क्या चाहिए था, नागला बोल पड़ी "बच्चा है, कर भी लिया तो क्या ? कहने चले हो किस मुंह से। बारह वर्ष का साधुत्व गंवाने जा रहे हो। कै की तरह छोड़े काम-भोगों को चाटने जा रहे हो। वह तो बच्चा है, चाट भी लिया ! तुम इतने बड़े होकर चाटने की इच्छा रखते हो ? कहते शर्म नहीं आती। कहना सरल है, करना कठिन ! पर खबरदार यदि घर की तरफ पैर बढ़ाया तो पैर काट लूंगी। मैंने रेवती की ठोकर खाई है। तन, मन, वचन से पुरुष मात्र की वाञ्छा नहीं करती। आपसे मेरा कोई सरोकार नहीं है। न मैं आपकी हूँ न आप मेरे हैं। आप लार चूसनेवाले न हों।"

मुनि की आँखें खुल गईं। यही है नागला। मैं बड़ा नीच हूँ। कहाँ मैं मुनि था, कहाँ भ्रष्ट होने जा रहा हूँ। उसने कहा—"मैं इन कामभोगों को यावज्जीवन के लिए ठुकराता हूँ। आज तुमने मुझे सत्पथ पर ला दिया, इसके लिए आभारी हूँ। पर गुरु के पास कैसे जाऊँ ! मैं बिना आज्ञा आ गया था।"

नागला ने कहा : "चलिए। किसी बात का डर नहीं है।" वह उन्हें गुरु के पास ले गई। सारी बात बताई। भावदेव पुनः साधु-जीवन बीताने लगे। वे संयम में रत हो गये। और अन्त में स्वर्ग-सुखों को प्राप्त किया। वे ही अगले जन्म में जम्बूकुमार हुए। जिन्होंने प्रति उत्तम वैराग्य-वृत्ति से साधुपन लिया और भगवान महावीर के तीसरे पट्टधर हो मुक्ति प्राप्त की[1]।

३२-नंदिषेण

जैन इतिहास में ब्रह्मचर्य की साधना से पतन के अनेक रोमाञ्चकारी प्रसंग मिलते हैं। पतन के बाद जो उत्थान के चित्र हैं वे और भी हृदयस्पर्शी हैं। नंदिषेण का प्रसंग एक ऐसा ही प्रसंग है।

नंदिषेण मगधाधिपति श्रेणिक के पुत्र थे। एक बार भगवान महावीर राजगृह पधारे। नंदिषेण ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

एक बार मुनि नंदिषेण ने तीन दिन का उपवास किया। पारण के दिन वे भिक्षा के लिए निकले। भिक्षा के लिये भ्रमण करते-करते वे एक वेश्या के घर के द्वार पर आ पहुँचे। वेश्या मुनि को देख विनोद करने लगी : "मुझे धर्म-लाभ नहीं चाहिये, अर्थ-लाभ चाहिए।"

मुनि को इस विनोद से क्रोध आ गया। साथ ही उनमें अपनी शक्ति का गर्व भी जागा। उन्होंने अपने तपोबल से वेश्या के घर में रत्नों का ढेर कर दिया।

वेश्या साधु की करामात को देखकर आश्चर्य-चकित रह गई। नंदिषेण अत्यन्त रूपवान थे। वेश्या उनके प्रति मोहित हो गयी। उसने,

---

१—(क) भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड २) : जंबूकुमार चरित—ढाल ३-५ पृ० ५५६-५६३

(ख) जैन भारती (१९५३) वर्ष १ अङ्क ८ पृ० ९९-१०२से संक्षिप्त। यहाँ आचार्य तुलसी द्वारा कथित कथा विस्तार से दी हुई है।

नंदिषेण का हाथ पकड़, उन्हें घर के अन्दर खींच लिया और प्रेमपूर्वक बोली : "आपने धर्मलाभ और अर्थलाभ तो दिया, पर एक लाभ और दें। मैं आप से भोगलाभ की याचना करती हूँ। आप तपस्वी हैं, इतने से आपका तप नष्ट नहीं होगा।"

मुनि नंदिषेण का मन विचलित हो गया। उनके पूर्व संस्कार जागृत हो गये। वेश्या की इच्छापूर्ति करने के लिए वे उसी के यहाँ रहने लगे। उन्होंने मन को संतोष देने के लिए नियम लिया—"मैं यहाँ रह कर भी रोज धर्मोपदेश से दस व्यक्तियों को समझा कर प्रव्रज्या के लिये भगवान महावीर के पास भेजा करूंगा और फिर भोजन करूंगा।"

यह क्रम चलता रहा। परन्तु एक दिन नंदिषेण दस व्यक्तियों को प्रतिबोधित नहीं कर सके। उधर भोजन तैयार हो चुका था। भोजन करने के लिए बार-बार आदमी बुलाने के लिए आ रहा था, पर नंदिषेण अपनी प्रतिज्ञा को पूरी किये बिना भोजन नहीं कर सकते थे।

आखिर वेश्या स्वयं उन्हें बुलाने के लिए आई। नंदिषेण बोले : "अभी तक नौ ही व्यक्ति प्रतिबोधित हुए हैं। एक व्यक्ति और प्रतिबोधित हुए बिना मैं भोजन नहीं कर सकता।"

गणिका हंसी में बोली : "फिर दसवें आप ही क्यों नहीं हो जाते ?"

गणिका की बात नंदिषेण के हृदय को भेद गई। उसने सोचा—"मैं केवल दूसरों को प्रतिबोध देता हूँ और स्वयं फंदे में फंसा हूँ। दसवाँ व्यक्ति मैं ही बनूंगा।"

नंदिषेण उसी समय भगवान महावीर के पास जाने के लिए तैयार हो गये। गणिका रोने लगी। नाना तरह से विलाप करने लगी। अपने विनोद के लिए माफी मांगने लगी, पर नंदिषेण का पुरुषत्व जागृत हो चुका था। वे रुके नहीं। सीधे भगवान महावीर के पास पहुँचे। दुष्कृत्य की निन्दा की। प्रायश्चित्त लिया। और पुनः दीक्षित हुए।

दीक्षा के बाद वे तपस्वी जीवन बिताने लगे और अन्त तक दृढता के साथ संयम का पालन किया।

३३-मुनि आर्द्रक

घोर पतन के बाद उत्थान का दूसरा चित्र मुनि आर्द्रक के जीवन में मिलता है।

आर्द्रक अनार्य देश के निवासी थे। उन्होंने अपने आप दीक्षा ले ली। एक बार विहार करते-करते वे वसंतपुर पहुँचे और नगर के बाहर एक स्थान में ठहरे और ध्यानावस्थित हो गये।

वसंतपुर में देवदत्त नामक सेठ रहता था। उसकी पुत्री का नाम श्रीमती था। वह बड़ी सुन्दर थी। वह अन्य बालाओं के साथ क्रीड़ा करती-करती उसी स्थान में पहुँच गयी, जहाँ मुनि आर्द्रक ठहरे हुए थे। सब बालाएँ खेलने लगीं। खेल शुरू करने के पूर्व बालाओं ने आपस में तय किया—'सब अपना-अपना मनचाहा वर कर लें।' बालाओं ने एक दूसरे को वर के रूप में चुन लिया। श्रीमती बोली : "मैं तो इन ध्यानस्थ मुनि को ही वर के रूप में चुनती हूँ।"

बालाएँ परस्पर पति-रमण की क्रीड़ा कर अपने-अपने घर चली गयीं। आर्द्रक मुनि भी वहाँ से चले गये।

देवदत्त श्रीमती की सगाई की चेष्टा करने लगा। उसने वर की तलाश करनी शुरू की। श्रीमती बोली : "मैंने खेल में एक मुनि को पतिरूप में चुना था। मेरे पति वे ही हो सकते हैं। मैं और किसी से विवाह न करूँगी।"

मुनि वसंतपुर से विहार कर चुके थे और कहाँ थे, इसका पता नहीं चलता था। देवदत्त इससे चिन्तातुर हुआ। अकस्मात् एक दिन मुनि पुनः वसंतपुर आये। व्यवस्था के अनुसार देवदत्त ने मुनि को अपने घर गोचरी पधारने की अर्ज की। मुनि गोचरी पधारे। श्रीमती ने उन्हें पहचान लिया और बोली : "यही वे मुनि हैं, जिन्हें मैंने खेल में वररूप में चुना था।"

सेठ ने श्रीमती के प्रण की बात कही और अपनी पुत्री से विवाह करने का अनुरोध किया। मुनि आर्द्रक दिङ्मूढ हो गये। मोह का स्रोत बह चला। उन्होंने विवाह करना स्वीकार किया। केवल एक शर्त रखी : "एक पुत्र होने के बाद घर में नहीं रहूँगा।" सेठ तथा श्रीमती ने शर्त स्वीकार की।

आर्द्रक और श्रीमती का विवाह हो गया और दोनों सुखोपभोग करते हुए साथ रहने लगे।

काल पाकर श्रीमती को पुत्र उत्पन्न हुआ। आर्द्रक जाने के लिए तैयार हुए। श्रीमती बोली—"जब तक बच्चा बड़ा न हो जाए तब

तक आप न जायं। अभी तो वह न होने के बराबर है। मेरा मन कैसे लगेगा ?" आर्द्रक रुक गये। बालक बड़ा हुआ और चलने-फिरने लगा। वह अपनी मां से बात करने लायक भी हो गया। अब आर्द्रक जाने को तैयार हुए। श्रीमती चिंतित हो गईं, आखिर में उसे एक उपाय सूझा। एक चर्खा लेकर वह कातने बैठी। पुत्र ने पूछा—"मां ! यह क्या करती हो ?" श्रीमती बोली : "पुत्र ! तुम्हारे पिता हम दोनों को छोड़कर जाना चाहते हैं। तू अभी छोटा है। कमाने लायक अभी नहीं हुआ। अतः मैं यह उद्यम सीख रही हूँ, जिससे भविष्य में तुम्हारा पोषण कर सकूं।"

यह सुनकर बालक ने माता के काते हुए सूत की गुंडी हाथ में ले ली और पिता के पास पहुँच उस कच्चे सूत से उनके आंटे देने लगा। यह देखकर आर्द्रक हंसने लगे और बोले—"तू यह क्या कर रहा है?" बालक बोला : "आप हम लोगों को छोड़ कर जाना चाहते हैं। मैंने आप को बांध लिया है। देखें अब आप कैसे जायंगे ?"

आर्द्रक गंभीर हो गये। उन्होंने लपेटे हुए सूत के धागे गिने और बालक से बोले : "तुमने जितने आंटे दिए हैं, उतने वर्ष और तुम्हारे साथ रहूँगा।"

देखते-देखते उतने वर्ष बीत गए। आखिर आर्द्रक ने श्रीमती और बालक से विदा ली तथा श्रमण भगवान महावीर के पास पहुँचे। उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की और संयम का दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए रहने लगे।

आर्द्रक कुल २४ वर्ष तक श्रीमती के साथ रहे। उसके बाद वे पुनः मुनि हुए।

३४-ब्रह्मचर्य और उसका फल

ब्रह्मचर्य का फल बताते हुए पतञ्जलि ने कहा है—"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः[1]"—ब्रह्मचर्य से वीर्य की प्राप्ति होती है। इसकी टीका में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसको उसके प्रकर्ष से निरतिशय वीर्य का—सामर्थ्य का लाभ होता है। वीर्य-निरोध ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रकर्ष से शरीर, इन्द्रिय और मन में प्रकर्ष वीर्य-शक्ति उत्पन्न होती है—"यःकिल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्यं सामर्थ्यमाविर्भवति। वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यम्, तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति।"

पतञ्जलि ने जो बात कही, वही महात्मा गांधी ने अन्य शब्दों में इस प्रकार कही है—"सब इन्द्रियों का संयम करनेवाले के लिए वीर्य-संग्रह सहज और स्वाभाविक क्रिया हो जाती है[2]।" उनके अनुभव के अनुसार वीर्य अनमोल शक्ति है। तन, मन और आत्मा का बल—तेज बनाये रखने के लिए वह परमावश्यक है। वे लिखते हैं—"वीर्य को पचा लेने का सामर्थ्य लंबे अभ्यास से प्राप्त होता है। यह अनिवार्य भी है, क्योंकि इससे हमें तन-मन का जो बल मिलता है, वह और किसी साधना से नहीं मिल सकता[3]।" "सारी शक्ति उस वीर्य-शक्ति की रक्षा और ऊर्ध्वगति से प्राप्त होती है, जिससे कि जीवन का निर्माण होता है। अगर इस वीर्य-शक्ति को नष्ट होने देने के बजाय संचय किया जाय, तो यह सर्वोत्तम सृजन-शक्ति के रूप में परिणत हो सकती है[4]।" वीर्य की इस अमोघ शक्ति को ध्यान में रख कर ही ऋषि ने कहा : "मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।" महात्मा गांधी ने कहा है—"जिस वीर्य में दूसरे मनुष्य को पैदा करने की शक्ति है, उस वीर्य का फिजूल स्खलन होने देना महान अज्ञान की निशानी है[5]।" "नित्य उत्पन्न होनेवाले वीर्य का अपनी मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक शक्ति बढ़ाने में उपयोग कर लेना चाहिए[6]।"

१—पातञ्जल योगसूत्र २.३८
२—आरोग्य की कुंजी पृ० ३
३—अनीति की राह पर पृ० १०८
४—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२
५—आरोग्य की कुंजी पृ० ३२
६—वही पृ० ३४

चरक संहिता में कहा है—"जिस तरह गन्ने में रस, दही में घी और तिल में तैल रहता है, उसी तरह वीर्य भी शरीर के प्रत्येक भाग में व्याप्त है। भीगे हुए कपड़े में से जैसे पानी गिरता है, वैसे ही वीर्य भी स्त्री-पुरुष के संयोग से तथा चेष्टा, संकल्प, पीड़नादि से अपने स्थान से नीचे गिरता है[1]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं : "रत्ती-भर रति-सुख के लिए हम मन भर से अधिक शक्ति पल भर में गवा बैठते हैं। जब हमारा नशा उतरता है, तो हम रङ्क बन जाते हैं[2]।" "जान-बूझ कर भोग-विलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है ? वीर्य का उपयोग तो दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिए है। विषय-भोग में उसका उपयोग करना उसका अति दुरुपयोग है और इस कारण वह बहुतेरे रोगों की जड़ बन जाता है[3]।" अतः "प्रकृति ने जो शुद्ध शक्ति हमें दे रखी है, हमें उचित है कि उसको शरीर में ही बनाये रखें और उसका उपयोग केवल तन को नहीं, मन, बुद्धि और धारणा शक्ति को भी अधिक स्वस्थ—सबल बनाने में करें[4]।" "जिस तरह चूनेवाले नल में भाप रखने से कोई शक्ति पैदा नहीं होती, उसी प्रकार जो अपनी शक्ति का किसी भी रूप में क्षय होने देता है, उसमें उस शक्ति का होना असंभव है[5]।"

श्रीमती अलाइस स्टॉकहम ने अपने 'उत्पादक शक्ति' शीर्षक निबन्ध में लिखा कि जब मनुष्य को अन्य प्राकृतिक क्षुधाओं के साथ-साथ विषय-क्षुधा लगती है, तब वह समझ ले कि यह किसी महान् उत्पादक कार्य के लिए प्रकृति का आदेश है। केवल वह विषय-वासना के हीन रूप में प्रकट हो रहा है। वह एक कूवत है जिसको बलिष्ठ इच्छा-शक्ति और दृढ़ प्रयत्न के द्वारा बड़ी आसानी से अन्य शारीरिक अथवा आध्यात्मिक कार्य में परिणत किया जा सकता है।

संत टॉल्स्टॉय ने इस निबन्ध पर टिप्पणी करते हुए अपना अनुभव लिखा है :

"मेरा भी यही खयाल है। वह सचमुच एक शक्ति है, जो परमात्मा की इच्छा को पूर्ण करने में सहायक हो सकती है। वह पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य की स्थापना करने में अपना महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। ब्रह्मचर्य द्वारा इस शक्ति को ईश्वरेच्छा पूर्ण करने में प्रत्यक्ष लगा देना जीवन का सर्वोच उपयोग है[6]।"

निशीथ भाष्य में कहा है—"जब-जब काम-विकार की जागृति हो साधक को दीर्घ तपस्या, वैयावृत्य, स्वाध्याय, दीर्घ विहार में प्रवृत्त होना चाहिए[7]।" इसका तात्पर्य भी यही है कि काम-विकार के समय साधक महान् साधना में लग जाय तो वह काम-विकार उपशांत हो उस महान् साधना को पूरा होने का अवसर प्रदान करता है। काम-विकार शांत होने पर चित्त-वृत्ति महा तपस्या आदि में परिवर्तित होकर महान् कर्म-क्षय का कारण बनती है।

इस सम्बन्ध में श्री मशरूवाला ने लिखा है :

"...अब्रह्मचर्य की जड़ तो मनोविकार में है;...अर्थात् सब स्थूल नियमों का पालन करते हुए भी अगर मन के सामने विकारी वातावरण हो, तो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जा सकता।

"जैसे किसी तेज झरनों वाले कुएं को साफ करना हो तो उसके झरनों में गुदड़ी या मोटा कपड़ा ठूंस कर उसका पानी उलीचना

१—चरकसंहिता, चिकि० अ० २ :

रस इक्षौ तथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले तथा।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने यथा ॥
तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात्।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात पटादिव ॥

२—अनीति की राह पर पृ० ६१

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ६

४—अनीति की राह पर पृ० ६०-६१

५—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२

६—स्त्री और पुरुष पृ० ५३-४

७—देखिए पृ० ११५ पा० टि० १ (ख)

चाहिए, वर्ना वह कभी खाली नहीं हो सकता; उसी तरह मन को 'निर्मल और शुद्ध बनाने के लिये उसमें घुसनेवाली चीजों की तरफ खूब ध्यान देना चाहिए[1]।"

"...द्वेषभाव से विकार का चिंतन करके भी हम विकार से बच नहीं सकते। विकार का द्वेषभाव से चिंतन करने में भी विकार का स्मरण तो रहता ही है। विकार की साधना करनेवाले को चाहिये कि वह विकार को भूल ही जाय। इसलिए इसका सबसे अच्छा रास्ता चित्त को दूसरे काम में लगा देना ही है। कोई उदात्त रस चित्त को लगा देना, विकार को दूर करने का सच्चा उपाय है[2]।"

"...यदि विकार पैदा हों तो उनका शत्रुभाव या मित्रभाव से विचार करने के बजाय किसी नये ही विचार में मन को रमाने की कोशिश करनी चाहिए[3]।"

"भोगों की इन आहुतियों में पहली आहुति विषयेच्छा की होनी चाहिये। धर्म, आध्यात्मिक जीवन, आर्थिक स्थिति, शारीरिक स्थिति, राजनीति, स्त्री-शिक्षा, तत्त्वज्ञान इत्यादि—जिस-जिस दृष्टि से भी मैं विचार करता हूँ, मेरे विचार मुझे ब्रह्मचर्य की सीढ़ी पर ही लाकर खड़ा कर देते हैं।...मैं वीर्यरक्षा की बात करता हूँ। यदि आपको ऐहिक संकल्पों या पारमार्थिक संकल्पों की कोई भी सिद्धि इसी जीवन में पानी हो, तो उसे ब्रह्मचर्य के बिना पाने की आशा मत रखिये[4]।"

३५-कृति-परिचय

इस कृति के रचयिता स्वामी भीखणजी का जन्म मारवाड़ के कंटालिया ग्राम में सं० १७८३ में हुआ था। आपके पिताजी का नाम साह बलूजी था और माताजी का नाम दीपांबाई। आपने विवाह किया और एक पुत्री भी हुई, पर आपकी चित्तवृत्ति वैराग्य की ओर ही झुकी हुई थी।

अन्त में आपने दीक्षा लेने का विचार कर लिया। पत्नी ने भी साथ देना चाहा। प्रव्रज्या की इच्छा से पति-पत्नी दोनों ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने लगे। साथ ही एकान्तर भी करने लगे।

कुछ अर्से बाद पत्नी का देहान्त हो गया। सम्बन्ध आने लगे पर स्वामीजी ने विवाह न करने का निश्चय कर लिया। और २५ वर्ष की पूर्ण युवावस्था में प्रव्रजित हो गये।

आपकी दीक्षा सं० १८०८ में हुई। स० १८१६ तक आप आचार्य रुघनाथजी के सम्प्रदाय में रहे। बाद में उनसे पृथक् हो आपने नव दीक्षा ग्रहण की। यह घटना आषाढ़ सुदी १५, १८१७ की है। आपका सम्प्रदाय 'तेरापन्थ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सम्प्रदाय के नायक रूप में आप ४३ वर्ष तक विभिन्न स्थानों में पाद-विहार करते रहे और महान् लोकोपकार किया। आपका देहान्त सं० १८६० में हुआ।

स्वामीजी उत्कट वैरागी थे। ब्रह्मचर्य के प्रति आपका सहज झुकाव था, यह उपर्युक्त घटना से प्रकट है। यही कारण है कि शील-विषयक आपकी यह कृति सहज प्रसाद-रस से ओत-प्रोत है।

इस कृति में कुल ११ ढालें हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है पहली ढाल में ब्रह्मचर्य की महिमा का सुन्दर वर्णन है और अवशेष एक-एक ढाल में ब्रह्मचर्य की रक्षा के एक-एक समाधि-स्थानक का सारगर्भित विवेचन।

इस कृति में कुल मिलाकर ४६ दोहे और १६७ गाथाएँ हैं। प्रत्येक ढाल के आरम्भ में दोहे हैं जो उस ढाल के विषय का बड़ा सुन्दर संक्षिप्त परिचय दे देते हैं। यह कृति विभिन्न रागिनीपूर्ण गीतिकाओं में ग्रथित है, अतः श्रुति-मधुर होने के साथ-साथ बड़ी भावोत्तेजक है। प्रत्येक ढाल में सहज गंभीर प्रवाह है और हृदय को प्रभावित करनेवाला आध्यात्मिक रस।

स्वामीजी ने अपनी अन्य कृतियों की तरह इस कृति का भी अपनी ओर से कोई नाम नहीं दिया। कृति के विषय की सूचना इस रूप में मी है :

१—स्त्री-पुरुष-मर्यादा पृ० २२
२—वही पृ० २३
३—वही पृ० २६
४—वही पृ० ७६

हिवें कहूँ छू जू जूइ, सील तणी नव वाड़। दसमों कोट ते चिहूँ दिसा माँहें ब्रह्मचर्य वरत सार॥ (ढाल २ दु० १)

ए नव वाड़ कही ब्रह्मचर्य री, हिवे दसमों कहूँ छे कोट। ए वाड़ लोपी बींटें रह्यो, तिण में मूल न चाले खोट॥ (ढा० ११ दु० १)

इन दोहों में तथा इसी कृति में अन्यत्र प्रयुक्त 'नव वाड़' शब्द के आधार पर इस कृति का नाम 'शील की नव बाड़' पड़ गया मालूम देता है और यह कृति इसी नाम से प्रसिद्ध है।

इस कृति का मूलाधार उत्तराध्ययन सूत्र का १६ वाँ 'ब्रह्मचर्य समाधि-स्थानक' अध्ययन है, जैसा कि स्वामीजी ने स्वयं ही लिखा है:

उतराधेन सोलमां मझारों, तिणरो लेई ने अनुसारों। तिहां कोट सहीत कही नव वाड़, ते संखेप कह्यों विसतार॥ (ढा० ११, गा० १२)

उत्तराध्ययन में समाधि-स्थानकों का संक्षेप में वर्णन है। स्वामीजी ने उनका विस्तार से वर्णन किया है। ऐसा करते हुए स्वामीजी ने अन्य आगमों के उल्लेखों को भी गर्भित कर लिया है। संदर्भित आगम-स्थलों को टिप्पणियों में संगृहीत कर दिया गया है। उन्हें देखने से पता चलेगा कि इस कृति के पीछे कितना गंभीर आगम-अध्ययन रहा हुआ है।

यह कृति वि० सं० १८४१ में रचित है। इसका रचना-स्थल मारवाड़ का पादु ग्राम है। कृति के अन्त में निम्नलिखित गाथा मिलती है:

इगताळीसें नें समत अठार, फागुण विद दसमीं गुरवार। जोड़ कीधीं पादु मझार, समझावण नें नर नार॥

३६-श्री जिनहर्षजी रचित शील की नव बाड़

परिशिष्ट—ग में (पृ० १२८ से १३४) श्री जिनहर्षजी रचित 'शील की नव बाड' दी गई है। इसकी दो प्रतियाँ देखने को मिली—एक सरदारशहर के संग्रह की और दूसरी थी अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर के संग्रह की। दोनों ही प्रतियाँ कई स्थलों पर अशुद्ध हैं। हमने सरदारशहर की प्रति को मूल माना है और थोड़े से विशिष्ट पाठान्तर बीकानेर की प्रति से दिये हैं।

सरदारशहर की प्रति से रचना-संवत का पता नहीं चलता। उसमें रचना-संवत इस प्रकार लिखा मिलता है—"निधि नयण सुरस भाद्र पदि बीज आलस छांडि"। बीकानेर की प्रति से रचना-काल सं० १७२९ निकलता है—"निधि नयण सुर ससि भाद्र पद वदि बीज आलस छाडि।"

दोनों ही प्रतियाँ विक्रमपुर में लिखित हैं। सरदारशहर वाली प्रति सं० १८४४ की है। प्रशस्ति में लिखा है—"पं० सगुण प्रमोद मुनि : लिपि कृतं॥......महिमा प्रमोद मुनि हुकुम कीयो जिदे लिप दीनो॥" बीकानेर की प्रति में लेखन संवत् नहीं है। अन्त में लिखा है—"पं० जीवमाणिक्येन लिपीकृता।"

दोनों प्रतियों में अनेक स्थलों पर काफी अन्तर है। संभव है कि विक्रमपुर में इस कृति की एकाधिक प्रतियाँ रही हों और ये प्रतियाँ भिन्न-भिन्न प्रतियों के आधार से हों। संभवतः मूलकृति ही विक्रमपुर में हो और पाठान्तर लिपिकर्त्ताओं के कारण बन गये हों।

स्वामीजी की कृति सं० १८४१ की रचना है। और श्री जिनहर्षजी की कृति बीकानेर की प्रति के आधार से सं० १७२९ की। इस तरह श्री जिनहर्षजी की कृति पुरानी ठहरती है।

श्री जिनहर्षजी की कृति में कुल २५ दोहे और ७१ गाथाएँ हैं, जब कि स्वामीजी की कृति में कुल ४६ दोहे और १६७ गाथाएँ।

श्री जिनहर्षजी की कृति में नौ बाड़ों का ही वर्णन है, जब कि स्वामीजी की कृति में उत्तराध्ययन-वर्णित दसवें समाधि-स्थानक का भी कोट के रूप में वर्णन है।

स्वामीजी ने श्री जिनहर्षजी की कृति का उपयोग अपनी कृति में किया है। नीचे हम इस विषय में विस्तार से प्रकाश डाल रहे हैं।

ढाल—१

श्री जिनहर्षजी की कृति में इस ढाल में ७ गाथाएँ और ७ दोहे हैं और स्वामीजी की कृति में ८ गाथाएँ और ८ दोहे। दोहों में से १,२,५,६ और ७—ये पाँच प्रायः एक-से हैं। सामान्य शाब्दिक परिवर्तन है।

तीसरे दोहे का चौथा चरण स्वामीजी की कृति में "जिम पावन हुवइ देह" के स्थान में "पामें भवजल छेह" है। चौथे दोहे के प्रथम चरण में "सुरगुरु जो पोते कहै" के स्थान में स्वामीजी की कृति में "कोइ केवली गुण करें" है और अन्तिम चरण में "तौ पिण कह्या न जाइ" के स्थान में "पूरा कह्या न जाय" है।

प्रथम गाथा के प्रथम दो चरण प्राय: मिलते हैं। अन्तिम दो चरण भिन्न हैं। "दंभ कदाग्रह छोड़िने धरीये तिण सुं नेह रे" के स्थान में स्वामीजी की कृति में "सीयल सूं सिव सुख पामीये, त्यां दुखां रो कद नावे छेह रे" है। स्वामीजी की दूसरी गाथा नवीन है। जिनहर्षजी की तीसरी गाथा स्वामीजी की कृति में नहीं है। चौथी गाथा अन्य शब्दों में है।

छठी गाथा के "जतनकरी वृष राषिवउ हीयड़ै अतिरंग आंणि रे" के स्थान में स्वामीजी की गाथा में "तिण सीयल विरख रा जतन करो ज्यूं वेगी पांमों निरवांण रे" है। इसी तरह सातवीं गाथा के "कीधी तिण तरु पाषती ए नव वाड़ि सुजांण रे" के स्थान में ८ वी गाथा में "कीधी तिण विरख नें राखवा, नव वाड़ दसमों कोट जांण रे" है।

इस तरह स्वामीजी की कृति की ८ गाथाओं में से ४½ प्राय: जिनहर्षजी की कृति से मिलती हैं।

ढाल—२

श्री जिनहर्षजी की दूसरी ढाल में ७ गाथाएँ और प्रारंभ में २ दोहे हैं। स्वामीजी की कृति में १० गाथाएँ और ८ दोहे हैं। स्वामीजी के आठों दोहे पृथक् हैं। दस गाथाओं में चार मिलती हैं छ: पृथक् हैं।

प्रथम गाथा के "जिण थी सिव सुख पांमीये सुंदर तनु सिणगार हो भवीयण" के स्थान में स्वामीजी की कृति में "जिण थी सिव सुख पांमीयें, तू वाड़ म खंडे सिंगार हो। ब्रह्मचारी" है। तीसरी गाथा के "कुशल किहां थी तेहनइ पामें दुष अघोर हो" के स्थान में स्वामीजी की कृति में "कुसल किहां थी तेहनें मारे घांटी मरोड़ हो" है।

ढाल—३

श्री जिनहर्षजी की कृति में २ दोहे और ८ गाथाएँ हैं और स्वामीजी की कृति में २ दोहे और १४ गाथाएँ। स्वामीजी के दोनों दोहे पृथक् हैं। जिनहर्षजी के दोनों दोहे स्वामीजी की ढाल २ के ६ ठे एवं ७ वें दोहे के रूप में मिलते हैं। दूसरे दोहे के "आवे अछतौ आल सिरि बीजी वाड़ि विलोक" के स्थान में स्वामीजी के दोहे की शब्द-रचना इस प्रकार है—"आवें अछतो आल सिर, वले हुवें वरत पिण फोक"।

स्वामीजी की १४ गाथाओं में से पहली, दूसरी और तीसरी तीन गाथाएँ मिलती हैं। तीसरी गाथा कृतियों में क्रमश: इस प्रकार है :

वांणी कोइल जेहवी रे वारण कुंभ उरोज।	वाणी कोयल जेहवी रे, हाथ पांव रा करें वखांण।
हंसगमणि कृसहरिकटी रे करयुग चरण सरोज रे प्रांणी ॥३॥	हंस गमणी कटी सींह सभी रे, नाभि ते कमल समांण रे ॥३॥

ढाल—४

श्री जिनहर्षजी की कृति में ६ गाथाएँ और २ दोहे हैं और स्वामीजी की कृति में १४ गाथाएँ और ४ दोहे। स्वामीजी का तीसरा और चौथा दोहा जिनहर्षजी के प्रथम और द्वितीय दोहे से क्रमश: मिलते हैं। जिनहर्षजी के दूसरे दोहे के "इम जांणी रे प्रांणीया तजि आसण त्रियरंग" के स्थान में स्वामीजी के चौथे दोहे में "ज्यूं एकण आसण बेसतां न रहें वरत सुरंग" है।

स्वामीजी की १४ गाथाओं में से सिर्फ दो—पहली और दूसरी जिनहर्षजी की रचना से मिलती हैं अन्य पृथक् हैं। मिलती गाथाओं की शब्द-रचनाएँ इस प्रकार हैं :

तीजी वाड़ि हिवे चित्त विचारौ नारि सहित बइसवौ निवारौ लाल।	तीजी वाड़ हिवें चित्त विचारो, नारी सहित आसण निवारो लाल।
एकइ आसण काम दीपावे चौथा व्रत नै दोष लगावे लाल ॥१॥	एकण आसण बेठां कांम दीपे छें, ते ब्रह्मचारी ने आछों नहीं छे लाल ॥१॥
इम बैसंतां आसंगौ थाये आसगे काया फरसाये रे लाल।	एकण आसण बेठां आसंगो थावे, आसंगे काया फरसावे लाल।
काया फरस विषे रस जागे तेहथी अवगुण थाये आगे लाल ॥२॥	काया फरस्यां विषे रस जागे, इम करतां जावक वरत भांगे लाल ॥२॥

ढाल—५

श्री जिनहर्षजी की कृति में २ दोहे और ८ गाथाएँ हैं और स्वामीजी की कृति में २ दोहे और २१ गाथाएँ। स्वामीजी का पहला दोहा स्वतंत्र है। दूसरा दोहा जिनहर्षजी के पहले दोहे से मिलता है।

स्वामीजी की ढाल की ७ वी और ८ वी गाथाएँ क्रमश: जिनहर्षजी की तीसरी ढाल की ५ वी और ६ ठीं गाथाओं से मिलती हैं। १० वी गाथा इस ढाल के दूसरे दोहे के समान है। अवशेष १८ गाथाओं में से छ: मिलती-जुलती हैं। शेष भिन्न हैं। जिनहर्षजी की ढाल की ५ वी गाथा स्वामीजी की दूसरी ढाल की चौथी गाथा से भाव में मिलती है।

रूपे रंभा सारिषी मीठा बोली नारि। रूप रंभा सारिषी रे, वले मीठाबोली हुवें नार।
तौ किम जोवै एहवी तो भर यौवन मत धारि ह० ना० ॥६॥ ते निजर भरेनें निरखतां रे, वरत नें होवें बिगाड ॥ ह० ना० ॥४॥
अबला इन्द्री जोवतां मन थावे वसि प्रेम। अबला इन्द्री निरखतां रे, बांधे विष रस पेम।
राजमती देषी करी हो तुरत डिग्यो रहनेमि ह० ना० ॥७॥ राजमती देखी करी रे, तुरत डिग्यों रहनेम ॥ ह० ना० ॥६॥
रूप कूप देषी करी मांहि पडे कामंध। रूप में रूडी देखनें रे, मांहें पडे काम अंध।
दुष मांगें जाणें नहीं हो कहै जिनहरष प्रबंध ह० ना० ॥८॥ दुख मांगें जाणें नहीं रे, ते पाड़ें दुरगत नो बंध ॥ ह० ना० ॥५॥

ढाल—६

श्री जिनहर्षजी की कृति में २ दोहे और ७ गाथाएँ हैं और स्वामीजी के की कृति में ३ दोहे और ७ गाथाए। स्वामीजी का दूसरा दोहा जिनहर्षजी के प्रथम दोहे से मिलता-जुलता है :

संयोगी पासे रहै ब्रह्मचारी निसदीस। संजोगी पासें रहें, ब्रह्मचारी दिन रात।
कुशल न तेहनो व्रत भणी भाजी विसवावीस ॥१॥ तेह तणा सब्द सुणयां, हुवें वरत नी घात ॥२॥

सामान्य शाब्दिक समानता के अतिरिक्त गाथाएँ प्रायः भिन्न हैं।

ढाल—७

जिनहर्षजी की कृति में २ दोहे और ६ गाथाएँ हैं और स्वामीजी की कृति में २ दोहे और १५ गाथाएँ। प्रथम दोहा मिलता-जुलता है :

छठी वाडै इम कह्यो चंचल चित्त म डिगाय॥ हिवें छठी वाड में इम कह्यों, चंचल मन म डिगाय।
पाधौ पीधौ विलसीयौ रे तिण सूं चित म लगाय ॥१॥ खाधों पीधों विलसीयों, ते मत याद अणाय ॥१॥

गाथाएँ सर्वथा भिन्न हैं। जिनरक्षित का शास्त्रीय उदाहरण मिलता है, पर सर्वथा अन्य शब्दों में है।

ढाल—८

श्री जिनहर्षजी की कृति में २ दोहे और ७ गाथाएँ हैं और स्वामीजी की कृति में ४ दोहे और १६ गाथाए। मिलते-जुलते दोहे इस प्रकार हैं :

पाटा पारा चरचरा मीठा भोजन जेह। खाटा खारा चरचरा, वले मीठा, भोजन जेह।
मधुरा मोल कसायला रसना सहु रस लेह ॥१॥ वले विविध पणें रस नीपजें, ते रसना सव रस लेह ॥३॥
जेहनी रसना वसि नही चाहै सरस आहार। जेहनीं रसना वस नहीं, ते चाहें सरस आहार।
ते पांमे दुष प्राणीयौ चौगति रूलै संसार ॥२॥ ते वरत भांगे भागल हुवें, खोवें ब्रह्म वरत सार ॥४॥

पहली गाथा जिनहर्षजी की दूसरी गाथा से मिलती-जुलती है :

कमल भरे उपाडतौ धृत बिंदु सरस आहारो रे। कवलांकरें आहार उपारतां, ध्रत बिन्दु झरतो आहार भारी रे।
ते आहार निवारीयै तिण थी वधे विकारो रे म० ॥२॥ एहवो आहार सरस चांप २ नें, नित २ न कर ब्रह्मचारी रे ॥
ए वाड़ म लोपो सातमीं ॥१॥

अन्य गाथाएँ सर्वथा भिन्न हैं। कई दृष्टान्त सामान्य होने पर भी बिल्कुल पृथक् भाषा में हैं।

ढाल—९

श्री जिनहर्ष रचित ढाल में २ दोहे और ५ गाथाएँ हैं और जब कि स्वामीजी की कृति में ४ दोहे और ४० गाथाएँ। मिलते-जुलते दोहे इस प्रकार हैं :

अति आहारै दुष हुवै गलै रूप बल गात। अति आहार थी दुःख हुव, गल रूप बल गात।
आलस नींद प्रमाद घण दोष अनेक कहात ॥ १ ॥ परमाद निद्रा आलस हुव, वले अनेक रोग होय जात ॥ २ ॥

घणे आहारे विस चढ़े घणेज फाटे पेट ।	अति आहार थी विषे वधे, घणोंइज फाटे पेट ।
धांन अमामौ ऊरतां हांडी फूटे नेट ॥ २ ॥	धांन अमाउ उरतां, हांडी फाटे नेट ॥ ३ ॥

सर्व गाथाएँ बिलकुल भिन्न हैं । कुंडरीक का शास्त्रीय उदाहरण सामान्य है । जिनहर्षजी की द्वितीय गाथा का चौथा चरण 'उणोदरीए गुण घणाए' स्वामीजी की ३८ वीं गाथा में अवतरित है ।

ढाल—१०

श्री जिनहर्ष रचित ढाल में २ दोहे और ४ गाथाएँ हैं । स्वामीजी की कृति में ४ दोहे और ६ गाथाएँ हैं । दोनों कृतियों का एक दोहा मिलता है :

अंग विभूषा ज कर ते संजोगी होइ ।	सरीर विभूषा जे करें, ते संजोगी होय ।
ब्रह्मचारी तन सोभवै तिण कारण नवि कोइ ॥ २ ॥	ब्रह्मचारी तन सोभवे, ते कारण नहीं कोय ॥ ३ ॥

तीन गाथाओं में शब्द-साम्य इस प्रकार है :

शोभा न करै देहनी न करै तन सिणगार ।	सोभा न करणी देह नीं रे लाल, नहीं करणो तन सिणगार। ब्रह्मचारी रे ॥
ऊगटणा पीठी वली न करै किण ही वारो रे ।	पीठी उगटणों करणा नहीं रे लाल, मरदन नहीं करणो लिगार । ब्र० ॥
सुणि चेतन सुणि तू मोरी वीनती तो नें सीष कहुं हितकारो रे सु० ॥	ए नवमीं बाड़ ब्रह्म वरत नीं रे लाल ॥ १ ॥
उन्हा ताढा नीर सुं न करै अंग अंघोल ।	ठंडा उन्हा पाणी थकी रे लाल, मूल न करणो अंगोल । ब्र० ॥
केसर चंदन कुकुमै पांतै न करइ घोलो रे सु० ॥ १ ॥	केसर चंदण नहीं चरचणा रे लाल, दांत रंगे न करणा चोल । ब्र०ए० ॥२॥
घणमोला नें उजला न करै वस्त्र बणाव ।	बहु मोलां नें उजला रे लाल, ते वस्त्र नें पेंहरणा नांहि । ब्र० ॥
घाते कांम महा बली, चौथा व्रत नें घावो रे सु० ॥ २ ॥	टीका तिलक करणा नहीं रे लाल, ते पिण नवमीं बाड़ रे माँहि ॥ब्र०ए० ॥३॥
कांकड कुंडल मुंद्रडी मोला मोतीग्न हार पहिरै नहीं ।	कांकण कुंडल नें मुंदडी रे लाल, वले माला मोती नें हार ॥ब्र०॥
साभा भगी जे थाये व्रतधारो रे सु० ॥ ३ ॥	ते ब्रह्मचारी पहर नहीं रे लाल, वले गेंहणा विवध परकार ॥ब्र०ए०॥४॥

ढाल—११

जिनहर्षजी की कृति में इस ढाल के आदि में दोहे नहीं हैं । गाथाएँ ६ हैं । स्वामीजी की कृति में ५ दोहे और १३ गाथाएँ हैं ।

दोनों रचनाओं की इस ढाल का विषय ही पृथक्-पृथक् है । जिनहर्षजी ने इस ढाल में शील की महिमा वर्णित की है जब कि स्वामीजी ने दसवें कोट का वर्णन किया है । जिनहर्षजी ने नौ बाड़ों पर ही प्रकाश डाला है, जब कि स्वामीजी ने इस ढाल में उत्तराध्ययन में वर्णित दसवें समाधिस्थान का कोट रूप में सुन्दर वर्णन किया है ।

कुल मिलाकर स्वामीजी ने जिनहर्षजी के २५ दोहों में से २१ और ७१ गाथाओं में से २४½ का उपयोग किया है । २५ दोहे और १४२½ गाथाएँ स्वामीजी की अपनी हैं ।

स्वामीजी की रचना ठेठ मारवाड़ी में है । जिनहर्षजी के उक्त दोहे और गाथाओं में शाब्दिक परिवर्तन कर उन्हें सरल करते हुए स्वामीजी ने ठेठ मारवाड़ी भाषा का रूप देकर अपनाया है ।

३७-प्रस्तुत संस्करण के विषय में

स्वामीजी की इस कृति के कई संस्करण पहले निकल चुके हैं । संवत् १९६२ में स्वर्गीय श्री राय सेतावचन्दजी नाहर बहादुर की ओर से 'ज्ञानावली' नाम से एक ढाल-संग्रह प्रकाशित हुआ था, जिस के प्रथम खण्ड में इस कृति को प्रकाशित किया गया था । इस पुस्तक की तीसरी आवृति संवत् १९६६ में प्रकाशित हुई थी । बाद में चुरू के मणोतों की ओर से जो प्रकाशन हुए, उनमें भी यह कृति प्रकाशित की गई थी । ओसवाल प्रेस द्वारा प्रकाशित "वैराग्य मञ्जरी" में भी यह कृति प्रकाशित हुई और इसके कई संस्करण हो चुके हैं । ये सभी प्रकाशन मूल मात्र रहे । सानुवाद प्रकाशन यह प्रथम ही है ।

इस प्रकाशन में तेरापन्थ सम्प्रदाय के द्वितीय आचार्य श्री भारमलजी स्वामी की हस्तलिखित प्रति के आधार से धारी हुई प्रति का उपयोग किया गया है । पूर्व प्रकाशनों की मूल पाठ विषयक अनेक भूलें इस प्रकाशन से दूर हो पायेंगी ।

टिप्पणियों में उन आगम-स्थलों को दे दिया गया है, जिनका उपयोग स्वामीजी ने कृति में किया है।

परिशिष्ट-क में कृति में संकेतित कथाएँ विस्तार से दे दी गई हैं।

परिशिष्ट-ख में ब्रह्मचर्य–विषयक आगमिक आधारों को एक जगह संगृहीत कर दिया गया है।

परिशिष्ट-ग में श्री जिनहर्षजी रचित 'शील की नव वाड़' दी गयी है।

परिशिष्ट-घ में पुस्तक के सम्पादन में प्रयुक्त पुस्तकों की विवरण-तालिका दी गयी है।

भूमिका में भिन्न-भिन्न ३६ मुद्दों पर प्रकाश डाला गया है।

आधुनिक विचारकों में संत टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी का स्थान अग्रगण्य है। उनके विचारों को विस्तार से देते हुए आगमिक विचारों से उनकी यथाशक्य तुलना की गई है। महात्मा गांधी के प्रयोग और नव वाड़ विषयक उनके विचारों को अतीव विस्तार से इसलिए दिया है कि जैनों का ध्यान उस ओर जा सके और वे उनपर गंभीरता-पूर्वक चिंतन कर सकें। भूमिका में जैन पाठकों के समक्ष कुछ ऐसी बातें आयेंगी जिनकी ओर उनका ध्यान गया ही न हो अथवा थोड़ा गया हो और जो नया चिंतन तथा खोज चाहती हैं।

इस अवसर पर मैं उन सब विद्वानों, लेखकों और प्रकाशकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनकी कृतियों का उपयोग मैंने इस पुस्तक के सम्पादन में किया है।

श्री अगरचन्दजी नाहटा का मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ, जिन्होंने मुझ श्री जिनहर्षजी रचित "शील की नव वाड़" की हस्तलिखित प्रति अवलोकनार्थ देने की कृपा की।

स्वामीजी की कृति "शील की नव वाड़" का यह संस्करण पाठकों को कुछ भी लाभप्रद हो सका, तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

१५, नूरमल लोहिया लेन
कलकत्ता
२८ दिसम्बर, १९६१

श्रीचन्द रामपुरिया

शील की नव बाड़

६—जीव विमासी जोय तूं,
विषय म राच गिवार।
थोड़ा सुखां रे कारणे,
मूरख घणा म हार ॥

६—हे जीव! तू विचार कर देख। हे मूर्ख! विषय में रुचि मत कर। हे मूढ़! थोड़े वैषयिक सुखों के लिए बहुत सुखों को मत खो [४]।

७—दस दिष्टंते दोहिलो,
लाधो नर भव सार।
सील पालो नव वाड़ सूं,
ज्यूं सफल हुवे अवतार ॥

७—दस दृष्टान्तों [५] के अनुसार दुर्लभ यह सार मानव देह तुम्हें मिली है। नौ बाड़ सहित ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर, जिससे कि तुम्हारा जन्म सफल हो।

८—सील माहें गुण अति घणा,
ते पूरा कह्या न जाय।
थोड़ा सा परगट करूं,
ने सुणजो चित ल्याय ॥

८—शील में बहुत गुण हैं,[६] उनका पूरा वर्णन करना शक्ति के बाहर है। फिर भी थोड़ा सा वर्णन करता हूँ, चित्त लगाकर सुनो।

ढाल : १

[मन मधुकर मोही रह्यो]

१—सीयल सुर तरुवर सेवीये,
ते वरतां मांहें गिरवो छै एह रे।
सीयल सूं सिव सुख पामीये,
त्यां सुखां रो कदे नावें छेह रे ॥
सीयल सुर तरुवर सेवीये ॥आं०

१—शील रूपी कल्पवृक्ष की आराधना कर। यह व्रत सब व्रतों में श्रेष्ठ है [७]। शील से मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है, जिसका कभी अन्त नहीं होता।

२—सीयल मोटो सर्व वरत में,
ते भाख्यो छै श्री भगवंत रे।
ज्यां समकत सहीत वरत पालीयो,
त्यां कीयो संसार नों अंत रे ॥सी०

२—शील सब व्रतों में महान है, ऐसा जिनेश्वर भगवान् ने कहा है। जिन्होंने सम्यक्त्व सहित शीलव्रत का पालन किया है उन्होंने संसार का अंत कर डाला।

३—जिण सासण वन अति भलो,
ते नंदण वन अनुसार रे।
जिणवर वनपालक तेह में,
ते करुणा रस भंडार रे ॥सी०

३—जिन-शासन नन्दन वन के समान अत्यन्त सुरम्य उपवन है, जिसके रक्षक करुण रस के भाण्डार स्वयं जिनेश्वर हैं।

४—विरख तिण वन में सील रूपीयो,
तिणरें मूल दिढ समकित जांण रे।
साखा छें महावरत तेहनीं,
प्रति साखा अणुवरत वखांण रे ॥ सी०

४—जिन-शासन रूपी उस वन में शील रूपी वृक्ष है, जिसका सम्यक्त्व रूपी दृढ़ मूल है, महाव्रत जिसकी शाखाएँ हैं और अणुव्रत प्रशाखाएँ।

५—साध साधवी श्रावक श्रावका,
त्यांरा गुण रूप पत्र अनेक रे।
महुकर करम सुभ बंध नों,
परमल गुण वशेख रे ॥ सी०

५ साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं के नाना गुण उसके विविध पत्र हैं। शुभ कर्म-बन्ध उसपर मँडरानेवाले भ्रमर हैं। विशिष्ट चारित्रिक गुण उसके परिमल हैं।

६—उत्तम सुर सुख रूप फूलड़ा,
सिव सुख ते फल जांण रे।
तिण सीयल विरख रा जतन करों,
ज्यूं वेगी पांमों निरवांण रे ॥ सी०

६—दैविक सुख उसके पुष्प हैं और मोक्ष-सुख उसके फल। ऐसे शील वृक्ष [८] की यत्नपूर्वक रक्षा करो, जिससे शीघ्र ही तुम्हें निर्वाणपद की प्राप्ति हो।

७—संसार सीयल थकी उधरे,
जो पाले नव कोटी अभंग रे।
तो स्वयंभू रमण जितलों तिरयों,
सेप रही नदी गंग रे ॥ सी०

७—जो नव कोटि से शील का अक्षुण्ण रूप से पालन करता है, संसार से उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है [९]। वह स्वयम्भूरमण को तैर चुका। उसके लिए गंगा के समान नदी का तैरना ही अवशेष है [१०]।

८—उत्तराधेन रें सोल में,
बंभ समाही ठांण रें।
कीधी तिण विरख नें राखवा,
नव वाड़ दसमों कोट जांण रे ॥

८—उत्तराध्ययन सूत्र का सोलहवाँ अध्ययन ब्रह्मचर्य समाधि-स्थानक है। वहाँ शील रूपी वृक्ष के संरक्षण के लिए नव वाड़ व दसवाँ कोट बताया है [११]।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

प्रथम दोहे में चौबीस तीर्थंकरों में से नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) का ही वन्दन किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि अन्य तीर्थंकरों को छोड़कर बाईसवें तीर्थंकर को ही नमस्कार क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि चौबीस तीर्थंकरों में से बाईस तीर्थंकर विवाहित होने के बाद ही प्रव्रजित हुए थे। केवल मल्लिनाथ और नेमिनाथ ही ऐसे दो तीर्थंकर थे जिन्होंने पाणिग्रहण नहीं किया और कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए। अतः ये दोनों ही तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी थे। इन दोनों में नेमिनाथ बाद के तीर्थंकर थे। अतः आसन्न तीर्थंकर होने से शील के विषय में रचना करते समय कवि ने आदि-मंगल के स्थान में एक बाल-ब्रह्मचारी के रूप में उनका स्मरण किया है। तीर्थंकर मल्लिनाथ का उल्लेख बाद के अन्य प्रसंग में आया है।

नेमिनाथ विवाह के लिये उद्यत हुए। बारात रवाना हुई और तोरण द्वार तक पहुँच गई। ऐसे अवसर पर नेमिनाथ तोरण से वापस लौट पड़े। अपूर्व लावण्यवती कुमारी के साथ विवाह का प्रसंग उपस्थित था, ऐसी परिस्थिति में विवाह न करने का निश्चय कर उन्होंने अहिंसा ही नहीं ब्रह्मचर्य के क्षेत्र

में भी एक अद्‌भुत पदार्थ-पाठ संसार के सम्मुख रखा। इस तरह ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में वे अनुपम जगद्गुरु सिद्ध हुए, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। जैसे तपस्या के क्षेत्र मे तीर्थंकर महावीर श्रेष्ठ तपस्वी माने जाते हैं, वैसे ही भोग-त्याग के विषय में नेमिनाथ उत्कट त्यागी और ब्रह्मचारी माने जाते हैं। इसी कारणवश स्वामी जी ने अपनी कृति के आरंभ मे उनका स्मरण किया है। श्रीमद्‌ जयाचार्य ने कहा है :

प्रभु नेमि स्वामि, तू जगनाथ अंतरजामी।
तूं तोरण स्यूं फिरचो जिन स्वाम, अद्‌भुत वात करी तें अमाम ॥ १ ॥
राजेमती छांड़ी जिनराय, शिव सुन्दर स्यूं प्रीत लगाय ॥ २ ॥
केवल पाया ध्यान वर ध्याय, इन्द्र शची निरखे हर्षाय ॥ ३ ॥
नेरिया पिण पामै मन मोद, तुझ कल्याण सुर करत विनोद ॥ ४ ॥
राग रहित शिव सुख स्यूं प्रीत, कर्म हणें वलि द्वेष रहित ॥ ५ ॥
अचरिजकारी प्रभु थारो चरित्र, हूँ प्रणमूँ कर जोड़ी नित्य ॥ ६ ॥

[२] दोहा १, २ :

प्रथम दो दोहों में नेमिनाथ और राजिमती का नामोल्लेख है। जिस जीवन-प्रसंग के कारण उनका नाम-स्मरण किया गया है उसका विवरण 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २८ वें अध्ययन में मिलता है।

परिशिष्ट में पूरा विवरण दिया गया है। देखिए परिशिष्ट-क : कथा-१।

[३] दोहा ४ :

ब्रह्मचर्य का गुण-वर्णन 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में इस प्रकार किया गया है :

"इस एक ब्रह्मचर्य के पालन करने से अनेक गुण अधीन हो जाते हैं। यह व्रत इहलोक और परलोक में यश, कीर्ति और प्रतीति का कारण है। जिसने एक ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना कर ली—समझना चाहिए उसने सर्व व्रत, शील, तप, विनय, संयम, क्षांति, समिति, गुप्ति यहाँ तक कि मुक्ति की भी आराधना कर ली।

"ब्रह्मचर्य व्रत सदा प्रशस्त, सौम्य, शुभ और शिव है। वह परम विशुद्धि—आत्मा की महान् निर्मलता है। भव्य—मुमुक्षु पुरुषों का आचीर्ण—उनका जीवन है। यह प्राणी को विश्वासपात्र—विश्वसनीय बनाता है। उससे किसी को भय नहीं रहता।

"यह तुप—भूसी रहित धान की तरह सार वस्तु है। यह खेदरहित है। यह जीव को कर्म से लिप्त नहीं होने देता। चित्त की स्थिरता का हेतु है। धर्मी पुरुषों का निष्कंप—शाश्वत नियम है। तप-संयम का मूल—आदिभूत द्रव्य है।

"आत्मा की अच्छी तरह रक्षा करने में उत्तम ध्यान रूपी कपाट और अध्यात्म की रक्षा के लिए अविकार रूप अर्गला है। दुर्गति के पथ को रोकनेवाला कवच है। सुगति के पथ को प्रकाशित करनेवाला लोकोत्तम व्रत है।

"यह धर्मरूपी पद्म-सरोवर की पाल है; गुण रूपी महारथ की धुरी है और व्रत-नियम रूपी शाखाओं से फैले हुए धर्म रूपी वट-वृक्ष का स्कन्ध है।

"शील रूपी महानगर की परिधि (परकोटे) के द्वार की अर्गला है। रस्सियों से बँधी इन्द्र-ध्वजा के समान अनेक गुणों से स्थिर धर्म-पताका है।

"एक ब्रह्मचर्य-व्रत भंग होने से सहसा सब गुण भंग हो जाते हैं; मर्दित हो जाते हैं, मथित हो जाते हैं, कलुषित हो जाते हैं। पर्वत से गिरी हुई वस्तु की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और विनष्ट हो जाते हैं।"

[४] दोहा ५ :

पाँचवें दोहे के पूर्वार्द्ध का भाव शंकराचार्य के निम्न श्लोक से मिलता है :

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम् ॥
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम् ॥
भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्दं भज मूढमते।

अर्थात् शरीर के सब अंग गल गये हैं, बाल पक गये हैं, मुख में एक भी दाँत नहीं है, बुढापा आ गया है, लाठी के सहारे चलता है, उसपर भी वह वृद्ध आशा का पिण्ड नहीं छोड़ता है। अरे मूर्ख ! तू आशा को छोड़कर गोविन्द का भजन कर।

[५] दोहा ६ :

'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है[1] :

"जैसे एक कंकणी के लिए कोई मूर्ख मनुष्य हजार मोहरों को हार जाता है और जैसे अपथ्य आम को खाकर राजा राज्य को हार जाता है उसी तरह मूर्ख तुच्छ मानुषी भोगों के लिए उत्तम सुखों—देव-सुखों को खो देता है।"

"मनुष्यों के काम-भोगों को सहस्रों गुणा करने पर भी आयु और भोग की दृष्टि से देवताओं के काम ही दिव्य होते हैं। मनुष्यों के काम देवताओं के कामों के सामने वैसे ही हैं जैसे सहस्र मोहर की तुलना में कंकणी व राज्य की तुलना में आम। प्रज्ञावान की देवलोक में जो अनेक अयुत वर्षों की स्थिति है उसको दुर्बुद्धि—मूर्ख जीव—सौ वर्ष से भी न्यून आयु में विषय-भोगों के वशीभूत होकर हार जाता है।"

"इस सीमित आयु में काम-भोग कुश के अग्रभाग के समान स्वल्प हैं। तुम किस हेतु को सामने रखकर आगे के योग-क्षेम को नहीं समझते ?"

स्वामीजी ने इस छट्ठे दोहे में जो बात कही है वह 'उत्तराध्ययन' आगम के उपर्युक्त प्रवचन से प्रभावित मालूम देती है।

कंकणी और आम्रफल की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क : कथा २ और ३।

[६] दोहा ७ :

मनुष्य भव-प्राप्ति की दुर्लभता को बताने के लिए जो दस दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं, उनका विवरण परिशिष्ट में दिया गया है। देखिये परिशिष्ट-क :कथा ४-१२।

[७] ढाल गा० १, २ :

'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में बत्तीस उपमाएँ देकर ब्रह्मचर्य को विनय, शील, तपादि सब गुण-समूह से प्रधान बताया है। स्वामीजी का संकेत उसी ओर लगता है। वे उपमाएँ नीचे दी जाती हैं :

१—जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र तारादि में चंद्रमा प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२—जिस प्रकार मणि, मोती, प्रवाल और रत्नों के उत्पत्ति स्थानों में समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

३—जिस प्रकार रत्नों में वैडूर्य जाति का रत्न प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

४—जिस प्रकार आभूषणों में मुकुट प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

५—जिस प्रकार वस्त्रों में क्षौम युगल वस्त्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

६—फूलों में जिस प्रकार कमल (अरविंद कमल) प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

७—जिस प्रकार चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

८ जिस प्रकार चमत्कारी औषधियों के उत्पत्ति स्थानों में हिमवान् पर्वत प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

९—जिस प्रकार नदियों में शीतोदा नदी प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१०—जैसे स्वयम्भू रमण समुद्र सब समुद्रों में महान् अतएव प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

११—जिस प्रकार मानुषोत्तर, कुण्डलवर आदि माण्डलिक पर्वतों में रुचकवर पर्वत श्रेष्ठ एवं प्रधान है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत सब व्रतों में प्रधान है।

१२—जिस प्रकार हाथियों में शक्रेन्द्र का ऐरावत हाथी प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१—उत्तराध्ययन अ० ७ : गा० ११ ; १२ ; १३ ; २४

जहा कागिणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो। अपच्छं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए ॥ ११ ॥
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अन्तिए। सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया ॥ १२ ॥
अणेगवासानउया जा, सा पण्णवओ ठिई। जाणि जीयन्ति दुम्मेहा, ऊणवाससयाउए ॥ १३ ॥
कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए। कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥ २४ ॥

१३—जिस प्रकार हिरण आदि सभी जानवरों में सिंह बलवान एवं प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१४—जिस प्रकार सुवर्णकुमार जाति के भवनपति देवों में वेणुदेव प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१५—जिस प्रकार नागकुमार जाति के भवनपति देवों में धरणेन्द्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१६—जिस प्रकार सब देवलोकों में ब्रह्मकल्प नामक पाचवाँ देवलोक प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१७—जिस प्रकार सभी सभाओं में सुधर्मा सभा प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१८—जिस प्रकार अनुत्तर विमानवासी देवों की स्थिति सभी स्थितियों में प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

१९—जिस प्रकार सब दानों में अभयदान प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२०—जैसे कम्बलों में किरमिज रंग की कम्बल प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२१—जिस प्रकार छः संहनन में वज्रऋषभनाराच संहनन प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२२—जिस प्रकार छः संस्थान में समचतुरस्र संस्थान प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२३—जिस प्रकार ध्यान में परम शुक्ल ध्यान अर्थात् अविच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती नामक शुक्ल ध्यान का चौथा भेद प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२४—जिस प्रकार मति, श्रुति आदि पाँच ज्ञानों में केवलज्ञान प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२५—जिस प्रकार छहों लेश्याओं में परम शुक्ल लेश्या (सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती नामक शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद में होनेवाली) प्रधान है, उसी प्रकार सब ध्यानों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२६—जिस प्रकार मुनियों में तीर्थंकर भगवान् प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२७—जिस प्रकार सब क्षेत्रों में महाविदेह क्षेत्र अतिविस्तृत एवं प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२८—जिस प्रकार सब पर्वतों में मेरु गिरि प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

२९—जिस प्रकार सब वनों में नन्दन वन प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

३०—जिस प्रकार सब वृक्षों में जम्बूवृक्ष (सुदर्शन-वृक्ष) प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य-व्रत प्रधान है।

३१—जिस प्रकार अश्वपति, गजपति, रथपति और नरपति प्रधान हैं —प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत भी प्रसिद्ध है।

३२—जैसे महारथ में बैठा हुआ रथी शत्रु सेना को पराजित करता है वैसे ही ब्रह्मचर्य-व्रत भी कर्मशत्रु की सेना को पराजित करता है। इस प्रकार अनेक गुण ब्रह्मचर्य-व्रत के अधीन हैं।

चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से अन्य व्रतों की भी अखण्ड आराधना हो जाती है जैसे शील, तप, विनय, संयम, क्षमा, गुप्ति, मुक्ति की। ब्रह्मचारी को इहलोक और परलोक में यश और कीर्ति की प्राप्ति होती है। वह सभी लोगों का विश्वास प्राप्त कर लेता है।

[८] ढाल गा० ३-६ :

स्वामीजी ने ब्रह्मचर्य की उपमा कल्प-तरु से की है। इसका आधार प्रश्नव्याकरण सूत्र के संवर-द्वार का पाँचवा अध्ययन है। वहाँ अपरिग्रह-संवर का वृक्ष की उपमा द्वारा वर्णन किया गया है। यह वर्णन इस प्रकार है :

"परिग्रह से विरति इस वृक्ष का बहुविध विस्तार है। सम्यक्त्व इसका विशुद्ध मूल है। धृति इसका कन्द है। विनय इसकी वेदिका है। तीनों लोक में व्यापक विपुल यश इसका स्थूल और सुन्दर स्कन्ध है। पाँच महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ हैं। अनित्यादि भावनाएँ इसकी त्वचा है। धर्म ध्यान, शुभ योग और ज्ञान उसके अंकुरित पल्लव हैं। बहुत से गुण रूपी फूलों से यह समृद्ध है। शील इसकी सुगन्धि है। अनाश्रव इसका मधुर फल है। मोक्ष ही इस वृक्ष के बीज के अन्दर का सार है। मंदराचल पर्वत की शिखर—चोटी के समान मोक्ष में जाने के लिए निर्लोभता रूपी जो मार्ग है उसका यह अपरिग्रह रूपी सुन्दर वृक्ष शिखर-भूत है।"

[९] ढाल गा० ७ प्रथमार्द्ध

मन, वचन, काया को योग कहते हैं। करना, कराना और अनुमोदन करना इन तीनों को करण कहते हैं। करण और योगों के परस्पर सम्मिलन से त्याग की नौ कोटियाँ बनती हैं :

१—एक करण एक योग की कोटि।
२—एक करण दो योग की कोटि।
३—एक करण तीन योग की कोटि।
४—दो करण एक योग की कोटि।
५—दो करण दो योग की कोटि।
६—दो करण तीन योग की कोटि।
७—तीन करण एक योग की कोटि।
८—तीन करण दो योग की कोटि।
९—तीन करण तीन योग की कोटि।

साधु के नौ ही कोटियों से अब्रह्मचर्य-सेवन का त्याग होता है। जो मन, वचन, काया और करने, कराने और अनुमोदन के किसी भी भङ्ग से अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करते वे ही ब्रह्मचर्य को अखण्डित रूप से पालन करनेवाले कहे जाते हैं।

स्वामीजी कहते हैं—जो अखण्ड रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, कहना होगा, उन्होंने सब से बड़ी विजय प्राप्त कर ली। कहा है :

इत्थिओ जे न सेवन्ति आइमोक्खा हु ते जणा।

—सू० १, १५ : ९

—जो पुरुष स्त्रियों का नहीं सेवन करते वे मोक्ष पहुँचनेमें अग्रसर होते हैं।

जे विन्नवणाहिजोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढं ति पासहा, अदक्खु कामाइं रोगवं॥

—सू० १, २।३ : २

—काम को रोग-रूप समझकर जो स्त्रियों से अभिभूत नहीं हैं, उन्हें मुक्त पुरुषों के समान कहा गया है। स्त्री-परित्याग के बाद ही मोक्ष के दर्शन सुलभ हैं।

जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमया।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया॥

—सू० १, ३।४ : १६

—जिस तरह वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है, उसी तरह इस लोक में अविवेकी पुरुष के लिए स्त्रियों का मोह जीतना कठिन है।

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेय निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए॥

—सू० १, ३।४ : १७

—जिन पुरुषों ने स्त्री-संसर्ग और काम-शृंगार को छोड़ दिया है, वे समस्त विघ्नों को जीत कर उत्तम समाधि में निवास करते हैं।

एए ओघं तरिस्सन्ति, समुद्दं ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चन्ती सयकम्मुणा॥

—सू० १, ३।४ : १८

—ऐसे पुरुष इस संसार-सागर को, जिसमें जीव अपने-अपने कर्मों से दुःख पाते हैं, उसी तरह तिर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्र को।

[१०] ढाल गा० ७ उत्तरार्द्ध

संसार में सब से प्रबल आसक्ति नारी की है। इस आसक्ति पर विजय पाने के बाद अन्य आसक्तियों पर विजय पाना कठिन नहीं रहता। यही भाव ७ वीं गाथा के उत्तरार्द्ध में प्रगट हुआ है। इसका आधार आगम की निम्न गाथाएँ हैं :

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।

नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥
—उत्त० ३२ : १७

एए य संगे समइक्कमित्ता
सुदुत्तरा चेव भवंति सैसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥
—उत्त० ३२ : १८

—जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है, संसार-भीरु है, धर्म में स्थित है, उनके लिए भी मूर्ख के मन को हरने वाली स्त्रियों की आसक्ति को पार पाने से अधिक दुष्कर कार्य इस लोक में दूसरा नहीं है।

—इस आसक्ति को जीत लेने पर शेष आसक्तियों का पार पाना सरल है। महा सागर तिर लेने पर गंगा के समान नदियों का तिरना क्या दुष्कर है?

[११] ढाल गा० ८ :

उत्तराध्ययन के संकेतित स्थान का कुछ अंश इस प्रकार है :

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोचा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ॥ तं जहा :

(१) नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे।
(२) नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे।
(३) नो इत्थीणं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे।
(४) नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ से निग्गन्थे।
(५) नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेत्ता हवइ से निग्गन्थे।
(६) नो निग्गन्थे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ से निग्गन्थे।
(७) नो पणीयं आहारं आहरित्ता हवइ से निग्गन्थे।
(८) नो अइमायाए पानभोयणं आहारेत्ता हवइ से निग्गन्थे।
(९) नो विभूसाणुवादी हवइ से निग्गन्थे।
(१०) नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी हवइ से निग्गन्थे।

प्रथम वाड़

ढाल : २

दुहा

१—हिवें कहूं छूं जू जूइ,
सील तणी नव वाड़ ।
दसमों कोट ते चिहूं दिसा,
माहें ब्रह्मचर्य वरत सार ॥

१—अब मैं शील की नव वाड़ों का अलग-अलग वर्णन करता हूँ। इन वाड़ों के चारों ओर दसवाँ कोट है। नव वाड़ और दसवें कोट के भीतर ब्रह्मचर्य रूपी सार व्रत सुरक्षित रहता है।

२—खेत गांव रे गोरवें,
ते न रहें कीधां राड़ ।
रहिसी तो खेत इण विधें,
दोली कीधां वाड़ ॥

२—गाँव की सीमा पर बिना वाड़ का खेत झगड़ा करते रहने से सुरक्षित नहीं रह सकता। वह तो तभी सुरक्षित रहेगा, जबकि उस खेत के चारों ओर दुहरी वाड़ लगा दी जायगी।

३—ज्यूं ब्रह्मचारी विचरें तिहां,
ठांम ठांम छै नार ।
तिण कारण इण सील री,
वीर कही नव वाड़ ॥

३—जहाँ ब्रह्मचारी विचरण करता है वहाँ स्थान-स्थान पर स्त्रियाँ हैं। इसी कारण जिनेश्वर भगवान् ने शील रूपी खेत की सुरक्षा के लिए नव वाड़ का कथन किया है।

४—वाड़ न लोपें तेहनें,
रहें वरत अभंग ।
ते वेरागी विरकत थका,
ते दिन २ चढतें रंग[1] ॥

४—जो ब्रह्मचारी वाड़ों का उल्लंघन नहीं करता, उसका शीलव्रत अभंग रहता है। ब्रह्मचर्य में उस विरक्त वैरागी का अनुराग बढ़ता ही जाता है ।

५—हिवें पेहली वाड़ में इम कह्यो,
नारी रहें तिहां रात ।
तिण ठामें रहिणों नहीं,
रह्यां वरत तणी हुवे घात ॥

५—प्रथम वाड़ में ऐसा कहा है कि जहाँ स्त्री रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी को रात्रि में वास नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से व्रत का घात होता है।

६—अथवा नारी एकली,
भली न संगति तास ।
धर्मकथा कहवी नहीं,
वेसी तिणरें पास[2] ॥

६—अथवा स्त्री अकेली हो तो उसकी संगति अच्छी नहीं। अकेली स्त्री के पास बैठ कर धर्म-कथा भी नहीं कहनी चाहिए।

७—तिण थी ओगुण उपजे,
संका पांमें लोक ।
आवें अछतो आल सिर,
वले हुवें वरत पिण फोक [३] ॥

७—कारण यह है कि उससे अवगुण उत्पन होते हैं। लोग शंका-ग्रस्त होते हैं। बिना कारण सिर पर कलंक आता है और व्रत का भी विनाश हो जाता है।

८—तिण सूं ब्रह्मचारी भणी,
रहिणों छें एकंत [४] ।
हिवें कुण-कुण जायगां वरजवी,
ते सुणजो मतिवंत [५] ॥

८—अतः ब्रह्मचारी को एकान्त स्थान में रहना कल्प्य है। ब्रह्मचारी को किन-किन स्थानों का वर्जन करना चाहिए, उनको मैं कहता हूँ। बुद्धिमान् ध्यान-पूर्वक सुनें।

ढाल

[नणदल नी देशी]

१—भाव धरी नित पालीयें,
गिरउ ब्रह्म वरत सार हो । ब्रह्मचारी
जिण थी सिव सुख पांमीयें,
तूं वाड़ म खंडे लिगार हो । ब्रह्मचारी
आ पेंहली बाड़ ब्रह्मचर्यनी* ॥

१—हे ब्रह्मचारी ! तीव्र भावना के साथ ब्रह्मचय व्रत का पालन कर। ब्रह्मचर्य-व्रत सब व्रतों में महान् और सारपूर्ण है। तू ब्रह्मचर्य की इस बाड़ को, खण्डित मत कर, जिससे कि तुझे शिव-सुख की प्राप्ति हो।

यह ब्रह्मचर्य की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

२—मंजारी संगत रमें,
कूकड़ मूसग मोर हो । ब्र०
कुसल किहां थी तेहनें,
मारें घांटी मरोड़ हो ॥ ब्र०

२—हे ब्रह्मचारी ! चूहे, मोर और मुर्गे यदि बिल्ली के साथ खेल खेलते हैं तो वे सुरक्षित कैसे रह सकते हैं ? बिल्ली गर्दन मरोड़ कर उन्हें मार डालती है।

यह ब्रह्मचर्य की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

३—अस्त्री पसु निपूंसक जिहां वसे,
तिहां रहिवो नहीं वास हो । ब्र०
तेहनीं संगत वारीए,
वरत नों करें विणास हो [१] ॥ ब्र०

३—हे ब्रह्मचारी ! जहां स्त्री, पशु, नपुंसक वास करते हों उस स्थान में तुम मत रहो। ब्रह्मचारी ! उनकी संगति से दूर रहो, क्योंकि उनकी संगति ब्रह्मचर्य-व्रत का विनाश करती है।

यह ब्रह्मचर्य की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

४—हाथ पांव छेदन कीया,
कांन नाक छेद्या तास हो। ब्र०
ते पिण सो वरस नीं डोकरी,
रहिवों नहीं तिहां वास हो[८] ॥ ब्र०

४—जिसके हाथ, पैर, कान, नाक कटे हों, ऐसी सौ वर्ष की विकलांगी वृद्धा भी जहाँ रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी का रहना कल्प्य नहीं।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

५—सफ सिणगार देवांगणा,
आई चलावण तास हो। ब्र०
तिण आगे तो चलीयों नहीं,
तो ही रहिणों एकंत वास हो[९] ॥ ब्र०

५—सोलह श्रृङ्गार से सुसज्जित देवाङ्गना विचलित करने आये और उससे भी जो पुरुष विचलित न हो उसे भी एकान्त स्थल में ही वास करना चाहिए।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

६—अस्त्री हुवें तिहां वासो रहें,
कदा चल जाअें परिणाम हो। ब्र०
जब दिढ रहिणों दोहिलों,
भिष्ट हुवें तिण ठांम हो ॥ ब्र०

६—जहाँ स्त्री रहती है वहाँ ब्रह्मचारी के रहने से संभव है कि कदाचित् उसका मन विचलित हो जाय। उस हालत में दृढ़ रहना मुश्किल हो जाता है और वह उस स्थान पर ही भ्रष्ट हो जाता है।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

७—सींह गुफावासी जती[१०],
रह्यों वेस्या चित्रसाल हो। ब्र०
तुरत पड्यों वस तेहनें,
गयो देस नेपाल हो ॥ ब्र०

७—सिंह-गुफावासी यति वेश्या की चित्रशाला में आकर ठहरा तो वह भी तुरंत उसके वश में हो गया और अपनी वासना की तृप्ति के लिए कम्बल लाने नेपाल देश गया।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

८—कुल वालूरो[११] साध थो,
तिण भाग्यो वरत रसाल हो। ब्र०
कोणक री गणका वस पड्यों,
ते रुलसी अनंतो काल हो ॥ ब्र०

८—कुल वालुड़ा नामक एक साधु था। कोणिक की गणिका के वशीभूत हो उसने उत्तम व्रत को भंग कर दिया जिसके कारण वह अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करेगा।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

९—मंजारी जिहां उंदर रहें,
ते घात पामे ततकाल हो। ब्र०
ज्यूं नारी तिहां ब्रह्मचारी रहें,
भांगे सीयल रसाल हो[१२] ॥ ब्र०

९—जहाँ बिल्ली रहती है, वहाँ यदि चूहे रहें तो वे तुरंत ही विनाश को प्राप्त होते हैं। वैसे ही जहाँ नारी है वहाँ रहने से ब्रह्मचारी के उत्तम शीलव्रत का भङ्ग होना स्वाभाविक है।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली वाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

१०—वाड़ सहीत सुध पालीयें,
पूरीजे मन खांत हो। ब्र०
आ सीख दीधी छें तो भणी,
तूं रहिजे जायगां एकंत हो[१३] ॥ ब्र०

१०—अतः मनकी पूरी चौकसी के साथ नव वाड़ सहित ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर। हे ब्रह्मचारी! भगवान् ने तुम्हें यह शिक्षा दी है कि तू एकान्त जगह में रह।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली वाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १-४ :

भगवान् महावीर ने 'उत्तराध्ययन' सूत्र (अ० १६ गाथा १) में ब्रह्मचर्य में समाधि—स्थिरता प्राप्त करने के दस उपाय बतलाए हैं।

गाँव की सीमा पर अवस्थित खेतों की पशुओं से रक्षा करने के लिए उनके चारों ओर वाड़ लगानी पड़ती है और वाड़ों के बाहर खाई खोदनी पड़ती है। इसी तरह से जहाँ ब्रह्मचारी होते हैं, वहाँ सब जगह स्त्रियाँ भी होती हैं। अतः शील—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए कितने ही नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। इन नियमों का नाम गुप्ति है। गुप्ति अर्थात् रक्षा का साधन—उपाय—वाड़। गुप्तियाँ नौ कही गई हैं। एक अधिक नियम जोड़कर इन्हें ही ब्रह्मचर्य के दस समाधि-स्थान कहा गया है। इनमें से पहले नौ नियम वाड़ों की तरह हैं और दसवाँ नियम उनके चारों ओर परकोटे की तरह है।

ये दस नियम निम्न प्रकार हैं :

१—एकान्त शयनासन का सेवन; स्त्री-सहित मकानादि का परिहार।

२—स्त्री-कथा का परिहार।

३—स्त्री के साथ एकासन का परिहार।

४—स्त्रियों की मनोहार, मनोरम इन्द्रियों के निरीक्षण और ध्यान का परिहार।

५—स्त्रियों के नाना प्रकार के मोहक शब्दों को सुनने का परिहार।

६—पूर्व क्रीड़ा-स्मरण का परिहार।

७—विषयवर्द्धक आहार का परिहार।

८—अति आहार का परिहार।

९—शरीर-विभूषा और शृङ्गार का परिहार।

१०—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूपी विषयों के सेवन का परिहार।

ब्रह्मचर्य-रक्षा के इन उपायों के पालन करने से संयम और संवर में दृढ़ता होती है। चित्त की चंचलता दूर होकर उसमें स्थिरता आती है। मन, वचन, काया तथा इन्द्रियों पर विजय होकर अप्रमत्त भाव से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। ब्रह्मचारी को इन्हें हमेशा ध्यान में रखना चाहिए।

[२] दोहा ४-६ :

प्रथम बाड़ की व्याख्या स्वामीजी ने दो प्रकार से की है। जहाँ स्त्री रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी रात्रिवास न करे—यह प्रथम व्याख्या है। ब्रह्मचारी किसी भी समय अकेली स्त्री की संगति न करे, यहाँ तक कि अकेली स्त्री को धर्म-कथा भी न कहे—यह दूसरी व्याख्या है।

स्वामीजी ने आगे का विवेचन इन दोनों व्याख्याओं को ध्यान में रखकर किया है।

प्रथम बाड़ की ऐसी परिभाषा का आधार आगम के निम्न वाक्य हैं :

ण णिग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया

—आचारांग श्रु० २ : १५ (चौथे महाव्रत की पाँचवीं भावना)।

—निर्ग्रन्थ, स्त्री, पशु तथा नपुंसक से संसक्त शयन-आसन आदि का सेवन न करे।

समरेसु अगारेसु सन्धीसु य महापहे।
एगो एगत्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न संलवे॥

—उत्त० १ : २६

—घर की कुटी में, घरों में, घरों की सन्धियों में और राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ न खड़ा हो और न उसके साथ संलाप करे।

[३] दोहा ७ :

इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित श्लोक है :

अदु नाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एगया होइ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि॥

—सू० १, ४।१ : १४

— किसी स्त्री के साथ एकान्त स्थान मे बैठे हुए साधु को देखकर उस स्त्री के ज्ञाती और सुहृदों को कभी-कभी चित्त में अप्रिय—दुःख उत्पन्न होता है। वे समझते हैं कि जैसे दूसरे पुरुष काम में आसक्त रहते हैं, इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है। फिर वे क्रोधित होकर कहते हैं कि तू इसका भरण-पोषण भी कर क्योंकि तू इसका पति है।

[४] दोहा ८ :

आठवें दोहे के प्रथमार्द्ध का आधार निम्नलिखित श्लोक है :

जं विवित्तमणाइण्णं, रहियं इत्थीजणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए॥

— उत्त० १६ : १

—मुमुक्षु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विवित्त—खाली, अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित स्थान में वास करे।

[५] दोहा ८ :

आगे जो वर्णन आया है उसमें ब्रह्मचारी को स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त स्थान का वर्जन करने का कहा गया है।

इस विषय में 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में बड़ा गम्भीर विवेचन है। वहाँ कहा है—

"जत्थ इत्थियाओ अभिक्खणं मोहदोसरइरागवड्ढणीओ कहिंति य कहाओ बहुविहाओ ते वि हु वज्जणिज्जा"

—जहाँ मोह और रति—काम-राग को बढ़ानेवाली स्त्रियों का बार-बार आवागमन हो और जहाँ पर नाना प्रकार की मोहजनक स्त्री-कथाएँ कही जाती हों—ऐसे सब स्थान ब्रह्मचारी के लिए वर्जनीय हैं।

जत्थ मणोविब्भमो वा भंगो वा भंसणा वा अट्टं रुद्दं च
हुज्ज झाणं तं तं वज्जेज्ज वज्जभीरू

—प्रश्न २, ४ पहली भावना

—जिन स्थानों में रहने से मन विभ्रम को प्राप्त होता हो, ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण रूप से या अंश रूप से भंग होने की आशंका हो और अपध्यान—आर्त्त और रौद्र ध्यान उत्पन्न होता हो वे स्थान पाप-भीरु ब्रह्मचारी के लिये वर्जित हैं।

[६] ढाल गा० २-३ :

स्वामीजी की इन गाथाओं का आधार निम्नलिखित श्लोक है :

जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥

—दस० ८ : ५४

जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से हमेशा भय रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को स्त्री-शरीर से भय रहता है।

[७] ढाल गा० ४ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्नलिखित पाठ है :

णो णिग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया ; केवली बूया—णिग्गंथेण इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा ।

—आचारांग सूत्र श्रु० २ अ० १५ चौथे महाव्रत की पाँचवी भावना

—निर्ग्रन्थ, स्त्री, पशु, नपुंसक से संसक्त शय्या, आसन का सेवन न करे। केवली भगवान् ने कहा है कि स्त्री, पशु तथा नपुंसक से ससक्त शय्या तथा आसन के सेवन से शान्ति का भेद, शान्ति का भंग होता है और निर्ग्रन्थ केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

[८] ढाल गा० ४ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्नलिखित श्लोक है :

हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णनासविकप्पियं ।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥

—दस० ८ : ५६

जिसके हाथ, पैर एवं कान कटे हुए हैं तथा जो पूर्ण सौ वर्ष की वृद्धा है—ऐसी स्त्री की संगति का भी ब्रह्मचारी विवर्जन करे।

[९] ढाल गा० ५ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्नलिखित श्लोक है :

कामं तु देवीहि विभूसियाहिं । न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ॥
तहा वि एगंतहियं ति नच्चा । विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥

—उत्त० ३२ : १६

मन, वचन और काया से गुप्त जिस परम संयमी को विभूषित देवाङ्गनाएँ भी काम से विह्वल नहीं कर सकतीं उस मुनि के लिए भी एकान्तवास ही हितकर जान स्त्री आदि से रहित एकान्त स्थान में निवास करना ही श्रेष्ठ है।

[१०] सिंह गुफावासी यति :

इसकी कथा परिशिष्ट में देखिए। परिशिष्ट-क कथा १४

[११] कुल वालूड़ा :

इसकी कथा परिशिष्ट में देखिए। परिशिष्ट-क कथा १५

[१२] ढाल गा० ६ :

स्वामीजी की इस गाथा आधार का निम्नलिखित श्लोक है :

जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बंभयारिस्स खमो निवासो ॥

—उत्त० ३२ : १३

—जैसे बिल्लियों के निवास के मूल में—समीप चूहे का रहना शुभ नहीं, उसी तरह से जिस मकान में स्त्रियों का वास हो, उस स्थान में ब्रह्मचारी के रहने में क्षेम-कुशल नहीं।

[१३] ढाल गा० १० :

—स्त्री के साथ सहवास करने में ब्रह्मचारी के लिए बड़ा खतरा है, इसलिए उसे एकान्त स्थान में रहने का उपदेश है। कहा है :

जउकुम्भे जहा उवज्जोई ।
संवासे विऊ विसीएज्जा ॥

—सू० १.४ ।१: २६

—जिस प्रकार अग्नि के निकट लाख का घड़ा गल जाता है, उसी प्रकार विद्वान पुरुष भी स्त्री के सहवास से विषाद को प्राप्त होता है।

अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवेगमायाय, संवासो न वि कप्पए दविए ॥

—सू० १.४ । १ : १०

—विष मिश्रित खीर के भोजन करनेवाले मनुष्य की तरह स्त्रियों के सहवास में रहनेवाले ब्रह्मचारी को पीछे विशेष अनुताप करना पड़ता है। इसलिए पहले से ही विवेक रखकर मुमुक्षु स्त्रियों के साथ सहवास न करे।

दूजी वाड़

कथा न कहणी नार नीं

ढाल : ३

दुहा

१—कथा न कहणी नार नीं,
ते जिण कही दूजी वाड़ [१]।
जो नारी कथा कहें तेह सूं,
हुवें वरत विगाड़ ॥

१—जिन भगवान ने दूसरी वाड़ में बताया है कि ब्रह्मचारी को नारी की कथा—चर्चा नहीं करनी चाहिए। नारी की कथा करने से व्रत की क्षति होती है।

२—जे झूल रह्या ब्रह्म वरत में,
त्यांरे विषें नहीं मन मांय।
ते ब्रह्मचारी नें नारी कथा,
करवी सोभें नांय ॥

२—जो ब्रह्मचर्य-व्रत रूपी झूले में झूल रहा है, उसके मन में तनिक भी विषय-वासना नहीं होती। ऐसे ब्रह्मचारी को नारी की कथा कहना शोभा नहीं देता।

ढाल

[कपूर हुवें अति उजलो ए]

१—जात रूप कुल देसनीं रे,
नारी कथा कहें जेह।
वार वार कथा करें रे,
तो किम रहें वरत सूं नेह रे।
भवीयण नारी कथा निवार,
तूं तो दूजी वाड़ विचार रे ॥आं०॥

१—जो स्त्रियों के जाति, रूप, कुल या देश सम्बन्धी कथाएँ बार-बार कहता है, उसका ब्रह्मचर्य के प्रति स्नेह कैसे रह सकता है ?

हे भव्य ! तू दूसरी वाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

२—चंद मुखी मिरग लोयणी रे,
वेणी जांणें भूयंग।
दीप सिखा सम नासिका रे,
होठ प्रवाली रे रंग रे ॥भ०॥

२, ३, ४—मन में विवेक लाकर ब्रह्मचारी ऐसा वर्णन न करे—अमुक नारी चन्द्रमुखी है; मृगनयनी है। उसकी वेणी सर्पिणी की तरह काली है। उसकी नासिका दीपशिखा के सदृश है। उसके अधर

३—वाणी कोयल जेहवी रे,
हाथ पांव रा करें वखांण।
हंस गमणी कटी सींह समी रे,
नाभि ते कमल समांण रे ॥ भ०॥

प्रवाल के रंग की तरह हैं। उसकी वाणी कोयल की तरह मधुर है। उसके हाथ-पाँव इस तरह के सुन्दर हैं। उसकी चाल हंस की तरह है। उसका कटि-प्रदेश सिंह की तरह है। उसकी नाभि कमल के समान है। उसकी कुक्षि अति सुन्दर है। ब्रह्मचारी मन में विवेक लाकर इस तरह नारी के अंग-उपांग की बार-बार सराहना न करे।

४—कूख छें जेहनीं अति भली रे,
वले अंग उपंग अनेक।
त्यांनें वारुंवार न सरावणा रे,
आंणी मन में विवेक रे[२] ॥ भ०॥

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

५—जथातथ कहितां थकां रे,
दोष नहीं छें लिगार।
पिण विनां कांम कहिवा नहीं रे,
नारी रूप वर्ण सिणगार रे ॥ भ०॥

५—यद्यपि यथातथ्य वर्णन करने में जरा भी दोष नहीं, तथापि बिना कारण नारी के रूप, वर्ण एवं शृङ्गार का वर्णन नहीं करना चाहिए।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

६—नारी रूप सरावतां रे,
वधें छें विषे विकार।
परिणांम चल विचल हुवें रे,
हुवें वरत नों विगाड़ रे[३] ॥ भ०॥

६—कारण, नारी के रूप की सराहना—प्रशंसा करने से विषय-विकार की वृद्धि होती है। परिणाम चल-विचल हो जाते हैं, जिससे व्रत में विकृति आती है।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

७—मली कुमारी नों रूप सांभल्यो रे,
छहूं राजां रा चलीया परिणांम।
त्यां सगाई करण नें दूत मेलीयो रे,
विगड्यो मांहो मांहीं तान रे[४] ॥ भ०॥

७—मल्लीकुमारी के रूप की प्रशंसा सुन कर छः राजाओं के परिणाम विचलित हो गये और उन्होंने मल्लीकुमारी के साथ सम्बन्ध करने के लिए अपने-अपने दूत भेजे। इससे मल्लीकुमारी के पिता और उनकी मित्रता की तान बिगड़ गई।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

८—मिरगावती रो रूप सांभल्यो रे,
चंडप्रद्योत राजांन।
तिण कोसंबी नगर घेरो दीयों रे,
करायो मिनषां रो घमसांण रे ॥ भ०॥

८—इसी प्रकार मृगावती के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर चण्डप्रद्योतन राजा ने कोशम्बी नगरी को घेर कर भयंकर नर-संहार करवाया।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

९—तिणरे हाथे न आई मिरगावती रे,
ते यूंही हुओ खुराब।
फिट २ हुओ लोक में रे,
घणीं पड़ाइ आब रे[५] ॥भ०॥

९—पर मृगावती उसके हाथ नहीं आई और वह व्यर्थ ही खराब हुआ। वह लोक में धिक्कारा गया। उसने अपनी प्रतिष्ठा खो दी।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१०—पदमोतर राजा नारद कनें रे,
द्रोपदी रा रूप री सुण बात।
देव कनें मंगाई तिण द्रोपदी रे,
तो इजत गमाई साख्यात रे[६] ॥भ०॥

१०—महाराजा पद्मोत्तर ने नारद से द्रौपदी के रूप की बात सुनकर देव के द्वारा द्रौपदी को अपने पास मँगवा लिया। पद्मोत्तर को इस कार्य के कारण अपनी इज्जत देनी पड़ी।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

११—नारी कथा सुणनें विगड्या घणां रे,
त्यांरा कहितां न आवें पार।
ते भिष्ट हुवां वरत भांग नें रे,
ते हार गया जमवार रे ॥ भ०॥

११—नारी-कथा के सुनने से अनेक (व्यक्ति) बिगड़ चुके हैं, जिनका कहने से पार नहीं आता। वे व्रतों को भंग कर भ्रष्ट हो गये और उन्होंने अपना जन्म व्यर्थ में खो दिया।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१२—नींबू फल नीं वारता सुणयां रे,
मुख पांणी मेलें छें ताय।
ज्यूं अस्त्री कथा सुणीयां थकां रे,
परिणांम थोडा में चल जाय रे ॥ भ०॥

१२—जिस प्रकार नीबू (फल) का वर्णन सुनने से मुख में पानी छूटने लगता है, उसी प्रकार नारी की कथा सुनने से परिणाम शीघ्र विचलित हो जाता है।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१३—संका कंखा वितिगछा मन उपजें रे,
सीयल वरत पालूं के नांहीं[७]।
तिण सूं नारी कथा करवी नहीं रे,
दूजी बाड़ रें मांहीं रे ॥ भ०॥

१३—मन में शंका तथा कांक्षा उत्पन्न होती है। ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है कि मैं शीलव्रत पालूँ या नहीं? इसी कारण भगवान ने दूसरी बाड़ में कहा है कि ब्रह्मचारी को नारी-कथा नहीं करनी चाहिए।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१४—वार वार अस्त्री तणी रे,
कथा न कहणी तांम।
ए बीजी बाड़ सुध पालसी रे,
ते पांमसी अविचल ठांम रे ॥ भ०॥

१४—बार-बार स्त्री-कथा नहीं करनी चाहिए। जो इस दूसरी बाड़ का शुद्ध रूप से पालन करेगा वह अविचल धाम—मोक्ष को प्राप्त करेगा।

हे भव्य! तू दूसरी बाड़ का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १-२ :

स्वामीजी ने दूसरी बाड़ की जो परिभाषा यहाँ दी है, उसका आधार आगम के निम्न स्थल है :

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे

उत्त० १६ : २

—जो स्त्री कथा नहीं कहता वह निर्ग्रंथ है।

मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी।
बम्भचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए॥

—उत्त० १६ श्लो० २ :

—ब्रह्मचारी मनको चंचल करनेवाली और विषय-राग को बढ़ानेवाली स्त्री-विषयक कथाएँ न कहे।

णारीजणस्स मज्झे ण कहियव्वा कहा विचित्ता।
विब्बोयविलाससंपउत्ता हाससिंगार लोइयकहव्व मोहजणणी॥
कहाओ सिंगार कलुणाओ तवसंजमबंभचेर घाओवघाइयाओ।
अणुचरमाणेणं बंभचेरं न कहियव्वा न सुणियव्वा न चिंतियव्वा॥

प्रश्न० २-४ दूसरी भावना

—ब्रह्मचारी स्त्रियों के बीच में विभ्रम, विलासयुक्त, हास्य, शृङ्गार तथा मोह उत्पन्न करनेवाली विचित्र कथाएँ न कहे।

—शृङ्गार-रस के कारण मोह उत्पन्न करनेवाली तथा तप, संयम और ब्रह्मचर्य का घात-उपघात करनेवाली कामुक कथाएँ ब्रह्मचारी न कहे, न सुने और न उनका चिन्तन करे।

[२] ढाल गा० १-४ :

स्वामीजी ने इन गाथाओं में जो बात कही है, उसका आधार आगम के निम्न वाक्य हैं :

"न आवाहविवाह वर कहाविव इत्थीणं वा सुभगदुभग कहा चउसट्ठिं य महिलागुणा ण वण्ण देस जाइ कुल रूव णाम णेवत्थ परिजण कहा इत्थियाण अण्णा वि य एवमाइयाओ कहाओ सिंगार कलुणाओ तवसंजमबंभचेर घाओवघाइयाओ अणुचर माणेणं बंभचेरं ण कहियव्वा ण सुणियव्वा ण चिंतियव्वा।"

एवं इत्थीकहविरइसमिइ जोगेणं भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण विरयागामधम्मे जिइंदिए बंभचेर गुत्ते।

—प्रश्न० २-४ दूसरी भावना

—नूतन विवाह किए हुए वर-वधू अथवा विवाह करनेवाले वर-वधू की कथा नहीं करनी चाहिए।

—स्त्रियों के सौभाग्य-दुर्भाग्य की कथा नहीं करनी चाहिए।

—कामशास्त्रों में वर्णित स्त्रियों के चौसठ गुणों का वर्णन नहीं करना चाहिए। स्त्रियों के वर्ण, देश, जाति, कुल, रूप, नाम नैपथ्य और परिजन सम्बन्धी कथाएँ न करनी चाहिए। शृङ्गार रस के कारण मोह उत्पन्न करनेवाली कथाएँ न करनी चाहिए। इसी प्रकार की अन्य कथाएँ जो तप, संयम और ब्रह्मचर्य का घात-उपघात करनेवाली हों, उन्हें ब्रह्मचर्य का अनुसरण करनेवाला ब्रह्मचारी न कहे, न सुने और न उनका चिन्तन करे।

—ब्रह्मचारी कथा-विरति-समिति के योग से अंतरात्मा को भावित करनेवाला होता है। ऐसा मैथुन से निवृत्त, इन्द्रियों के विषयों से रहित, जितेन्द्रिय पुरुष ब्रह्मचर्य में गुप्त होता है।

[३] ढाल गा० ६ :

स्वामीजी ने इस गाथा में जो बात कही है उसका आधार सूत्र के निम्न वाक्य हैं :

णो णिग्गंथे अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थीणं कहं कहइत्तए सिया; केवली बूया—णिग्गंथे णं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहमाणे संतिभेदा संति विभंगा संति केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा

—आ० २-१५ : (चौथे व्रत की पहली भावना)

—निर्ग्रंथ वार-वार स्त्री-कथा न करें।

केवली भगवान् ने कहा है—वार-वार स्त्री-कथा करने से मन की शान्ति का भङ्ग तथा विभङ्ग होता है और ब्रह्मचारी केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है।

[४] ढाल गा० ७ :

'मल्ली कुमारी' का जीवन-वृतांत परिशिष्ट में दिया गया है। परिशिष्ट—क कथा १६

[५] ढाल गा० ८-६ :

'मृगावती' की कथा परिशिष्ट में दी गई है। परिशिष्ट—क कथा १७

[६] ढाल गा० १० :

द्रोपदी की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट—क कथा १८

[७] ढाल गा० १३ :

स्वामीजी ने जो बात यहाँ कही है, उसका आधार सूत्र के निम्न वाक्य हैं :

निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायकं हवेज्जा केवलि पण्णताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा।

उत्त० १६ : २

—स्त्रियों की कथा करने से निर्ग्रंथ ब्रह्मचारी के मनमें ब्रह्मचर्य के प्रति शंका उत्पन्न होती है।

—उसके कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती हैं। संयम का भेद और भंग होता है। उन्माद की उत्पत्ति होती है। दीर्घकालिक रोगांतक होते हैं। वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है। इसलिए स्त्री-कथा नहीं कहनी चाहिए।

तीजी बाड़

एकण सय्या नहीं बेंसवों

ढाल : ४

दुहा

१—हिवें तीजी बाड़ में इम कह्यों,
ब्रह्मचारी नार सहीत।
एकण सय्या नहीं बेंसवों,
ए जिण सासण री रीत[१]॥

१—तीसरी बाड़ में ऐसा कहा गया है कि ब्रह्मचारी को नारी के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। यह जिन शासन की रीति है।

२—अगन कुंड पासें रहें,
तो प्रगलें घृत नों कुंभ।
ज्यूं नारी संगति पुरष नों,
रहें किसी पर बंभ[२]॥

२—अग्नि-कुण्ड के समीप रखा हुआ घी का घड़ा पिघल जाता है वैसे ही स्त्री की संगति करने पर पुरुष का ब्रह्मचर्य कैसे रह सकता है ?

३—ब्रह्मचारी जोगी जती,
न करें नार प्रसंग।
एकण आसण बेंसतां,
थाअें वरत नो भंग॥

३—हे ब्रह्मचारी ! योगी ! यति ! तू नारी का संसर्ग मत कर, क्योंकि स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है।

४—पावक गालें लोह नें,
जो रहें पावक संग।
ज्यूं एकण आसण बेंसतां,
न रहें वरत सुरंग[३]॥

४—जैसे अग्नि के संसर्ग में रहने से अग्नि लोहे को गला देती है, उसी तरह नारी के साथ एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचर्य सुरङ्ग—स्वच्छ नहीं रहता।

ढाल

[*अमिया राणी कहै धाय नें*]

१—तीजी बाड़ हिवें चित्त विचारो,
नारी सहित आसण निवारो लाल।
एकण आसण बेंठां कांम दीपें छें,
ते ब्रह्मचारी नें आछो नहीं छें लाल॥
तीजी बाड़ हिवें चित्त विचारो॥आँ०॥

१—अब तीसरी बाड़ पर विचार करो। हे ब्रह्मचारी ! तू नारी के साथ एक आसन पर बैठने का त्याग कर। एक आसन पर बैठने से कामोद्दीपन होता है ; अतः ब्रह्मचारी के लिए नारी के साथ एक आसन पर बैठना हितकर नहीं।

ब्रह्मचारी ! तुम इस तीसरी बाड़ का मन में चिन्तन करो।

२—एकण आसण बेठां आसंगो थावें,
आसंगे काया फरसावें लाल ।
काया फरस्यां विषें रस जागें,
इम करतां जावक वरत भागें लाल[४] ॥ती०॥

२—एक आसन पर बैठने से नारी का संसर्ग होता है। नारी-संसर्ग काया का स्पर्श कराता है। काया के स्पर्श से विषय-रस की जागृति होती है। विषय-रस की जागृति से सम्पूर्ण व्रत भंग हो जाता है।

३—पाट बाजोट सेझा संथारो जांणों,
एहवा आसण अनेक पिछांणों लाल ।
तिहां नारी सहीत बेंसों मत कोई,
जिण वचनां साहमो जोई लाल[५] ॥ती०॥

३—पाट, बाजोट, शैय्या, संस्तारक आदि अनेक प्रकार के आसन हैं। जिनेश्वर भगवान् के वचन को सम्मुख रख कर कोई भी ब्रह्मचारी नारी के साथ एक आसन पर न बैठे।

४—अस्त्री सहीत बेंसें एकण आसण,
तो वले लोक पडें छें विमासण लाल ।
अछतोई आल दे करें फितूरो,
वले बोलें अनेक विध कूड़ो लाल[६] ॥ती०॥

४—स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने से लोगों में ब्रह्मचारी के प्रति शंका हो जाती है। लोग उस पर मिथ्या कलंक लगाते हैं तथा उसके सम्बन्ध में नाना मिथ्या-प्रचार करते हैं।

५—जिन ठांमे बेंठी हुवें नारी,
तिण ठांमे न बेंसे ब्रह्मचारी लाल ।
बेंसें तो अंतर मूहरत टाली,
वेद सभाव संभाली लाल[७] ॥ती०॥

५—वेद के स्वभाव का ध्यान रख कर जिस स्थान से स्त्री उठी हो, उस स्थान पर ब्रह्मचारी तुरंत न बैठे। अगर बैठे तो अन्तर मुहूर्त का समय टाल कर बैठे।

६—नारी वेद रा पुदगल तिण थी,
नरवेद विकार वेदें जिण थी लाल।
यूं हीज नारी ने पुरष सूं जांणों,
मांहोमां वेद विकार पिछांणों लाल ॥ती०॥

६—नारी-वेद के पुद्गलों से पुरुष-वेद विकार को प्राप्त होता है। उसी प्रकार पुरुष-वेद के पुद्गलों से नारी-वेद। इस प्रकार संसर्ग से परस्पर वेद-विकार उत्पन्न होता है। यह समझो।

७—नारी फरस वेद्यां हुवें भोग रो रागी,
जब जावें वरत सूं भागी लाल ।
इण कारण एकण आसण बेंसणों नाहीं
नारी फरस डरणों मन मांहीं लाल[८] ॥ती०॥

७—स्त्री-स्पर्श से वेदानुभव को प्राप्त हो ब्रह्मचारी भोग का अनुरागी बनता है। इससे व्रत भंग हो जाता है। इसी कारण से ब्रह्मचारी को नारी के संग एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए और नारी-स्पर्श से मन में डरते रहना चाहिए।

८—श्री रांणी सम्भूत वांदो आणी मन रागों
कर फरस मुनी तन लागों लाल ।
तिण चारित्र खोय नीहांणों कीधों,
दुरगत नों पंथ लीधो लाल ॥ती०॥

८—सम्भूत चक्रवर्ती की रानी ने मन में अनुराग लाकर मुनि को वन्दन किया। मुनि को रानी के हाथों का स्पर्श हुआ। मुनि ने नियाना कर चारित्र खो दिया और दुर्गति का रास्ता अपनाया।

९—ते देव थईनें चक्रवत हुवों,
भोग मांहें गिधी थकों मूंओ लाल।
सातमीं नरक मांहें जाय पड़ीयो,
पाप सूं पूर्ण भरीयो लाल ' ॥ती०॥

९—मृत्यु के बाद वह मुनि देवता हुआ। वहां से च्यवकर चक्रवर्ती हुआ और भोगों में गृद्ध रहता हुआ पापों से परिपूर्ण हो काल प्राप्त कर सातवीं नरक में गया।

१०—नारी फरस वेद्यां सूं ओगुण अनेक,
तिण सूं आसण न बेंसणों एक लाल।
संखा कंखा वितिगिछा उपजें मनमांहीं
सील वरत पालूं के नाहीं लाल '' ॥ती०॥

१०—नारी-स्पर्श के वेदन से अनेक दुर्गुण होते है। अतः नारी के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। इससे शंका, कांक्षा उत्पन्न होती है तथा शीलव्रत का पालन करूँ या नहीं, यह विचिकित्सा उत्पन्न होती है।

११—ए वाड़ लोपी तिण बात विगोई,
तिण दीयों ब्रह्म वरत खोई लाल।
ते नरक निगोद मांहें जाय पडीया,
ते संसार में रडवडिया लाल ॥ती०॥

११—जिसने इस तीसरी बाड़ का लोप किया, उसने व्रत-भङ्ग कर ब्रह्मचर्य व्रत को खो दिया। ब्रह्मचर्य व्रत से पतित होनेवाले नरक निगोद में गिरे और उन्होंने संसार में परिभ्रमण किया।

१२—काचर कोहलो फाड्यां कर फाटों,
तिण सूं वाक तूट हुवें आटो लाल।
ज्यूं अस्त्री सूं एकण आसण बेंठां तांम
ब्रह्मचारी रा चलें परिणाम लाल '' ॥ती०॥

१२—जैसे काचर और कोहल (कद्दू) को काटकर आटे में गूँथने से आटा लसरहित हो जाता है, उसी प्रकार एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचारी के परिणाम चलित हो जाते हैं।

१३—मा बेंन बेटी पिण इमहीज जाणों,
एकण आसण मतीय बेंसाणों लाल।
त्यां सूं पिण भाग गया छें अनंत,
ते भाख्यो छें श्री भगवंत लाल '' ॥ती०॥

१३—माता, बहन या बेटी के प्रति भी यही नियम समझो। ब्रह्मचारी उन्हें भी अपने साथ एक आसन पर नहीं बैठावे, क्योंकि इनसे भी अनेक व्रतधारियों के व्रत भंग हुए हैं, ऐसा भगवान् ने कहा है।

१४—इम सांभल तीजी वाड़ म लोपो,
ब्रह्मचर्य में थिर पग रोपो लाल।
तो सिव रमणी नें वेगी वरसों,
आवागमण न करसों लाल ॥ती०॥

१४—अतः उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए तीसरी बाड़ का उल्लंघन मत करो। ब्रह्मचर्य में अपने पैरों को स्थिर रखो, जिससे कि तुम शीघ्र ही शिव-रमणी को वरण करो और आवागमन को मिटा सको।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

स्वामीजी के इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित वाक्य है :

णो णिग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं सन्नि सिज्जागए विहरेज्जा

—उत्त० १६ : ३

—निर्ग्रन्थ स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे ।

दोहा २, ३ के 'नारि-संगति', 'नार-प्रसंग' आदि शब्दों से ऐसा लगता है कि केवल स्त्री के साथ एक आसन पर बैठना ही तीसरी वाड़ नहीं बल्कि स्त्रियों की संगति न करना, उनके साथ घुल-मिलकर वार्तालाप आदि के प्रसंग में न पड़ना, उनके साथ अत्यधिक परिचय न करना आदि भी इस वाड़ के अन्तर्गत आते हैं ।

स्वामीजी के द्वारा प्रस्तुत तीसरी वाड़ के इस व्यापक स्वरूप का आधार आगम के निम्न स्थल हैं :

समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खण ।
बंभचेर रओ भिक्खू णिच्चसो परिवज्जए ॥

—उत्त० १६ श्लो० ३

—ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु स्त्रियों के साथ सहवास, परिचय, बार-बार बातचीत का हमेशा परिवर्जन करे ।

गिहिसंथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं ।

—दश० ८ : ५३

—ब्रह्मचारी गृहस्थ स्त्री से परिचय न बढ़ावे । वह साधु से ही परिचय करे ।

णो संपसारए, णो ममाए ।
णो कयकिरिए, वइगुत्ते
अज्झप्प संवुडे परिवज्जए सदा पावं

—आचा० १।५ : ४

—ब्रह्मचारी स्त्रियों के साथ परिचय न करे, उनसे ममता न करे, उनकी आगत-स्वागत न करे, उनसे बात करने में वचन-गुप्त हो । वह मन को वश में कर हमेशा पापाचार से दूर रहे ।

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहस समभिजाणे ।
नो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिवो होइ ॥

—सू० १, ४।१ : ५

—ब्रह्मचारी स्त्रियों पर दृष्टि न साधे, उनके साथ कुकर्म का साहस न करे । ब्रह्मचारी स्त्रियों के साथ विहार न करे । इस प्रकार स्त्री-प्रसंग से बचने से आत्मा सुरक्षित होती है ।

... ... इत्थिसंसग्गी, ... ।
नरस्सत्तगवेसिस्स , विसं तालउडं जहा ॥

—दश० ८ : ५७

—आत्मगवेषी ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संसर्ग तालपुट विष की तरह है ।

[२] दोहा २ :

स्वामीजी के इस दोहा का आधार आगम का निम्न श्लोक है :

जउ कुम्भे जोइउवगूढे, आसुभित्तते नासमुवयाइ ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण नासमुवयन्ति ॥

सू० १ : ४ : १ : २७

—जैसे अग्नि के पास रखा हुआ लाख का घड़ा शीघ्र तप्त होकर नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी तरह स्त्रियों के सहवास से अनगार का संयम-रूपी जीवन नाश को प्राप्त हो जाता है।

स्वामीजी ने घी का दृष्टान्त दिया है। आगम में लाख का दृष्टान्त है।

[३] दोहा ४ :

स्वामीजी ने इस दोहे में जो अग्नि और लोह का उदाहरण दिया है वह उनका मौलिक दृष्टान्त है। स्वामीजी के कथन का सार यह है कि जैसे अग्नि कठोर से कठोर लोहे को भी उसमें डालने पर गला देती हैं, उसी तरह कोई चाहे कितना ही बड़ा तपस्वी क्यों न हो, यदि वह स्त्री के साथ एकासन पर बैठता है, तो उसका मनोबल क्षीणता को प्राप्त हुए बिना नहीं रह सकता। अतः एकासन पर न बैठना, यह समस्त ब्रह्मचारियों के लिए एक सामान्य नियम है।

स्वामीजी के इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित श्लोक है :

जे एयं उंछं अणुगिद्धा अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥

—सू० १.४। १ : १२

—सुतपस्वी भिक्षु भी स्त्री के साथ विहार न करे।

[४] ढाल गा० १-२ :

एकासन पर बैठने पर ब्रह्मचारी का पतन किस तरह होता है, इसका बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस गाथा में है। एक आसन पर बैठने पर संसर्ग होता है, संसर्ग से स्पर्श होता है, स्पर्श से तीव्र विषय-वासना की जागृति होती है, विषय-वासना की जागृति से संयोग होता हैं। इस तरह ब्रह्मचर्य व्रत का सम्पूर्णतया नाश होता है।

'गीता' में पतन का क्रम निम्नरूप में मिलता है :

ध्यायतो विषयान् पुंसः सगस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात् भवति संमोहः समोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात् प्रणश्यति॥

—गीता अ० ११ : ६२-६३

—विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है,आसक्ति से कामना होती है और कामना से क्रोध होता है। क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है, मूढ़ता से होश ठिकाने नहीं रहता, होश ठिकाने न रहने से ज्ञान का नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक तुल्य है।

[५] ढाल गा० ३ :

इस गाथा में 'आसन' शब्द का अर्थ बताया गया है। पाट—अर्थात् बैठने का काठ का तख्ता—पीठ, बाजोट—पाट से बड़ा तख्ता, सैज्जा—शय्या—सोने का पाट, संथारा—संस्तारक—बिछौना आदि 'आसन' की परिभाषा में आते हैं।

[६] ढाल गा० ४ :

इस गाथा का आधार सूत्र का निम्नलिखित श्लोक है :

अदु णाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठु एकया होइ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥

—सू० १.४।१ : १४

[७] ढाल गा० ५ :

इस गाथा में ब्रह्मचारी को उस स्थान या आसन का तुरंत उपयोग करने की मनाही है जिस स्थान या आसन पर से स्त्री तुरंत ही उठी हो। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए यह आवश्यक माना गया है कि ऐसे स्थान या आसन पर साधु अंतर मुहूर्त के पहले न बैठे।

आचार्य नेमिचन्द्र ने 'उत्तराध्ययन सूत्र' की टीका में लिखा है—ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता है कि ऐसे स्थान पर ब्रह्मचारी एक मुहूर्त तक न बैठे। इसका कारण वेद स्वभाव या प्रकृति है [१]।

[८] गा० ६-७ :

नारी वेद और पुरुष वेद के पुद्गलों का परस्पर ऐसा कोई आकर्षण है कि उन पुद्गलों के स्पर्श से परस्पर विकार उत्पन्न होने की संभावना रहती है। नारी वेद के पुद्गलों के स्पर्श से पुरुष में काम-राग उत्पन्न हो जाता है और पुरुष वेद के पुद्गलों के स्पर्श से नारी में। अतः इन पुद्गलों के स्पर्श से बचना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक और उपयोगी माना गया है। एकासन पर न बैठने के नियम का एक हेतु यह वेद-स्वभाव है।

[९] गा० ८-९ :

सम्भूत चक्रवर्ती की कथा के लिए देखिये परिशिष्ट-क कथा १९

[१०] ढाल गा० १० :

—स्वामीजी की इस गाथा का आधार आगम के निम्न वाक्य हैं :

"णिग्गंथस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सणिसेज्जागयस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भयं वा लभिज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा"

—उ० १६ : ३

—स्त्री के साथ एकासन पर बैठने से, ब्रह्मचारी के मन में ब्रह्मचर्य के प्रति शंका होती है। अब्रह्मचर्य की आकांक्षा होती है। उसकी आत्मा में विचिकित्सा होती है। शांति का भेद—भङ्ग होता है। उन्माद होता है। दीर्घकालिक रोगातंक होता है। अंत में वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है।

[११] ढाल गा० १२ :

स्वामीजी ने काचर और कोहला का जो दृष्टान्त यहाँ दिया है, वह उनकी स्वाभाविक दृष्टान्तिक बुद्धि का सुन्दर नमूना है। ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य के साथ जो एकान्त मनोयोग रहता है वह नारी के साथ एकासन पर बैठने से उसी तरह टूट जाता है जिस तरह काचर और कोहला से आटे के लस का नाश हो जाता है।

[१२] ढाल गा० १३ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार सूत्र का निम्न स्थान है :

अपि धूयराहि सुण्हाहिं, धाईहिं अदुव दासीहिं।
महईहिं वा कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥

सू० १, ४ । १ : १३

—चाहे बेटी हो, बेटे की बहू हो, धाय हो या दासी हो, बड़ी स्त्री हो, या कुमारी हो, अनगार उसके साथ संस्तव —मेलजोल न करे।

कुव्वन्ति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।

सू० १ : ४ । १ : १६

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कण्टगं नच्चा ॥

सू० १, ४ । १ : ११

—जो स्त्रियों के साथ मेलजोल करता है वह समाधि योग से भ्रष्ट हो जाता है। अतः स्त्रियों को विष-लिप्त कंटक के समान जानकर ब्रह्मचारी उनके संसर्ग का वर्जन करे।

१—उत्त० नेमि० टी० पृ० २२० :

नो स्त्रीभिः सार्द्धं सन्निपद्या—पीठाद्यासनं तद्गतः सन् "विहर्ता" अवस्थाता भवति, कोऽर्थः ? ताभिः सहैकासने नोपविशेद्, उत्थितास्वपि ताम्‌ मुहूर्तं तत्र नोपवेष्टव्यमिति सम्प्रदायः।

चोथी वाड़

नारी रूप नहीं निरखणो

दुहा

१—नारी रूप नहीं निरखणो,
जिण कही चोथी याड़ [१] ।
ए सुध मांन जे पालसी,
तिण सफल कीयो अवतार [२] ॥

१—जिन भगवान् ने चौथी वाड़ में यह कहा है कि नारी के रूप आदि का निरीक्षण नहीं करना चाहिए। जो शुद्ध समझ कर इस बाड़ का पालन करेगा, वह मनुष्य-जन्म को सफल करेगा।

२—चित्र लिखित जे पूतली,
ते पिण जोयवी नांहि,
केवलग्यांनी इम कह्यो।
दसवीकालिक मांहि [३] ॥

२—केवल ज्ञानी भगवान् ने 'दशवैकालिक-सूत्र, में कहा है कि साधु को चित्राङ्कित पुतली हो उसका भी अवलोकन नहीं करना चाहिए।

ढाल ५

[मोहन मूंदड़ी ले गयो]

१—मनहर इंद्री नार नीं रे,
तिण दीठांई बधे विकार [४] ।
मिरग जाल ज्यूं नर भणी रे,
पास रच्यो संसार [५] ॥सुगुण रे॥
नारी रूप न जोईयें,
जोइयें नहीं धर राग ॥सु०॥

१—स्त्रियों की इन्द्रियाँ मनोहर होती हैं। उनके निरीक्षण मात्र से ही मन में विकार की वृद्धि होती है। स्त्रियों के मनोहर अंगोपाङ्ग मृगजाल की तरह हैं। मनुष्यों के लिए संसार में यह पाश रचा हुआ है।

अतः हे सद्गुणी ! स्त्री के रूप को रागपूर्वक मत देख।

२—नारी रूप दीवलो रे,
भोगी पुरुप पतंग।
झंपे सुख रे कारणें रे,
दाझें कोमल अंग [१] ॥सु० ना०॥

२—स्त्री का रूप दीपक के समान है और भोगी पुरुष पतंग के समान। वह सुख प्राप्ति के लिए उसमें गिरता है और अपने कोमल शरीर को जला डालता है।

३—कांमणगारी कांमणी रे,
वस कीयो सर्व संसार।
आखी अणी कोयक रह्यां रे,
सुर नर गया सर्व हार ॥सु० ना०॥

३—कामिनी जादूगरनी है। उसने सारे संसार को वश में कर लिया है। भाग्यवश ही कोई उससे बच पाया है। देव और मानव सभी उसके सामने हार चुके हैं।

४—रूपें रंभा सारिषी रे,
वले मीठाबोली हुवें नार।
ते निजर भरे नें निरखतां रे,
वरत ने होवें विगाड ॥सु० ना०॥

४—नारी रूप में रम्भा के सदृश होती है। वह वचन की भी बड़ी मधुर होती है। नारी को नजर भरकर देखने से व्रत नष्ट हो जाता है।

५—रूप में रूडी देखनें रे,
मांहें पडें काम अंध।
सुख मांणें जाणें नहीं रे,
ते पाडें दुरगत नों बंध ॥सु० ना०॥

५—सुन्दर रूपवाली स्त्री को देखकर कामान्ध पुरुष उसमें आसक्त होता है। वह स्त्री-भोग में सुख मानता है; किन्तु यह नहीं जानता कि स्त्री दुर्गति का बन्धन करनेवाली है।

६—रूप घणों रलीयामणों रे,
वले अपछरें रे उणीयार।
ते देखे रीझो किसूं रे,
आ मल मूतर रो भंडार ॥सु० ना०॥

६—भले ही कोई नारी रूप में बहुत मनोहर और अप्सरा के समान हो, किन्तु, उसे देखकर क्यों मुग्ध होते हो? वह तो मल-मूत्र का भाण्डार है।

७—अशुच अपवित्र नों कोथलो रे,
कलह काजल नों ठांम।
बारें श्रोत वहें सदा रे,
चरम दीवडी नांम ॥सु० ना०॥

७—नारी अशुचि और अपवित्रता की थैली है। यह कलह रूपी काजल की कोठरी है। उसकी देह से बाहर स्रोत बहते रहते हैं, जिससे उसका 'चर्म दीवड़ी' नाम पड़ा है।

८—देह उदारीक कारमी रे,
खिण में भंगुर थाय।
सपत धात रोगाकुली रे,
जतन करंतां जाय ॥सु० ना०॥

८—यह देह औदारिक और नाशवान है। यह क्षणभंगुर है। सप्त धातु का यह शरीर रोगाकुल है, जो यत्न करते रहने पर भी नाश को प्राप्त हो जाता है।

९—अबला इंद्री निरखतां रे,
बाधें विषें रस पेम।
राजमती देखी करी रे,
तुरत डिग्यो रहनेम ॥सु० ना०॥

९—स्त्रियों की इन्द्रियों का निरीक्षण करने से विषय-रस के प्रति अनुराग बढ़ता है। राजीमति को देखकर रथनेमि तत्काल विचलित हो गया।

१०—नारी वेद नरपति थयो,
वले चखू कूसीलीयो ते थाय।
वाड़ भांग लाखां भवां रे,
रुलीयो रूपी राय [११]॥सु० ना०॥

१०—रूपी राजा नारी-वेद से आकर्षित हो चक्षु-कुशील हो गया। वाड़ को भंग कर वह लाखों भव में भटका।

११—सेठ घरे जांमो लीयो रे,
नांम इलापुतर जांण।
ते नटवी रूपें मोहीयो रे,
ते वसीयो नटवां घरे आंण॥सु० ना०॥

११—एलाचीपुत्र ने सेठ के घर जन्म लिया। वह एक नटवी के रूप में मोहित हो गया और नट के घर आकर रहने लगा।

१२—ते वांस उपर चढ़ नाचतो रे,
ते मन मांहें हरप न मात।
ओ वांछें धन राय नों रे,
राय वांछें इणरी घात [१२]॥सु० ना०॥

१२—एक बार वह बाँस पर खेल दिखाने के लिए चढ़ गया। वह हर्ष से फूला नहीं समाता था। एलाचीपुत्र राजा के धन की इच्छा करता था और राजा उसके प्राणघात की।

१३—मणरथ बंधव मारीयो रे,
मेणरेहा रो देखी रूप।
मरण पांम्यों तिण जोग सूं रे,
वले जाय पड्यों अंध कूप [१३]॥सु० ना०॥

१३—मणिरथ ने मैनरहा के रूप को देखकर अपने भाई युगबाहु की हत्या कर दी। वह भी उसी कारण से मृत्यु को प्राप्त हुआ और दुर्गति रूपी अन्धकूप में जा गिरा।

१४—अरणक संजम आदर्यो रे,
दीधी संसार नें पूठ।
ते नारी रूपें मोहीयो रे,
ते नारी लीयो तिण लूट [१४]॥सु० ना०॥

१४—अरणक ने संसार से मुख मोड़कर संयम धारण किया। किन्तु वह नारी के रूप को देखकर मोहित हो गया। स्त्री ने उसका चारित्र लूट लिया!

१५—एक पत्री आंणों ले जावतां रे,
मारग मांहें मिलीयो चोर।
तिणनें पत्री वांण वाया घणां रे,
चोर फरसी सूं न्हांख्या तोड॥सु० ना०॥

१५—एक क्षत्रिय गौना कर ससुराल से अपनी पत्नी को लेकर जा रहा था। मार्ग में उसे एक चोर मिल गया। क्षत्रिय ने अनेक वाण छोड़े किन्तु चोर ने फरसे से उन सब वाणों को काट दिया।

१६—हिवें एक वांण बाकी रह्यो रे,
जब अस्त्री निज रूप दिखाय।
ते चोर तिणरें रूप विलंबीयो रे,
जब पत्री वांण सूं दीयो ढाय॥सु० ना०॥

१६—क्षत्रिय के पास केवल एक वाण बच गया। स्त्री को बचाव का एक उपाय सूझा। उसने चोर को अपना रूप दिखाया। चोर उसके सौन्दर्य को देखने में लग गया। क्षत्रिय ने तुरत वाण छोड़ उसे भूमि पर गिरा दिया।

१७—चोर पर्यो ते देखनें रे,
पत्री करवा लागो मांण।
चोर कहें गरवे किसुं रे,
म्हांरे नारी नेणां रा लागा बांण ॥सु० ना०॥

१७—चोर को गिरा हुआ देखकर क्षत्रिय गर्व करने लगा। तब चोर बोला—क्षत्रिय! तुम किस कारण से इतना गर्व करते हो? मैं तेरे बाणों से घायल नहीं हुआ हूँ। मुझे तो नारी के नयन रूपी बाणों ने बींधा है।

१८—इत्यादिक बहू मानवी रे,
त्यांरो कहितां न आवें पार।
जे नारी रूप में रीझीया रे,
ते गया जमारो हार ॥सु० ना०॥

१८—इस प्रकार अनेक मनुष्यों ने, जिनकी गिनती संभव नहीं, नारी के रूप में आसक्त होकर अपना मनुष्य-जन्म खो दिया है।

१९—नारी रूप कांनें सुणी रे,
भिष्ट हुआ छें अनेक[१५]।
तो दीठां गुण होसी किहां रे,
समझो आंण विवेक ॥सु० ना०॥

१९—स्त्री के रूप की कथा कानों से सुनकर ही अनेक व्यक्ति भ्रष्ट हो गये। फिर मनुष्य! मन में विवेक लाकर समझ—नारी के रूप को देखने से भला कैसे होगा?

२०—काची कारी आँख नी रे,
सूर्य सांहों जोयां अंध होय।
ज्यूं नारी नेंणा निरखीयां रे,
ब्रह्म वरत देवें खोय ॥सु० ना०॥

२०—जिस प्रकार आँख की कची कारीवाला मनुष्य सूरज की ओर देखने से अन्धा हो जाता है, उसी प्रकार नारी के रूप को निरखने से ब्रह्मचारी व्रत को खो देता है।

२१—ब्रह्मचारी निरखें मती रे,
नारी रूप सिणगार[१६]।
आ सीख दीधी छें तो भणी रे,
रखे चूकेंला चोथी वाड़ ॥सु० ना०॥

२१—अतः, हे ब्रह्मचारी! नारी के रूप और शृङ्गार को मत देख। तुमको यह शिक्षा इसलिए दी गई है कि कहीं तुम चौथी बाड़ से न चूक जाओ।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ पूर्वार्द्ध :

चौथी बाड़ का स्वरूप आगम के निम्नलिखित वाक्यों पर आधारित है :

तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीणं इंदियाइं
मणोहराइं मणोरमाइं आलोएज्जा निज्झाएज्जा[१] ॥

उत्त : १६ : ४

—निर्ग्रंथ स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन न करे, निरीक्षण न करे।

न रूवलावण्णविलास हासं, न जंपियं इंगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥
अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सया बंभवए रयाणं ॥

उत्त ३२ : १४-१५

—श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मंजुल भाषण, अंग-विन्यास, कटाक्ष को चित्त में स्थान दे, देखने का अध्यवसाय न करे।

—ब्रह्मचारी को स्त्री के रूप आदि को नहीं देखना चाहिए। उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए, उसका चिंतन नहीं करना चाहिए, उसका कीर्तन नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य में रत पुरुष के लिए यह नियम सदा हितकारी और आर्य ध्यान—उत्तम समाधि प्राप्त करने में हितकर है।

[२] दोहा १ उत्तरार्द्ध :

'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में कहा है :

उत्तमतवणियमणाणदंसणचरित्तसम्मत्त विणयमूलं ··· मोक्खमग्गं
विसुद्धं सिद्धिगइणिलय ··· ··· अपुणब्भवं ··· ··· अक्खयकरं
··· ··· णिरुवलेवं ··· ··· ··· सण्णद्धोच्छइयदुग्गइपह सुगइ-
पहदेसगो।

—प्रश्न० २।४ : १

—ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विनय का मूल है। यह मोक्ष का मार्ग है। विशुद्ध मोक्षगति का स्थान है पुनर्जन्म का निवारण करनेवाला है। अक्षय सुख का दाता है। निरुपलेप है। यह दुर्गति के मार्ग को रोकता है, सुगति के मार्ग का प्रदर्शक है।

ब्रह्मचर्य के इन गुणों के कारण जो इस व्रत का शुद्धता पूर्वक पालन करता है निश्चय ही वह अपने जन्म को सफल करता है क्योंकि इसके द्वारा वह अपने लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

[३] दोहा २ :

इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित श्लोक है :

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

—द० ८ : ५५

—आत्मगवेषी पुरुष सुअलंकृत नारी की ओर—यहाँ तक कि दीवार पर अङ्कित चित्र तक की ओर गृद्ध दृष्टि से न ताके। यदि दृष्टि पड़ भी जाय तो जैसे उसे सूर्य की किरणों के सामने से हटाते हैं, उसी तरह हटा ले।

१—प्रायः ऐसा ही पाठ आचाराङ्ग २ : १५ (चौथे व्रत की दूसरी भावना) में मिलता है।

[४] ढाल गाथा १ का पूर्वार्द्ध :

इसका आधार 'दशवैकालिक सूत्र' का निम्नलिखित श्लोक है :

अंगपच्चंगसंठाणं चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए कामरागविवड्ढणं ॥

दश० ८ : ५८

—ब्रह्मचारी स्त्रियों के अङ्ग, प्रत्यङ्ग, संस्थान—आकार, उनकी मनोहर वाणी और चक्षु-विन्यास पर ध्यान न लगावे क्योंकि ये काम-राग को वृद्धि करने वाले हैं।

[५] ढाल गाथा १ का उत्तरार्द्ध :

'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में कहा है—

पङ्कपणयपासजाल भूयं

प्र० ४ : २

—अब्रह्मचर्य पंक कीच जाल और पाश की तरह है।

संभव है स्वामीजी की गाथा का आधार यही सूत्र वाक्य हो।

[६] ढाल गाथा २ :

स्वामीजी की यह गाथा आगम के निम्न लिखित श्लोक के आधार पर है :

रूवेसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं,
अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चुं ॥

—उत्त ३२ : २४

—जिस तरह रागातुर पतंग आलोक से मोहित हो अतृप्त अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी तरह रूप में तीव्र गृद्धि रखने वाला मनुष्य अकाल में ही मरण को प्राप्त होता है।

[७] ढाल गाथा ३ :

'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में कहा है :—

"अब्रह्मचर्य देव, मनुष्य, असुर सबका प्रार्थ्य है। यह स्त्री, पुरुष और नपुंसक का चिह्न है। ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक इन तीनों लोकों में इसका आधिपत्य है। यह चिरपरिचित है। अनादिकाल से जीव का पीछा कर रहा है। इसका अंत करना बड़ा ही कठिन है।

"मोह से मोहित मतिवाले अब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं। भवनपति, व्याणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक उसका सेवन करते हैं। मनुष्य, जलचर, थलचर, खेचर मोह से आसक्त-चित्त होते हैं। काम-भोगों में अति तृष्णा सहित हैं, काम भोग के लिये तृषातुर हैं, काम-भोगों की महती, बलवती तृष्णा से अभिभूत हैं। काम-भोगों में गृद्ध और अत्यन्त मूर्छित हैं। जैसे कोई कीचड़ में फँस जाता है वैसे अब्रह्मचर्य में फँसे रहते हैं। ये तामस भाव से मुक्त नहीं होते। परस्पर एक दूसरों का सेवन करते हुए मानो दर्शन और चारित्रमोहनीय कर्म का पिंजरा अपने लिये तैयार करते हैं।"

स्वामीजी की गाथा संभवतः आगम के उपर्युक्त भावों पर अवस्थित है।

१—प्रश्न १ : ४ : अबंभं ··· ··· सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स पत्थणिज्जं ··· ··· थीपुरिसणपुंसवेयचिण्हं ··· ··· उड्ढ्ढगरय तिरियतिलोक-पइट्ठाणं ··· ··· चिरपरिगयमणुगयं दुरन्तं ··· ···

तं च पुण णिसेवंति सुरगणा सअच्छरा मोहमोहिय मई ... ... मणुयगणा जलयर थलयरखहयरा य मोहपडिबद्ध चित्ता अवितण्हा कामभोग तिसिया तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया गढिया य अइमुच्छिया य अबंभे उस्सण्णा तामसेण अणुम्मुक्का दसणचरित्तमोहस्स पंजरं विव करेंति अण्णोण्णं सेवमाणा।

[८] ढाल गा० ४ :

इसका आधार आगम का निम्न वाक्य है :

"केवली बूया—णिग्गंथे णं इत्थीणं मणोहराइं इंदियाइं आलोएमाणे, णिज्झाएमाणे संतिभेया सन्तिविभंगा जाव धम्माओ भंसेज्जा।"

—आचारांग २ : १५ (चौथे महाव्रत की दूसरी भावना)

—केवली भगवान् कहते हैं—"जो निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों का अवलोकन करता है, निध्यासन करता है, उसकी शान्ति का भंग तथा विभङ्ग होता है और वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।"

[९] ढाल गा० ६-८ :

जब मेघ कुमार ने दीक्षा लेने का भाव प्रगट किया तब उसके माता-पिता ने कहा—"हे पुत्र! तुम्हारी भार्याएँ सदृश शरीर, सदृश त्वचा, सदृश वय तथा सदृश लावण्य-रूप-यौवन और गुणों से युक्त हैं। तू उनके साथ मानुषिक काम-भोग भोगने के बाद फिर प्रव्रज्या ग्रहण करना। यह सुनकर मेघ कुमार बोला—

"माणुस्सगा कामभोगा असुई असासया वंतासवा पित्तासवा खेलासवा सुक्कासवा सोणियासवा दुरुस्सासनीसासा दुरुयमुत्तपुरिसपूय-बहुपडिपुन्ना उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणितसंभवा अधुवा अणितया असासया सडणपडणविद्धंसणधम्मा पच्छा पुरं च णं अवस्सविप्पजहणिज्जा।" —ज्ञाता अ० १ पृ० ५२-५३

—अर्थात् काम-भोगों का आधार स्त्री का शरीर अपवित्र है—अशाश्वत है। वमन का नाला, पित्त का नाला, श्लेष्म का नाला, शोणित का नाला, और बुरे श्वास-निश्वास का नाला है। दुर्गन्धयुक्त मूत्र, विष्टा, पीप से परिपूर्ण है। विष्टा, मूत्र, कफ, पसीना, श्लेष्म, वमन, पित्त, शुक्र, शोणित उस में उत्पन्न होते रहते हैं। यह शरीर अध्रुव है, अनियत है, अशाश्वत है, शटन, पटन और विध्वंस स्वभाव वाला है। पहले या पीछे शरीर का अवश्य नाश होता है।

इसी तरह जब छः राजाओं ने मल्लि कुमारी को पाने के लिए महाराजा कुम्भ पर धावा बोला था तब मल्लिकुमारी ने राजाओं को बुलाकर जो उपदेश दिया वह भी प्राय इन्हीं शब्दों में था। उसने अंत में राजाओं से कहा—

"तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया! माणुस्सएसु कामभोगेसु सज्जह रज्जह गिज्झह मुज्झह अज्झोववज्जह"

—ज्ञाता अ० ८ पृ० १५४

—मानुषिक कामभोगों की संगति मत करो, उन में राग मत करो, उसमें गृद्ध मत होओ। उनमें मोह मत करो। उनका अध्यवसाय-चिंतन मत करो।

स्वामीजी ने प्रस्तुत गाथाओं में जो बात कही है उसका आधार 'ज्ञाता धर्म सूत्र' के उपर्युक्त स्थल हैं अथवा अन्य आगमों के ऐसे ही स्थल।

[१०] ढाल गा० ९ का उत्तरार्द्ध :

राजीमती और रथनेमि की घटना के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २०

[११] ढाल गाथा १० :

रूपी राय की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २१

[१२] ढाल गा० ११-१२ :

एलाची पुत्र की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २२

[१३] ढाल गा० १३ :

मणिरथ मदनरेखा की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २३

[१४] ढाल गा० १४ :

अरणक की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २४

[१५] गा० १६ का पूर्वार्द्ध :

नारी के रूप की कथा सुनकर भ्रष्ट होनेवाले व्यक्तियों के कुछ उदाहरण तीसरी ढाल के विवेचन में आ चुके हैं।

[१६] ढाल गा० २१ का पूर्वार्द्ध :

इस विषय में 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र में कहा है :

"तइयं नारीणं हसिय भणियं चेट्ठियविपेक्खेयगइ विलास कीलियं विब्बोइयणट्टगीय वाइय सरीर संठाण वण्णकर चरणणयण लावण्ण रूव जोव्वण पयोहराधर वत्थालकारभूसणाणि य गुज्झोवगासियाइं अण्णाणि य एवमाइयाइं तवसंजम बंभचेरघाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं न चक्खुसा ण मणसा ण वयसा पत्थेयव्वाइं पावकम्माइं।" —प्रश्न० २·४ तीसरी भावना

अर्थात्—स्त्री का हास्य, विकारयुक्त वचन, चेष्टा, नजर, गति, विलास, क्रीड़ा, बिब्बोक, नृत्य, गीत, बाजा बजाना, शरीर की बनावट, रंग-रूप, हाथ, पैर, नेत्र, लावण्य, आकार, यौवन, स्तन, अधर, वस्त्र, अलंकार, सजावट, गुह्य अंग तथा इसी प्रकार की अन्य पाप जनक वस्तुएँ, जो तप-संयम तथा ब्रह्मचर्य का पूर्ण या आंशिक रूप से घात करती हों, ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने वाले को नयन, मन, और वचन से त्याग देनी चाहिये।

"एवं इत्थीरूवविरइसमिइ जोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण विरय गाम धम्मे जिइन्दिए बंभचेर गुत्ते।"

—प्रश्न० २·४ तीसरी भावना

अर्थात्—इस प्रकार स्त्री रूपविरति-समिति के योग से भावित अंतरात्मा ब्रह्मचर्य में आसक्त, इन्द्रियों की लोलुपता से रहित, जितेन्द्रिय तथा ब्रह्मचर्य गुप्ति से युक्त होता है।

पांचवीं वाड़

ब्रह्मचारी ने रहिवों नहीं, सब्द पड़े तिहां कान

ढाल : ६

दुहा

१—भीत परेच ताटी आंतरं,
जिहां रहिता हुवें नर नार।
तिहां ब्रह्मचारी नें रहिवों नहीं,
ए जिण कही पांचमीं वाड़ ॥

१—ब्रह्मचारी को उस स्थान पर नहीं रहना चाहिए जहाँ दीवार, पर्दा या टाटी की ओट में स्त्री-पुरुष रहते हों। जिन भगवान् ने पाँचवी वाड़ यही कही है।

२—संजोगी पासें रहें,
ब्रह्मचारी दिन रात।
तेह तणा सब्द सुण्यां,
हुवें वरत नी घात ॥

२—यदि ब्रह्मचारी रात-दिन संयोगी के पास रहता है तो उसके शब्दों को सुनने से उसके ब्रह्मचर्य-व्रत की घात होती है।

३—जेवर नेउर खलकती,
ते सब्द पड़ें तिहां कांन।
जब चल जाएं ब्रह्म वरत थी,
लागें विषें सूं ध्यांन ॥

३—जब जेवर और नुपूर की आवाज करती हुई स्त्री चलती है तो उसके शब्द ब्रह्मचारी के कान में पड़ते हैं, जिससे वह ब्रह्मचर्य व्रत से विचलित हो जाता है और उसका ध्यान विषय में लग जाता है।

ढाल

[आनन्द समकित उच्चरे रे लाल]

१—वाड़ सुणों हिवें पांचमीं रे लाल,
सील तणी रुखवाल। ब्रह्मचारी रे।
ज्यूं वरत कुसलें रहें तांहरों रे लाल,
वले नावें अछतो आल। ब्रह्मचारी रे।
वाड़ सुणों हिवें पांचमीं रे लाल ॥

१—हे ब्रह्मचारी! अब तुम पाँचवीं वाड़ सुनो, जो शील-रक्षा की हेतु है, जिससे कि तुम्हारा व्रत कुशल रह सके और तुम पर झूठा कलंक न आये।

२—भीत परेच ताटी आंतरें रे लाल,
अस्त्री पुरप रहिता हुवें रात । ब्र० ।
तिहां कुण २ दोपण उपजें रे लाल,
ते सांभलजे चितलाय । ब्र० बा०॥

२—जहाँ पर्दा या टाटी की ओट में स्त्री-पुरुष रात में रहते हों वहाँ रहने से कौन-कौन से दोप उत्पन्न होते हैं, उसका वर्णन करता हूँ। ध्यान-पूर्वक सुनो।

३—केल करें निज कंत सूं रे लाल,
ते बोलती जगावें छें कांम । ब्र० ।
कुई सब्द करें तिहां रे लाल,
रुदन सब्द करें तिण ठांम । ब्र० बा०॥

३—स्त्री अपने प्रियतम से क्रीड़ा करती है और शब्दों से उसे कामोत्तेजित करती है। वह कभी *कूजित-शब्द करती है और कभी रुदन-शब्द।*

४—कोयल जिम बोलें कंत सूं रे लाल,
गावें मधुरें साद । ब्र० ।
काम वसें हसि २ हसें रे लाल,
बोलती करें उनमाद । ब्र० बा०॥

४—वह कभी कोयल की तरह मधुर आलाप करती है और कभी मधुर-शब्दों में गाती है। काम के वशीभूत होकर वह कभी अट्टहास करती है और कभी मदमत्त शब्द बोलती है।

५—वले थणित क्रंदित सब्द तिहां रे लाल,
वले विलपति सब्द हुवें तांम । ब्र० ।
तिहां रहितां एहवा सब्द सांभलें रे लाल,
जब चल जाअें तुरत परिणांम * । ब्र० बा०॥

५—इसी प्रकार वहाँ स्थभित, क्रन्दित और विलापात के शब्द होते हैं। ऐसे स्थान पर रहने से ब्रह्मचारी के कानों में उपर्युक्त शब्द पड़ते हैं और उसके भाव विचलित हो जाते हैं।

६—गाज तणों सब्द सुणी रे लाल,
रित पांमें पपहीया मोर । ब्र० ।
ज्यूं भोग समें रा सब्द सांभल्यां रे लाल,
लागें वरत नें खोड । ब्र० बा०॥

६—जिस प्रकार घन-गर्जन सुनकर मोर और पपीहा रति को प्राप्त करते हैं; उसी प्रकार भोग-समय के कामोद्दीपक शब्दों को सुनने से व्रत में दोप लगता है।

७—इम सांभल नें रहिवो नहीं रे लाल,
सब्द पड़ें तिहां कांन । ब्र० ।
ए पांचमी बाड़ सुध पालीयां रे लाल,
पांमें सुगति निधांन । ब्र० बा०॥

७—यह सुनकर, जहाँ कानों में शब्द पड़ने की संभावना हो वहाँ ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए। *जो इस पाँचवी बाड़ को शुद्ध रूप से पालन करता* है वह परम गति मोक्ष को पाता है।

टिप्पणियाँ

[१] ढाल दोहा १ :

स्वामीजी की यह व्याख्या आगमों के निम्नलिखित वाक्यों पर आधारित है :

तम्हा खलु नो निग्गंथे कुड्डंतरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तंतरंसि वा कुइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कंदियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा।

—उत्त० १६ : ५

—टाटी, पर्दे, भीत आदि की ओट में रहकर निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मधुर ध्वनि, रुदन, गीत, हास्य, विलास और विषय-प्रेम के शब्दों को न सुने। यही बात 'उत्तराध्ययन सूत्र' में अन्यत्र भी कही गयी है :

कूइयं रुइयं गीयं हसियं थणियकन्दियं।
बम्भचेररओ थीणं सोयगेज्झं विवज्जए॥

—उत्त० १६ : ५

[२] ढाल गा० ५ :

स्वामीजी को इस गाथा का आधार आगम के निम्नलिखित वाक्य हैं :

निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तंतरंसि वा कुइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा

—उत्त० १६ : ५

—जो ब्रह्मचारी टाटी, परदे, भीत आदि की ओट में रहकर स्त्रियों के कूजन, रुदन, गीत, हास्य, विलास, क्रन्दन, विलापादि के शब्द सुनता है, उसके मन में ब्रह्मचर्य के प्रति शंका उत्पन्न होती है। वह अब्रह्मचर्य की आकांक्षा करने लगता है। ब्रह्मचर्य का पालन करूं या नहीं, उसके मन में ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य का भेद होता है। उन्माद और दीर्घकालिक रोगांतक होते हैं और वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

छठी बाड़

खाधों पीधों विलसीयों, ते मत याद अणाय

ढाल ७ :

दुहा

१—हिवें छठी बाड़ में इम कह्यो,
चंचल मन म डिगाय।
खाधों पीधों विलसीयों,
ते मत याद अणाय॥

१—छठी बाड़ में ऐसा कहा गया है कि तुम अपने चंचल मन को मत डुलाओ। पूर्व सेवित खान-पान, भोग-विलास का स्मरण मत करो।

२—मन गमता भोग भोगव्या,
ते याद कीयां गुण नांहि।
ए बाड़ भांग्यां वरत खंड हुवें,
वले अजस हुवें लोक मांहि ' ॥

२—पूर्व में भोगे हुए भोगों के स्मरण करने में कोई हित नहीं है। इस बाड़ का भंग करने से ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित होता है और लोगों में अपयश फैलता है।

ढाल

[रे जीव मोह अनुकम्पा नांणीए]

१—हाव भाव सब्द नारी तणा,
त्यां सुणीयां वधे विषें विकार रे।
एहवा सब्द आगें सुणींया हुवें,
त्यांनें याद न करणा लिगार रे।
छठी बाड़ सुणो ब्रह्मचर्य नीं॥

१—स्त्रियों के हाव-भाव पूर्ण शब्दों के श्रवण से विषय-विकार बढ़ता है। पूर्व में इस प्रकार के सुने हुए शब्दों का जरा भी स्मरण न कर।
हे ब्रह्मचारी ! ब्रह्मचर्य की छठी बाड़ सुनो।

२—वर्ण गोरादिक सरीर नों,
रूप सोभायमांन अतंत रे।
एहवी अस्त्री सूं भोग भोगव्या,
चीतारें नहीं वरतवंत रे ॥छ०॥

२—गौरादि वर्ण से युक्त अति सुषमासंपन्न रूपवती स्त्री से भोगे हुए भोगों को व्रतधारी स्मरण न करे।

३—गंध चोवा नें चंदणादिक,
रस मधुरादिक अनेक रे।
ते पिण अस्त्री संघातें भोगव्या,
ते पिण याद न करणों एक रे ॥छ०॥

३—स्त्री के साथ सेवित चोवा, चन्दन आदि अनेक सुगन्धित द्रव्यों की गन्ध एवं विविध मधुर रसों का स्मरण ब्रह्मचारी को नहीं करना चाहिए।

४—हाथ पग सुखमाल नारी तणा,
सुखमाल सरीर सुख दाय रे।
एहवी अस्त्री सूं कीला करी,
ते चीतारें नहीं मन मांय रे ।।छ०।।

४—हाथ-पांव से सुकुमार कोमलांगी तथा सुख-स्पर्श-वाली स्त्री से पूर्व में की गई क्रीड़ा का मन में चिंतन नहीं करना चाहिए।

५—सब्द रूप गन्ध रस नें फरस,
पांच परकार नां कांम भोग रे।
ते तो अस्त्री संघातें भोगव्या,
त्यांनें याद करणा नहीं जोग रे ।।छ०।।

५—स्त्री के साथ भोगे गये शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पांच प्रकार के काम-भोगों का स्मरण करना उचित नहीं।

६—रम्या सारी पासा सोगटादिक,
जूवटादिक रांमत अनेक रे।
ते अस्त्री संघाते रांमत करी,
त्यांनें याद न करणी एक रे [१]।

६—स्त्री के साथ खेले गये सार-पासा, सोंगटा, जुवा आदि अनेक खेलों का भी स्मरण नहीं करना चाहिए।

७—सब्द सुणीयां भांगे बाड़ पांचमीं,
रूप सूं चोथी बाड़ विगाड रे।
फरस सूं भांगे बाड़ तीसरी,
अस्त्री कथा सूं दूजी बाड़ रे ।।छ०।।

७—कामोद्दीपक शब्द सुनने से पांचवीं बाड़, रूप देखने से चौथी बाड़, स्पर्श से तीसरी बाड़ तथा स्त्री-कथा से दूसरी बाड़ भङ्ग होती है।

८—एक याद करें यां मांहिलों,
तिण सूं भांगें छठी बाड़ रे।
तो सगलाई याद कीयां थकां,
ब्रह्म वरत नें हुवें विगाड रे ।।छ०।।

८—पूर्व में भोगे हुए शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि में से एक का भी स्मरण करने से छठी बाड़ भङ्ग हो जाती है। इन सब को याद करने से ब्रह्मचर्य-व्रत को क्षति पहुंचती है।

९—मन गमता कांम भोग भोगव्या,
तिण सूं हरपत हुवें संभाल रे।
तिण बाड़ सहीत वरत खंडीया,
पांणी किम रहें फूटां पाल रे [२] ।।छ०।।

९—पूर्व में भोगे हुए मनोरम काम-भोगों को याद कर जो हर्षित होता है उसने बाड़ सहित ब्रह्मचर्य-व्रत का खण्डन किया है। बांध के टूट जाने पर पानी कैसे रुका रह सकता है? उसी प्रकार बाड़ के खण्डित होने पर ब्रह्मचर्य-व्रत कैसे सुरक्षित रह सकता है?

१०—पूर्वला कांम भोग चीतार नें,
कीधीं रेंणा देवी सूं पीत रे।
जब जिन रिप नें जप न्हांखीयों,
रेंणा देवी मार्यो वेंरीत रे [३] ।।छ०।।

१०—जिनरिख ने पूर्व में भोगे हुए काम-भोगों का स्मरण कर रयणादेवी से प्रीति की। इससे यक्ष ने उसको अपनी पीठ से फेंक दिया और रयणादेवी ने उसको बुरी तरह से मार डाला।

११—जहर सहीत चास पीये चालीयां,
त्यांरो वांकोई न हुवों बाल रे।
त्यांनें घणां वरसां पछें कह्यो,
तिण सूं मरण पांम्यो ततकाल रे [५] ॥छ०॥

११—वृद्धा के पुत्र ने विष युक्त छाछको पीकर प्रस्थान किया किन्तु उसका बाल भी बाँका न हुआ। पर, बहुत वर्षों के बाद जब छाछ में जहर होने की बात उसे बताई गई तब स्मरण मात्र से उसके शरीर में तुरंत विष व्याप्त हो गया और वह मर गया।

१२—भाई नें पवन झूंब्यों देखनें,
भाई नें न जणार्यो ताय रे।
जणार्यो जिण दिन धसकों पड़ें,
ततकाल छोडी तिण काय रे [६] ॥छ०॥

१२—भाई को सर्प ने डँस लिया, यह देखकर भी उसने अपने भाई को इसकी सूचना नहीं दी। जिस दिन उसको सर्पदंश की जानकारी दी गई, आघात के कारण उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।

१३—ए मूंआ जहर याद अणावीयां,
पांमी अणचिंतवी असमाध रे।
ज्यूं भांगे ब्रह्मचारी सील सूं,
कांम भोग नें कीधां याद रे ॥छ०॥

१३—जहर की याद दिलाने से अचानक असमाधि को प्राप्त कर उन लोगों की मृत्यु हो गई। इसी तरह काम-भोगों का स्मरण करने से ब्रह्मचारी शील से दूर हो जाता है।

१४—कांम भोग नें याद कीयां थकां,
संका कंखा उपजें मन मांय रे।
सील पालूं के पालूं नहीं,
चले जावक पिण भिष्ट थाय रे [७] ॥छ०॥

१४—काम-भोगों को याद करने से मन में शंका, कांक्षा, शील का पालन करूँ या नहीं—ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है और फिर वह अपने व्रत से समूल भ्रष्ट हो जाता है।

१५—इम सांभल नें नर नारीयां,
मत लोपो छठी बाड़ रे।
तो सील वरत सुध नीपजें,
तिण सूं हुवें खेवो पार रे [८] ॥छ०॥

१५—हे स्त्री-पुरुषो ! उपर्युक्त बातों को सोचकर छठी बाड़ का उल्लंघन मत करो। ऐसा करने से शुद्ध शीलव्रत निष्पन्न होगा जिससे तुम्हारा बेड़ा पार हो जायगा।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १-२ :

स्वामीजी की इस छठी बाड़ की व्याख्या का आधार आगम के निम्न स्थल हैं :

नो निग्गंथे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ

—उत्त० १६ : ६

—निर्ग्रन्थ स्त्री के साथ भोगी हुई पूर्व रति और पूर्व क्रीड़ा का स्मरण न करे।

हासं किड्डं रइं, दप्पं, सहसावित्तासियाणि य ।
बम्भचेररओ थीणं नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥

—उत्त० १६ : ६

—ब्रह्मचारी गृहस्थ-जीवन में स्त्री के साथ भोगे हुए भोग, हास्य, क्रीड़ा मैथुन, दर्प, सहसा वित्रासन आदि के प्रसंगों का कभी भी स्मरण न करे।

पुव्वरयाइं पुव्व कोलियाइं सरमाणे संलिभेदा सन्तिविभंगा संति-केवलीपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

—आचाराङ्ग २ : ४-३

पूर्वरत, पूर्व-क्रीड़ित भोगों का स्मरण करने से शान्ति का भङ्ग होता है, उसका विभङ्ग होता है और निर्ग्रन्थ केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

[२] ढाल गा० १-६ :

इन गाथाओं का आधार निम्न आगम स्थल लगता है :

चउत्थ पुव्वरय पुव्व कीलिय पुव्व संगंथ गंथ संथुया जे ये आवाह विवाह चोल्लगेसु य तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य सिंगारागार चारुवेसाहिं हाव-भाव पललिय विक्खेव विलास सालिणीहिं अणुकूल पेम्मिगाहिं सद्धिं अणुभुया सयण संपओगा उउसुह वर कुसुम सुरभि चन्दन सुगन्धिवर वास धूव सुह फरिस वत्थ भूसण गुणोववेया रमणिज्जा उज्जगेय पउर णडणट्टग जल्ल मल्ल मुट्ठिग वेलंवग कहग पव्वग लासग आइक्खगलंखमंख तूणइल्लतुम्ब वीणिय तालायरपकरणाणि य वहूणि महुरसरगीय सुस्सराइं अण्णाणि य एवमाइयाणि तवसंजमबंभचेरघाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं बंभचेरं ण ताइं समणेण लब्भा दट्ठुं ण कहेउं ण वि सुमरिउं।

—प्रश्न० २ : ४ चौथी भावना

पहले (गृहस्थ अवस्था में) भोगे हुए काम-भोगों का, पहले की हुई क्रीड़ाओं का, पहले के श्वसुर आदि सम्बन्धियों का, अन्यान्य सम्बन्धियों का तथा परिचित जनों का स्मरण नहीं करना चाहिए। आवाह (वधू का आगमन) विवाह और बालक के चूड़ाकर्म के अवसर पर, विशिष्ट तिथियों में, यज्ञ (नाग पूजा आदि) तथा उत्सव (इन्द्रोत्सव आदि) के प्रसंग पर शृंगार से सजी हुई सुन्दर वेष वाली स्त्रियों के साथ, हाव भाव, ललित विक्षेप, विलास से सुशोभित, अनुकूल प्रेमिकाओं के साथ पहले जो शयन या सान्निध्य किया हो उसका स्मरण नहीं करना चाहिए।

ऋतु के अनुकूल सुन्दर पुष्प, सुरभित चन्दन, सुगन्धित द्रव्य, सुगन्धित धूप, सुखद स्पर्शवाले वस्त्र, आभूषण आदि से सुशोभित स्त्रियोंके साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना चाहिए।

रमणीय वाद्य, गीत, नट, नर्तक (नाटक), जल्ल (रस्सी पर खेल करनेवाला नट), मल्ल, मुष्टिक (मुष्टी से कुस्ती करनेवाला मल्ल), विदूषक, कथाकार, तैराक, रास करनेवाले-भाण्ड, शुभाशुभ वताने वाले आख्यायक, लंख (बड़े बाँस पर खेल करने वाले), मंख (चित्र दिखाकर भीख मांगने-वाले), तुम्बा वजाने वाले, ताल देने वाले, प्रेक्षक इन सब की क्रियाओं को, भाँति-भाँति के मधुर स्वर से गाने वालों के गीतों को, तथा इनके अतिरिक्त तप-संयम-ब्रह्मचर्य का एक देश या सर्व देश से घात करनेवाले व्यापारों को, ब्रह्मचर्य की आराधना करनेवाला पुरुष त्याग दे। वह न कभी इनका कथन करे, न स्मरण करे।

[३] ढाल गा० ७-८-६ :

इन गाथाओं में छठी बाड़ का पूर्व बाड़ों के साथ क्या सम्बन्ध है यह बताया गया है। पाँचवी बाड़ में कामोत्तेजक शब्द सुनने की मनाही है, चौथी बाड़ में रूप निरीक्षण की मनाही है, तीसरी बाड़ में स्पर्श की मनाही है, दूसरी बाड़ में स्त्री-कथा की मनाही है। इस छठी बाड़ में स्त्री के सुने हुए कामोद्दीपक शब्द को स्मरण करने, जो रूप देखा हो उसका स्मरण करने, जो स्पर्श आदि भोग भोगे हों उनका स्मरण करने, जो स्त्री-कथायें सुनीं हों उनका स्मरण करने की मनाही है। इन में से एक का भी स्मरण करना छठी बाड़ का भङ्ग करना है। जो पूर्व में सेवन की गई सारी बातों का स्मरण करता है, उसका ब्रह्मचर्य व्रत विनष्ट हो जाता है।

[४] ढाल गा० १० :

जिनरिख और रयणादेवी की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २५

[५] ढाल गा० ११ :

विष मिश्रित छाछ पीनेवाले की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २६

[६] ढाल गा० १२ :

सर्प दंशित व्यक्ति की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २७

[७] ढाल गा० १४ :

इस गाथा का आधार सूत्र के निम्न लिखित वाक्य हैं :

निग्गंथस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

—उत्त० १६ : ६

—*पूर्वरत पूर्व क्रीडित काम भोगों के स्मरण से ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में शंका, अब्रह्मचर्य की आकांक्षा तथा ब्रह्मचर्य का पालन करूँ या नहीं* ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य का भङ्ग होता है। उन्माद उत्पन्न होता है तथा दीर्घकालीन रोगांतक होते हैं और वह केवली प्रणीत धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

[८] ढाल गा० १५ :

इस गाथा का भाव आगम के निम्न वाक्यों से मिलता है :

जे एवं पुव्वरय पुव्व कीलिय विरइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण विरय गाम धम्मे जिइन्दिए बंभचेरगुत्ते।

प्रश्न० २ : ४ चौथी भावना।

—इस प्रकार पूर्व-रत, पूर्व-क्रीडित विरति समिति के योग से भावित अन्तर आत्मावाला ब्रह्मचर्य में रत, इन्द्रिय लोलुपता से रहित, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य-गुप्तिवाला होता है।

सातमीं बाड़

नित नित अति सरस आहार नें वरज्यों सातमीं बाड़

ढाल ८

दुहा

१—नित नित अति सरस आहार नें,
वरज्यों सातमीं बाड़ ।
ते ब्रह्मचारी नित भोगवें,
तो वरत नें हुवें विगाड [1] ॥

१—सातवीं बाड़ में ब्रह्मचारी को नित्य प्रति अति सरस आहार करने का वर्जन किया है। प्रतिदिन सरस आहार के उपभोग से ब्रह्मचर्य व्रत को क्षति पहुंचती है।

२—घ्रतादिक सूं पूरण भर्यो,
एहवों भारी आहार ।
ते धातू दीपावें अति घणीं,
तिण सूं वधें छें विकार [2] ॥

२—घृतादि से परिपूर्ण गरिष्ठ आहार अत्यधिक धातु-उद्दीपन करता है, जिससे विकार की वृद्धि होती है।

३—खाटा खारा चरचरा,
वले मीठा भोजन जेह ।
वले विविध पर्णे रस नीपजें,
ते रसना सब रस लेह ॥

३—खट्टे, नमकीन, चरपरे और मीठे भोजन तथा जो विविध प्रकार के रस होते हैं, उनका जिह्वा आस्वाद लेती है।

४—जेहनीं रसना बस नहीं,
ते चाहें सरस आहार [3] ।
ते वरत भांगे भागल हुवें,
खोवें ब्रह्म वरत सार [4] ॥

४—जिसकी रसना वश में नहीं, वह सरस आहार की चाह करता रहता है। परिणाम स्वरूप व्रत का भंग करके वह भ्रष्ट होता है और सारभूत ब्रह्मचर्य व्रत को खो देता है।

ढाल

[हूं तो करुं साध ने वंदना]

१—कवलां करें आहार उपारतां,
घ्रत विन्दू झरतीं आहार भारी रे ।
एहवो आहार सरस चांप २ नें,
नित २ न करें ब्रह्मचारी रे [5] ।
ए बाड़ म लोपो सातमीं ॥

१—ग्रास उठाते समय जिससे घृत विन्दु झर रहे हों, ऐसा सरस आहार ब्रह्मचारी नित्य प्रति ठूँस-ठूँस कर न करे।

हे ब्रह्मचारी ! तू इस सातवीं बाड़ का लोप न कर।

१६—सरस आहार तो जीहांई रह्यों,
लूखोई पिण आहारो रे।
चांप चांप दिन प्रतें करणों नहीं,
ते कहिसूं आठमीं वाड़ो रे॥ए०॥

१६—सरस आहार तो दूर रहा बल्कि रूखा आहार भी ठूँस-ठूँस कर नित्य प्रति नहीं करना चाहिए। आठवीं बाड़ में मैं यही बताऊँगा।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

इस दोहे में स्वामीजी ने सातवीं बाड़ का स्वरूप बताया है। इस सातवीं बाड़ में ब्रह्मचारी के लिए सरस आहार वर्जनीय है। इसका आधार निम्न आगम वाक्य है :

नो निग्गंथे पणीयं आहारं आहरेज्जा।

—उ० १६ : ७

—निर्ग्रंथ प्रणीत आहार का सेवन न करे।

'प्रणीत' शब्द का अर्थ है जिससे घृत-बिन्दु झर रहे हों ऐसा आहार। उपलक्षण रूप से धातु को अत्यन्त उत्तेजित करनेवाले अन्य आहार भी प्रणीत आहार में समाविष्ट हैं[१]।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि ब्रह्मचारी सर्व प्रकार के कामोत्तेजक आहार-पान का परिवर्जन करे। स्वामीजी ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्मचारी नित्य-प्रति ऐसा आहार न करे। यदा-कदा सरस आहार करने का प्रसंग उपस्थित हो तो अति मात्रा में उसका सेवन न करे।

[२] दोहा २ :

ब्रह्मचारी के लिए स्निग्ध सरस आहार क्यों वर्जनीय है, इसका कारण इस दोहे में बताया गया है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है :

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

— उत्त० १६ : ७

—प्रणीत आहार कामोद्रेक—विषय-वासना को शीघ्र उत्तेजित करनेवाला होता है। अतः ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु ऐसे भोजन-पान से सर्वदा दूर रहे।

स्वामीजी के प्रस्तुत दोहे का आधार 'उत्तराध्ययन सूत्र' का उपर्युक्त श्लोक ही है।

'दसवैकालिक सूत्र' में कहा है :

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीअं रसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥

—दस० ८ : ५७

—प्रणीत रसयुक्त भोजन, विभूषा और स्त्री-संसर्ग आत्म-गवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष की तरह है।

घृतादि से परिपूर्ण आहार स्निग्ध—भारी होता है। स्निग्ध आहार धातु को दीप्त करता है। धातु के दीप्त होने से मनोविकार बढ़ता है। मनोविकार बढ़ने से अंग-कुचेष्टा होती है। इससे मनुष्य भोग में प्रवृत्त होता है। इस तरह वह बहुमूल्य ब्रह्मचर्य व्रत को नष्ट कर डालता है।

१—उत्त० १६ : ५ की नेमि० टी० पृ० २२१ : नो 'प्रणीतं' गलद्बिन्दु, उपलक्षणत्वाद् अन्यमप्यत्यन्तं धातूद्रेककारिणम् आहारम् आहारयिता भवति यः स निर्ग्रन्थः।

[३] दोहा ३-४ :

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है—"जिह्वा रस की ग्राहक है और रस जिह्वा का ग्राह्य है। अमनोज्ञ रस द्वेष का हेतु और मनोज्ञ रस राग का हेतु होता है [1]।"

अम्ल, मधुर, कटुक, कसैला और तिक्त ये पाँच रस हैं। जिह्वा इन सब रसों की ग्राहक है। जिसकी जिह्वा संयमित नहीं होती वह स्वादिष्ट रसों की कामना करता है। जो स्वादिष्ट रसों का नित्य प्रति अथवा अतिमात्रा में सेवन करता है उसके कामोद्रेक हो ब्रह्मचर्य का नाश होता है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है :

रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥

—उत्त० ३२ : १०

—दूध, दही, घी आदि स्निग्ध और खट्टे, मीठे चरपरे आदि रसों से स्वादिष्ट पदार्थों का ब्रह्मचारी बहुधा सेवन न करे। ऐसे पदार्थों के आहार-पान से वीर्य की वृद्धि होती है—वे दीप्तिकर होते हैं। जिस तरह स्वादुफल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दल के दल उड़ते चले आते हैं, उसी तरह वीर्य से दीप्त पुरुष को काम सताने लगता है।

[४] दोहा ४ का उत्तरार्द्ध :

स्वामीजी के इन भावों का आधार 'उत्तराध्ययन सूत्र' के निम्न वाक्य हैं :

निग्गन्थस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। — उत्त० १६ : ७

—प्रणीत आहार करनेवाले ब्रह्मचारी के मन में ब्रह्मचर्य के प्रति शंका होने लगती है। वह अब्रह्मचर्य की आकांक्षा करने लगता है। उसे विचिकित्सा उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य से उसका मन-भङ्ग हो जाता है। उसे उन्माद हो जाता है। दीर्घकालिक रोगातंक होते हैं और वह केवली प्ररूपित धर्म से गिर जाता है।

[५] ढाल गा० १ :

स्वामीजी ने यहाँ जो कहा है उसका आधार 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' के निम्न स्थल में मिलता है :

पंचमगं आहारपणीयणिद्ध भोयण विवज्जए संजए सुसाहू ववगयखीरदहिसप्पिणवणीयतेल्ल गुलखंड मच्छंडिग महुमज्ज मंसखज्जग विगइ परिचियकयाहारे ण दप्पणं ··ण य भवइ विब्भमो ण भंसणा य धम्मस्स। एवं पणीयाहार विरइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण विरय गामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते।

—प्रश्न० २ : ४ पाँचवीं भावना।

—संयमी सुसाधु प्रणीत और स्निग्ध आहार के सेवन का विवर्जन करे। ब्रह्मचारी दूध, दही, घी, नवनीत, तैल, गुड़, खाण्ड, शक्कर, मधु, मद्य, मांस, खाजा आदि विकृतियों से रहित भोजन करे। वह दर्पकारी आहार न करे।

संयमी को वैसा आहार करना चाहिए जिससे संयम-यात्रा का निर्वाह हो, मोह का उदय न हो और ब्रह्मचर्य धर्म से वह न गिरे।

इस प्रकार प्रणीत-आहार समिति के योग से भावित अंतरात्मा ब्रह्मचर्य में आसक्त मनवाला, इन्द्रिय विषयों से विरत, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य में गुप्त होता है।

१—उत्त० ३२ : ६२

रसस्स जिब्भं गहणं वयंति, जिब्भाए रसं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

[६] ढाल गा० २-७ :

स्वामीजी ने इन गाथाओं में सरस आहार का दुष्परिणाम बताया है। व्यक्ति चार तरह के हो सकते हैं। एक युवक और शरीर से स्वस्थ, एक युवक पर शरीर से जीर्ण, एक वृद्ध पर शरीर से स्वस्थ और एक वृद्ध तथा शरीर से अस्वस्थ।

स्वामीजी कहते हैं : स्वस्थ युवक जब सरस आहार करता है तो उसे शीघ्र पचा डालता है। आहार का परिणमन अच्छी तरह होने से इन्द्रियों का बल बढ़ता है। शरीर में कामोद्रेक होता है। अंगों में कुचेष्टा उत्पन्न होती है। अंग-कुचेष्टा के कारण मनुष्य ब्रह्मचर्य से पतित हो जाता है। इससे रोग उत्पन्न होते हैं। परलोक में भी वह संताप को प्राप्त होता है।

तरुण वय में या वृद्धावस्था में जब शरीर स्वस्थ नहीं होता तब किया हुआ आहार हजम न होने से अजीर्णादि रोगों को उत्पन्न करता है। इससे अकाल में ही उसकी मृत्यु होती है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है :

रसेसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे॥

—उत्त० ३२ : ६३

जिस तरह रागातुर मछली—आमिष की गृद्धि के वश काँटे से बिंधी जाकर अकाल में मरण को प्राप्त होती है, उसी तरह जो रस में तीव्र गृद्धि रखता है, वह अकालमें ही विनाश को प्राप्त होता है।

स्वामीजी कहते हैं—जब सरस आहार से तरुण की ऐसी हालत होती है, तब वृद्ध की इससे भी बुरी हालत हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या? सरस आहार से उसके शारीरिक कष्टों का कोई पार नहीं रहता।

स्वामीजी कहते हैं—जो प्रतिदिन सरस आहार करता है वह अकाल में मृत्यु प्राप्त करता है, धर्म को खोता है और इससे अनन्त संसारी होता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य का भङ्ग कर वह अनन्त काल तक जन्म-मरण करता है।

[७] ढाल गा० ८ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्न आगम वाक्य है :

दुद्धदहीविगईओ आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणि त्ति वुच्चई॥

—उत्त० १७ : १५

जो दूध दही आदि विगय का बार बार आहार करता है और तप कर्म से विरत रहता है उसे पापी श्रमण कहा गया है।

[८] ढाल गा० ९ :

भूदेव ब्राह्मण की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २८

[९] ढाल गा० १० :

मंगू आचार्य की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट क कथा २९

[१०] ढाल गा० ११ :

सेलक राजर्षि की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा ३०

[११] ढाल गा० १२ :

कुण्डरीक की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट -क कथा ३१

[१२] ढाल गा० १३ :

'आचाराङ्ग' में लिखा है—

………पणीयरसभोयणभोई य त्ति संतिभेदा संतिविभङ्गा सन्तिकेवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

—आचा० २ : २४ चौथी भावना

—जो भिक्षु प्रणीत रसयुक्त आहार का सेवन करता है उसकी शान्ति का भङ्ग-विभङ्ग होता है और वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

यह स्पष्ट ही है कि जो धर्म से भ्रष्ट होता है वह दुर्लभ मनुष्य-भव को भी खोता है क्योंकि मनुष्य-भव और धर्म इन दोनों का पाना बड़ा ही दुर्लभ है।

[१३] ढाल गा० १४ :

यहाँ पर स्वामीजी ने जो उदाहरण दिया है वह उनकी औत्पत्तिकी वुद्धि का परिचायक है। सन्निपात रोग में दूध और मिश्री का आहार करने से वायु का प्रकोप होजाने से सन्निपात और भी तीव्र हो जाता है, उसी तरह सरस आहार से विकार की विशेष वृद्धि होती है।

आठमीं वाड़

आठमीं वाड़ में इम कह्यों, चांप चांप न करणो आहार

ढाल : ६

दुहा

१—आठमीं वाड़ में इम कह्यों,
चांप २ न करणो आहार।
प्रमांण लोप इधको करें,
तो वरत नें हुवें विगाड [1] ॥

१—आठवीं वाड़ में भगवान् ने कहा है—साधु ठूँस-ठूँस कर आहार न करे। प्रमाण से अधिक आहार करने से व्रत को क्षति पहुँचती है।

२—अति आहार थी दुख हुवें,
गलें रूप बल गात।
परमाद निद्रा आलस हुवें,
वले अनेक रोग होय जात॥

२—अति-आहार से मनुष्य दुःखी होता है। रूप, बल और गात्र क्षीण हो जाते हैं। प्रमाद, निद्रा और आलस्य होते हैं तथा अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

३—अति आहार थी विषें वधें,
घणोंइज फाटें पेट।
धांन अमाउ उरतां,
हांडी फाटें नेट [2] ॥

३—अधिक आहार से विषय-वासना बढ़ती है। जिस प्रकार सेर की हाँड़ी में सवा सेर अनाज डालने से हाँड़ी फूट जाती है, उसी प्रकार अधिक आहार से बुरी तरह पेट फटने लगता है।

४—केई वाड़ लोपे विकल थका,
करसी इधक आहार।
त्यांरें कुण २ ओगुण नीपजें,
ते सुणजो विस्तार॥

४—जो विकल होकर, वाड़ की मर्यादा का उल्लंघन कर, अधिक आहार करते हैं—उनमें किन-किन दुर्गुणों की उत्पत्ति होती है, उसका वृतान्त विस्तारपूर्वक सुनो।

ढाल

[विमल केवली एक रे चम्पा नगरी]

१—भर जोबन रे मांहि रे,
देह निरोगी हुवें।
मांहि तेजस री जोरो घणों ए॥

१—पूर्ण यौवनावस्था में देह निरोग होती है और पाचन शक्ति बलवती होती है।

२—ते चांपे करे आहार रे,
ते पचें सताब सूं।
तो विषे वधें तिण रें घणीं ए॥

२—तब ठूँस-ठूँस कर किया हुआ आहार शीघ्र पचता है जिससे अति विषय-विकार की वृद्धि होती है।

३—जब गमता लागें भोग रे,
ध्यांन माठो रहें।
वले गमतो लागें अस्त्री ए॥

३—विषय-विकार की वृद्धि से भोग अच्छे लगते हैं, ध्यान विकार-ग्रस्त होता है और स्त्री मन को अच्छी लगने लगती है।

४—हूँ सील पालूं के नांहि रे,
ए संका उपजें।
पछें भोग तणी वंछा हुवें ए॥

४—शील का पालन करूँ या नहीं, ऐसी शंका उत्पन्न होती है। फिर भोग की कामना होने लगती है।

५—मोनें लाभ होसी के नांहि रे,
सील वरत पालीयां।
ए पिण सांसों उपजें ए॥

६—जब भिष्ट हुवें वरत भांग रे,
भेष मांहें थकां।
केइ भेष छोडी हुवें गृहस्थी ए॥

५-६—फिर, शीलव्रत के पालन से मुझे लाभ होगा या नहीं, ऐसा संशय उत्पन्न होता है।

इस तरह शंका, कांक्षा, विचिकित्सा उत्पन्न होने से कई वेष में रहते हुए व्रत को भंगकर भ्रष्ट हो जाते हैं और कई साधु का वेष छोड़कर गृहस्थ हो जाते हैं।

७—जे चांपे कीधां आहार रे,
पचें आछी तरें।
तो इसडो अनरथ नीपजें ए [1]॥

७—ठूँस-ठूँस कर आहार करने पर यदि वह अच्छी तरह पचता है तो ऐसा अनर्थ उत्पन्न होता है।

८—के कांरें रे हुवें रोग रे,
आहार इधको कीयां।
वधें असाता वेदनी ए॥

९—फाटें पेट अतंत रे,
बंध हुवें नाड़ीयां।
वले सास लेवें अबखो थको ए॥

८-९—जब ग्रहीत आहार ठीक से नहीं पचता है तो कइयों को रोग आ घेरते हैं। शारीरिक वेदना बढ़ती है। पेट फटने लगता है। नाड़ियों की गति मन्द हो जाती है और श्वास-ग्रहण में कठिनाई होती है।

१०—वले हुवें अजीरण रोग रे,
मुख वासें बुरों।
पेटें फालें आफरो ए॥

१०—फिर अजीर्ण हो जाता है। मुख बुरी तरह बदबू देने लगता है। पेट अफर जाता है।

११—वले उठें उकाला पेट रे,
चालें कलमली।
वले छूटें मुख थूकणी ए॥

११—पेट में जलन होती है। बेचैनी रहने लगती है तथा मुँह से थूक छूटने लगता है।

१२—डील फिरें चकडोल रे,
पित घूमे घणां।
चालें मुजल वले मुलकणी ए॥

१२—पित्त का प्रकोप होता है। सिर में चक्कर आने लगता है। मुंह से जल छूटने लगता है।

१३—आवें माठी घणीं डकार रे,
वले आवें गूचरका।
जब आहार भाग उलटो पड़ें ए॥

१३—खराब डकार और गुचलकियां आने लगती हैं। इससे आहार का भाग कै के द्वारा बाहर आ जाता है।

१४—वले चालें मरोडा पीड रे,
पेट दुखें घणों।
लोही ठांण फेरो हुवें ए॥

१४—पेट में मरोड़े चलने लगते हैं। जोरों का दर्द होता है। खून की दस्तें होने लगती हैं।

१५—वले नाड्यां में हुवें रोग रे,
ते आहार झेलें नहीं।
ज्यूं खाअें ज्यूं नीकलें ए॥

१५—रोगग्रस्त होने से आँतें आहार को ग्रहण नहीं कर सकतीं। खाया हुआ आहार वैसा ही वापिस निकल जाता है।

१६—वले ताव चढ़ें ततकाल रे,
बंध हुवें मातरो।
आहार इधको कीयां थका ए॥

१६—अधिक आहार करने से तत्काल ज्वर चढ़ जाता है। पेशाब बन्द हो जाता है।

१७—घणीं देही पडें कषाय रे,
आहार भावें नहीं।
जब मांस लोही दिन २ घटें ए॥

१७—देह में अत्यन्त पीड़ा हो जाती है। आहार में रुचि नहीं रहती। ऐसी अवस्था में माँस एवं रक्त दिन प्रतिदिन घटने लगते हैं।

१८—खीण पडें जब देह रे,
निबलाई पडें।
हाथ पगां सोजो चढ़े ए॥

१८ जब देह क्षीण हो जाती है, तब शरीर निर्बल हो जाता है। हाथ पैर में सूजन हो जाती है।

१९—जब ठंमे अतीचार रे,
ओषध करें घणां।
दिन २ फेरो इधको हुवें ए॥

१९—इससे अतिसार का प्रकोप हो जाता है। ज्यों-ज्यों औषध की जाती है, त्यों-त्यों दस्तें बढ़ती जाती हैं।

२०—पछें जाबक छूटें अन रे,
चूकें धर्म ध्यान थी।
वले बोलें घणों दयामणो ए॥

२०—ऐसी अवस्था में उससे अन्न सर्वथा छूट जाता है। वह धर्म-ध्यान नहीं कर पाता, आर्त-नाद करने लगता है।

२१—वले हुवें सास नें खास रे,
जलोदर वधें।
सूंन बूंन देही पडे ए॥

२१—तब, श्वास और खांसी के रोग हो जाते हैं, जलोदर बढ़ जाता है। शरीर की सुध-बुध नहीं रहती।

२२—वधें अपचों रोग रे,
आहार पचें नहीं।
ओषध को लागें नहीं ए॥

२२—तब, अपच का रोग बढ़ जाता है। आहार जरा भी नहीं पचता। कोई भी औषधि कारगर नहीं होती।

२३—वले उपजें दाह सरीर रे,
बलण लागी रहें।
पेट सूल चालें घणीं ए॥

२३—शरीर में दाह उत्पन्न होता है। निरन्तर जलन रहती है। पेट में अत्यन्त शूल उठने लगता है।

२४—वेदन हुवें आंख नें कांन रे,
खाज हुवें घणीं।
वले रोग पीतंजर उपजें ए॥

२४—आंख और कान में वेदना होने लगती है। खुजली हो जाती है। पित्त-ज्वर का रोग उत्पन्न होता है।

२५—इत्यादिक बहु रोग रे,
उपजें आहार थी।
कहि २ नें कितरो कहूं ए[४]॥

२५—अधिक आहार से ऐसे अनेक रोग हो जाते हैं। उनका वर्णन कहाँ तक किया जाय ?

२६—ए हुवें आहार थी रोग रे,
जब नांम लें अवर नों।
कूड कपट वधें घणों ए॥

२६—ये समस्त रोग अधिक आहार के सेवन से होते हैं। नाम भले ही कोई दूसरे का ले। इससे कूट-कपट की अत्यन्त वृद्धि होती है।

२७—जे चांपे करें आहार रे,
ग्रिधी पेट रो।
त्यांनें साच बोलणो दोहिलो ए॥

२७—जो पेटू बन, ठूंस-ठूंस कर आहार ग्रहण करता है, उसके लिए सच बोलना दुष्कर हो जाता है।

२८—कोइ साध कहें एम रे,
ओ आहार इधको करें।
वो घणों कूडें तिण उपरें ए॥

२८—कोई साधु यदि कहता है कि अमुक साधु अधिक आहार करता है तो उसकी बात सुनकर वह उस पर अत्यन्त चिढ़ने लगता है।

२९—जो मिलनें कहें अनेक रे,
तूं आहार घणों करें।
वो ही कह्यों न मानें केहनों ए॥

२९—अगर सब मिलकर भी उसे कहें कि तू अधिक आहार करता है तो भी वह किसी की कुछ नहीं मानता।

३०—केइ पूरण भरें नित पेट रे,
इधको चांप नें।
जब पांणी पूरो मावें नहीं ए॥

३०—कोई प्रति दिन चांप-चांप कर अधिक खाता है और पूरा पेट भर लेता है यहाँ तक कि पेट में पानी के लिए भी जगह नहीं रह जाती।

३१—जब तिरषा लागें अतंत रे,
पेट फाटें घणों।
जब टलवलाट करें घणों ए॥

३१—जब जोरों की प्यास लगने लगती है और पेट फटने लगता है, तब वह कराहने लगता है।

३२—वले खाअें आंवला डील रे,
जक नहीं तेहनें।
अजक घणीं वले जेहनें ए॥

३२—शरीर लोट-पोट होने लगता है। उसको जरा भी चैन नहीं पड़ती। उसे अत्यन्त बेचैनी रहती है।

३३—इसडी पडें विपत रे,
तो ही ग्रिधी पेट रो।
निज अवगुण छोडें नहीं ए॥

३३—इस प्रकार की विपत्ति पड़ने पर भी अधिक आहार का गृद्ध अपने अवगुण को नहीं छोड़ता।

३४—जब रोग पीडलें आंण रे,
मरें माठी तरें।
श्री जिण धर्म गमाय नें ए॥

३४—जब रोग शरीर को घर दबाते हैं, तब श्री जिनेश्वर देव के धर्म को खोकर वह बुरी तरह से मरता है।

३५—पछें च्यारूं गति रे मांहि रे,
भ्रमण करें घणों।
अनंत काल दुःख भोगवें ए॥

३५—फिर वह चारों गतियों में परिभ्रमण करता है और अनन्त काल तक दुःख उठाता रहता है।

३६—कूंडरीक रे उपनों रोग रे,
आहार इधको कीधां।
ते मरनें गयों नरक सातमीं ए॥

३६ अधिक आहार करने से कुण्डरिक को रोग उत्पन्न हुआ और मरकर वह सातवीं नरक में पहुँचा।

३७—हाडी फूटें मेट रे,
इधको उरीयां।
वो पेट न फाटें किण विधें ए॥

३७—परिमाण से अधिक अन्न डालने से हंडी फूट जाती है। फिर भला अधिक खाने से पेट क्यों नहीं फटेगा?

३८—ब्रह्मचारी इम जांण रे,
इधको नहीं जीमीयें।
अणोदरीए गुण घणां ए॥

३८—ब्रह्मचारी को यह सब जानकर अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। ऊनोदरी में बहुत गुण हैं।

३९—ए उतम अणोदरी तप रे,
करतां दोहिलो।
वैराग विनां हुवें नहीं ए*॥

३९—ऊनोदरी उत्तम तप है। इसका करना बहुत मुश्किल है। यह वैराग्य के बिना नहीं होता।

४०—ए कही आठमीं बाड़ रे,
ब्रह्मचारी भणी।
चोखें चित्त आराधजो ए॥

४०—ब्रह्मचारी के लिए यह आठवीं बाड़ है। मुनि उत्तम भाव से इसकी आराधना करे।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

इस दोहे में आठवीं बाड़ का स्वरूप बताया गया है कि मात्रा से अधिक आहार करना ब्रह्मचर्य-व्रत के लिए घातक होता है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है—"नो निग्गंथे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा" (१६ : ८)—निर्ग्रंथ अति मात्रा में आहार न करे। यह सूत्र-वाक्य ही इस बाड़ का आधार है।

'प्रश्न व्याकरण' सूत्र में कहा गया है :

ण बहुसो, ण णिइगं, ण सायसूवाहियं, ण खद्धं तहा भोतव्वं, जहा से जायामायाय भवइ।

—प्रश्न० २ : ४ : भा० ५

—ब्रह्मचारी एक दिन में बहुत आहार न करे, प्रतिदिन आहार न करे, अधिक शाक-दाल न खाय, अधिक मात्रा में भोजन न करे, जितना संयम यात्रा के लिए जरूरी हो उसी मात्रा में ब्रह्मचारी आहार करे।

ण य भवइ विब्भमो ण भंसणा य धम्मस्स। एवं पणीयाहार विरइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा आरयमण विरय गाम धम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते। —प्रश्न २ : ४ भा० ५

—विभ्रम न हो, धर्म से भ्रंश न हो—आहार उतनी ही मात्रा में होना चाहिए। इस समिति के योग से जो भावित होता है, उसकी अतर आत्मा तल्लीन, इन्द्रियों के विषय से निवृत्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय से युक्त होती है।

इसी तरह 'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है :

धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बंभचेररओ सया।

—उत्त० १६ श्लो० ८

—ब्रह्मचारी गोचरी में धर्मानुसार प्राप्त आहार, जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए ही नियत समय और मित मात्रा में ग्रहण करे। वह कभी भी अति मात्रा में आहार का सेवन न करे।

[२] दोहा २-३ :

इन दोहों में अति आहार का दुष्परिणाम बड़े ही मार्मिक रूप से बताया गया है। अति मात्रा में आहार करने से रूप, बल और गात्र क्षीण होते हैं। प्रमाद, निद्रा, तथा आलस्य की उत्पत्ति और वृद्धि होती है।

कहावत है कि सेर की हाँडी में सवा सेर डालने से वह फूट जाती है। उसी तरह अधिक आहार करने से पेट फटने लगता है। अनेक रोग हो जाते हैं। अति आहार से विषय की वृद्धि होती है।

'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है :

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे।
समारुओ नोवसमं उवेइ॥
एविंदियग्गी वि पगाम भोइणो।
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई॥

—उत्त० ३२ : ११

—जैसे प्रचुर इन्धनयुक्त वन में वायु सहित उत्पन्न हुई दावाग्नि उपशम को प्राप्त नहीं होती अर्थात् बुझती नहीं, उसी प्रकार प्रकाम-भोजी— विविध प्रकार के रस युक्त पदार्थों को अति मात्रा में भोगनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रिय रूपी अग्नि शान्त नहीं होती।

[३] ढाल गा० १-७ :

इन गाथाओं में अति आहार से जो आत्मिक पतन होता है उसका गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। अति आहार से विषयों के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। भोग अच्छे लगने लगते हैं। अपध्यान होता है। स्त्री अच्छी लगने लगती है। ब्रह्मचर्य का पालन करूँ या न करूँ, इस तरह की शका उत्पन्न होती है। स्त्री-भोग की आकांक्षा होती है। ब्रह्मचर्य के पालन से लाभ होगा या नहीं, ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है। चित्त की ऐसी स्थिति में ब्रह्मचारी साधु के वेश में ही मिथ्याचार का सेवन करने लगता है और कोई वेश छोड़कर पुनः गृहस्थ हो जाता है। इस तरह अति आहार ब्रह्मचर्य के लिए कितना घातक है, यह स्वयंसिद्ध है। इन विचारों का आधार आगम का निम्न स्थल है :

निग्गंथस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बंभयारिस्स बभचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीह कालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गथे पणीयं आहारं आहरेज्जा॥

—उत्त० १६ : ७

[४] ढाल गा० ८-२५ :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने अति आहार से किस तरह नाना प्रकार के रोगातंक उत्पन्न होते हैं, इसका रोमांचकारी वर्णन किया है। 'ज्ञाता धर्मकथा' सूत्र के पुण्डरिक आख्यान में अति आहार के दुष्परिणामों का वर्णन मिलता है।

[५] ढाल गा० २५-३५ :

इन गाथाओं का भावार्थ इस प्रकार है :

अति आहार से ऐसे अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है, जिनका नामोल्लेख ऊपर आया है। ये रोग अति आहार से उत्पन्न होते हैं, पर पूछने पर अति आहार-भोजी इस कारण को छिपाकर अपने रोग का दूसरा ही कारण बताता है। इस तरह वह कपटपूर्ण झूठ बोलता है। जो पेटू साधु होता है, वह नित्यप्रति ठूंस-ठूंस कर आहार करता है। ऐसे साधु के लिए सत्य बोलना कठिन हो जाता है।

यदि कोई उससे कहता है—तू अधिक आहार करता है, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए, तो वह उसकी बात न मानकर उस पर चिढ़ने लगता है।

जो आहार का गृद्ध होता है, वह इतना अधिक खा लेता है कि पेट में पानी तक का स्थान नहीं रहता। जब उसे अत्यन्त प्यास लगती है, पानी पीने से उसका पेट फटने लगता है और उसे जरा भी चैन नहीं मिलता। ऐसे संकट उपस्थित होते रहने पर भी पेटू अति आहार करने का दोष नहीं छोड़ता। अंत में धर्मच्युत होकर वह बुरी तरह मृत्यु को प्राप्त करता है तथा बार-बार चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त काल तक दुःख पाता है।

[६] ढाल गा० ३६ :

कुण्डरिक की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा ३२

[७] ढाल गा० ३७-३६ :

इन उपसंहारात्मक गाथाओं में स्वामीजी कहते हैं कि अति आहार के आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोष ऊपर बताये जा चुके हैं। उन पर विचार कर ब्रह्मचारी कभी भी अति मात्रा में आहार न करे। मात्रा से कम खाय। इस प्रकार ऊनोदरी करने में बहुत लाभ है। ऊनोदरी एक कठिन तप है और वह वैराग्य का द्योतक है।

नवमीं बाड़

नवमीं बाड़ ब्रह्मचर्य नीं, विभूषा न करणी अंग

ढाल : १०

दुहा

१—नवमीं बाड़ ब्रह्मचर्य नीं,
विभूषा न करणी अंग।
विभूषा कीयां थकां,
थायें वरत नों भंग ' ॥

१—ब्रह्मचर्य की नवीं बाड़ यह है कि ब्रह्मचारी को विभूषा—शरीर-शृङ्गार नहीं करना चाहिए। विभूषा-शृङ्गार करने से व्रत भंग हो जाता है।

२—सरीर विभूषा जे करें,
ते करें तन सिणगार।
वले रहें घठखा मठारीया,
त्यां लोपी ब्रह्मव्रत बाड़ ॥

२—जो शरीर-विभूषा करते हैं, वे तन-शृङ्गार करते हैं तथा तड़क-भड़क से रहते हैं। वे ब्रह्मचर्य-व्रत की बाड़ को खण्डित करते हैं।

३—सरीर विभूषा जे करें,
ते संजोगी होय।
ब्रह्मचारी तन सोभवे,
ते कारण नहीं कोय ॥

३—शरीर की विभूषा करनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही संयोगी हो जाता है। ऐसा कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता जिससे ब्रह्मचारी तन को सुशोभित करे।

४—बाड़ भांग्यां किण विध रहें,
अमोलक सील रतन।
तिण सूं ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य नां,
किण विध करें जतन ॥

४—बाड़ के भंग होने पर शील रूपी अमूल्य रत्न किस प्रकार सुरक्षित रह सकता है? अतः इस ढाल में यह बताया गया है कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य की रक्षा किस प्रकार करे।

ढाल

[धीज करें सीता सती रे लाल]

१—सोभा न करणी देह नीं रे लाल,
नहीं करणो तन सिणगार ।ब्रह्मचारी रे॥
पीठी उगटणों करणो नहीं रे लाल,
मरदन नहीं करणो लिगार । ब्र०॥
ए नवमीं बाड़ ब्रह्म वरतनीं रे लाल ' ॥

१—हे ब्रह्मचारी! तुम्हें देह-विभूषा अथवा शरीर-शृङ्गार नहीं करना चाहिए। पीठी, उबटन आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए और न तैल आदि का मर्दन ही। यह ब्रह्मचर्य-व्रत की नवीं बाड़ है।

२—ठंडा उन्हा पांणी थकी रे लाल,
मूल न करणो अंगोल ।ब्र०॥
केसर चंदण नहीं चरचणा रे लाल,
दांत रंगे न करणा चोल ।ब्र० ए०॥

२—हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें उष्ण या शीतल जल से कभी स्नान नहीं करना चाहिए। केशर, चन्दन आदि का लेप नहीं करना चाहिए। न दाँतों को रँगना ही चाहिए और न दन्तधावन ही करना चाहिए।

३—बहु मोलां नें उजला रे लाल,
ते वसत्र नें पेंहरणा नांहि ।ब्र०॥
टीका तिलक करणा नहीं रे लाल,
ते पिण नवमीं वाड़ रे मांहि ।ब्र० ए०॥

३—हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें बहुमूल्य और उज्ज्वल वस्त्रों को नहीं पहनना चाहिए। टीका-तिलक नहीं लगाना चाहिए। ब्रह्मचर्य व्रत की नवीं बाड़ में यह वर्जित है।

४—कांकण कुंडल नें मूंदड़ी रे लाल,
वले माला मोती नें हार ।ब्र०॥
ते ब्रह्मचारी पेंहरें नहीं रे लाल,
वले गेंहणा विवध परकार ।ब्र० ए०॥

४—हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें कंकण, कुण्डल, अंगूठी, माला, मोती और हार नहीं पहनना चाहिए। इसी प्रकार ब्रह्मचारी को विविध प्रकार के गहने नहीं पहनने चाहिए।

५—नहीं रहणों घटार्यों मठारीयो रे लाल,
केसादिक नें समार ।ब्र०॥
वले वसत्रादिक पिण पेंहरनें रे लाल,
मूल न करणों सिणगार[१] ।ब्र० ए०॥

५—हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें केशादि को सँवार बन-ठन कर नहीं रहना चाहिए। इसी तरह तुम्हें चटकीले-भड़कीले वस्त्रों को पहन कर शृङ्गार नहीं करना चाहिए।

६—विभूषा अंग छें कुसील नों रे लाल,
तिण सूं चीकणा करम बंधाय ।ब्र०॥
तिण सूं पड़ें संसार सागर मझे रे लाल,
तिणरो पार वेगों नहीं आय[२] ।ब्र० ए०॥

६—हे ब्रह्मचारी ! अंग-विभूषा कुशीलता का द्योतक है। इससे चिकने—गाढ़ कर्मों का बन्ध होता है और मनुष्य दुस्तर संसार-सागर में गिरता है। उसका शीघ्र अन्त नहीं आता।

७—सिणगार कीयां रहें तेहनें रे लाल,
अस्त्री देवें चलाय ।ब्र०॥
भिष्ट करें सील वरत थी रे लाल,
ठालो कर देवें ताय[३] ।ब्र० ए०॥

७—हे ब्रह्मचारी ! जो शृङ्गार पूर्वक रहता है, उसको स्त्री विचलित कर देती है। उसे व्रत से भ्रष्ट कर वह निठल्ला बना देती है।

८—रतन हाथे आयो रांक रें रे लाल,
ते दीठां खोस ले राय ।ब्र०॥
ज्यूं ब्रह्मचारी विभूषां कीयां रे लाल,
अस्त्री सील रतन खोसें ताय ।ब्र० ए०॥

८—हे ब्रह्मचारी ! जिस प्रकार दरिद्र के हाथ रत्न लगने पर उसे देख राजा उससे छीन लेता है, उसी प्रकार शृङ्गार करने वाले ब्रह्मचारी से स्त्री शील रूपी रत्न को छीन लेती है।

—विभूषा करनेवाला भिक्षु उस कारण से चिकन कर्मों का बन्ध करता है, जिससे दुस्तर संसार-सागर में पतित होता है।

—ज्ञानी विभूषा-सम्बन्धी संकल्प-विकल्प करनेवाले मन को ऐसा ही दुष्परिणाम करनेवाला मानते हैं। यह सावद्य बहुल कर्म है। यह निर्ग्रंथों द्वारा सेव्य नहीं।

[४] ढाल गा० ७ :

इस गाथा का आधार सूत्र का निम्न वाक्य है :

विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स
अभिलसणिज्जे हवई —उत्त० १६ : ९

—विभूषा की भावनावाला ब्रह्मचारी निश्चय ही विभूषित शरीर के कारण स्त्रियों का काम्य—उनकी अभिलाषा का पदार्थ हो जाता है।

तओ णं इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। —उत्त० १६ : ९

—जो ब्रह्मचारी इस प्रकार स्त्रियों की अभिलाषा का शिकार बनता है उसके मन मे ब्रह्मचर्य का पालन करूं या नहीं, ऐसी शंका उत्पन्न हो जाती है। वह स्त्री-सेवन की कामना करने लगता है। ब्रह्मचर्य के उत्तम फल में उसे विचिकित्सा—विकल्प—सन्देह उत्पन्न होता है। इस तरह ब्रह्मचर्य से उसका मन-भेद हो जाता है। वह उन्माद का शिकार बनता है, उसके दीर्घकालिक रोग हो जाते हैं। वह केवली प्ररूपित धर्म से पतित हो जाता है।

[५] ढाल गा० ८-९ :

गा० ७ में जो बात लिखी है उसी को स्वामीजी ने एक उदाहरण द्वारा समझाया है।

जैसे एक गरीब के हाथ में रत्न होने पर उसके प्रति आँख गड़ जाती है और राजा उस रत्न को उससे ले लेता है उसी तरह से जो तन को शृङ्गारित करता है उस पर स्त्रियों की आँखें टिक जाती हैं और मोहित स्त्रियाँ उसके शीलरूपी रत्न को उससे छीन लेती हैं। पुरुष इस तरह स्त्रियों का काम्य न बने। उसका शीलव्रत भङ्ग न हो इसके लिए आवश्यक है कि वह कदापि किसी तरह का शृङ्गार न करे। जो ब्रह्मचारी शृङ्गार से बचता है वह ब्रह्मचर्य की अखण्ड आराधना करने में सफल होता है और फलस्वरूप भव-समुद्र को पार करने में समर्थ होता है।

कोट

सब्द रूप गन्ध रस फरस, भला भूंडा हलका भारी सरस।
यां सूं राग घेप करणो नाहीं, रहसी एहवा कोट मांही॥

ढाल : ११

दुहा

१—ए नव वाड़ कही ब्रह्मचर्य री,
हिवें दसमों कहें छें कोट।
ए वाड़ लोपी वींटे रह्यो,
तिण में मूल न चाले खोट॥

१—ब्रह्मचर्य की नव बाड़ कही जा चुकी है। अब दसवें कोट के बारे में कहता हूँ। यह कोट बाड़ों को बाहर से घेरे हुए है। इसमें जरा भी दोष नहीं चल सकता।

२—कोट भांगा जोखो छें वाड़ नें,
वाड़ भांगा वरत नें जांण।
तिण सूं कोट भिलण देवें नहीं,
ते डाहा चतुर सुजांण॥

२—कोट के भंग होने से बाड़ों को जोखिम है और बाड़ों के खंडित होने से व्रत को। इसलिए बुद्धिमान और ज्ञानी पुरुष कोट को गिरने नहीं देते।

३—कोट भांग वधारा पडीयां थकां,
वाड़ भांगतां किती एक वार।
तिण सूं वशेप कोट री,
करवो जतन विचार॥

३—कोट भंग होकर यदि वह दरार युक्त हो जाय तो बाड़ों के भग्न होने में कितना समय लगेगा? यह विचार कर कोट का विशेष रूप से संरक्षण करना चाहिए।

४—सेर कोट संठों हुवें,
तो चिंता न पांमें लोक।
ज्यूं अडिग कोट ब्रह्मचर्य रो,
तिण सूं सील न पांमें दोख *॥

४—जिस प्रकार शहर का कोट मजबूत होने पर लोग चिन्ताग्रस्त नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत का कोट अगर अडिग हो तो शील पर किसी प्रकार का आघात नहीं आ सकता।

५—ते कोट करणो किण विध कह्यों,
किण विध करणो जतन।
ते ब्रह्मचारी विवरा सुध,
सांभलजों एक मन॥

५—अब मैं बतलाता हूँ कि शील-संरक्षण के लिए कोट का निर्माण किस तरह करना चाहिए और किस प्रकार उसका संरक्षण करना चाहिए। हे ब्रह्मचारी! इसके ब्योरेवार वर्णन को एकाग्र मन से सुनो।

ढाल

[डाभ मूंजादिक नीं डोरी]

१—मन गमता सब्द रसाल,
अण गमता सब्द विकराल।
गमता सब्द सुण्यां नहीं रीझें,
अण गमता सुण्यां नहीं खीजें॥

१—शब्द दो तरह के होते हैं—एक मन को अच्छे लगनेवाले मधुर शब्द और दूसरे मन को बुरे लगनेवाले विकराल शब्द।

ब्रह्मचारी मनोज्ञ शब्दों को सुनकर प्रसन्न न हो और न अमनोज्ञ शब्दों को सुनकर द्वेष ही करे।

२—काला नीला राता पीला धोला,
पांच परकार नां रूप बोहला।
राग नांणें भला रूप देख,
माठा देख न आंणणो धेख।

२—काला, पीला, लाल, नीला और सफेद इन पाँच वर्णों के अनेक रूप होते हैं। अच्छे रूप को देखकर ब्रह्मचारी राग न करे और न बुरे रूप को देखकर द्वेष।

३—गंध सुगंध दुर्गंध छें दोय,
गमता अण गमता सोय।
गमता सूं नहीं रति सोय,
अण गमता सूं अरति न कोय॥

३—गन्ध दो प्रकार की होती है—एक सुगन्ध और दूसरी दुर्गन्ध। सुगन्ध मन को अच्छी लगती है और दुर्गन्ध बुरी। ब्रह्मचारी मनोज्ञ गन्ध में रति न करे और न अमनोज्ञ गन्ध में अरति।

४—रस पांच परकार नां जांणों,
त्यांरा स्वाद अनेक पिछांणों।
गमता सूं राग न करणो,
अण गमता सूं धेप न धरणो॥

४—रस पाँच प्रकार के जानो। उनके स्वाद अनेक प्रकार के हैं। ब्रह्मचारी को मनोज्ञ रस में राग नहीं करना चाहिए और न अमनोज्ञ रस में द्वेष।

५—फरस आठ परकार नां तांम,
त्यांरा जूआ २ छें नांम।
रागी गमता रो अण गमता रो धेखी,
यां दोयां सूं रहणों निरापेखी [१]॥

५—स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं। उनके नाम अलग-अलग हैं। मनुष्य मनोज्ञ स्पर्श से राग करने लगता है और अमनोज्ञ से द्वेष। ब्रह्मचारी को इन दोनों से निरपेक्ष रहना चाहिए।

६—सब्द रूप गन्ध रस फरस,
भला भूंडा हलका भारी सरस।
यां सूं राग धेप करणो नांहीं,
सील रहसी एहवा कोट मांहीं॥

६—शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श—अच्छे बुरे, सरस-विरस, हलके-भारी आदि होते हैं।[१] ब्रह्मचारी को इनमें न तो राग करना चाहिए और न द्वेष। यही दसवां कोट है जिसमें शील सुरक्षित रहता है।

७—सील वरत छैं भारी रतन,
तिणरा किण विध करणा जतन।
सगला व्रतां मांहें वरत मोटों,
तिणरी रिष्या भणी कह्यों कोटों [3] ॥

७—शील-व्रत एक बहुमूल्य रत्न है। उसका विधिपूर्वक संरक्षण करना चाहिए। यह सब व्रतों में श्रेष्ठ व्रत है। उसकी रक्षा के हेतु यह कोट कहा गया है।

८—जो सब्दादिक सूं हुवें राजी,
तो कोट जावें छैं भाजी।
कोट भांगां बाड़ चकचूरों,
ब्रह्म वरत पिण पर जावें पूरों ॥

८—यदि ब्रह्मचारी मनोज्ञ शब्दादि से प्रसन्न होता है तो कोट भंग हो जाता है। कोट के भंग होने पर बाड़ें चकनाचूर हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचर्य-व्रत भी नष्ट हो जाता है।

९—तिण सूं कोट रा करणा जतन,
तो कुसले रहैं सील रतन।
टल जावें सगला दोख,
जब पांमें अविचल मोख ॥

९—इसीलिए कोट की सुरक्षा करनी चाहिए जिससे कि शीलरूपी रत्न सुरक्षित रहे। जब समस्त दोषों का निवारण करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया जाता है तब अविचल मोक्ष की प्राप्ति होती है।

१०—इम सांभल नें ब्रह्मचारी,
तूं कोट म खंडें लिगारी।
ज्यूं दिन दिन इधको आनन्द,
इम भाख्यों छैं वीर जिणंद ॥

१०—हे ब्रह्मचारी! तू यह सुनकर शील-रक्षक कोट को जरा भी खण्डित मत कर। इससे तुम्हें उत्तरोत्तर आनन्द की प्राप्ति होगी—ऐसा जिनेश्वर भगवान् ने कहा है।

११—ए कोट सहित कही नव बाड़,
ते सांभल नें नर नार।
इण रीत सूं ब्रह्म व्रत पालों,
ज्यूं मिटें सर्व आल जंजालों [4] ॥

११—मैंने कोट सहित नव बाड़ का वर्णन किया है। हे नर-नारियो! इन्हें सुनकर इनके अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करो, जिससे सब तरह के जाल-जंजाल मिट जायँ।

१२—उतराधेन सोलमां मझारों,
तिणरो लेई नें अनुसारों।
तिहां कोट सहीत कही नव बाड़,
ते संखेप कर्यों विसतार [5] ॥

१२—'उत्तराध्ययन' सूत्र के १६ वें अध्याय में कोट सहित नव बाड़ कही गई है। वहाँ के संक्षिप्त वर्णन का अनुसरण कर मैंने यहाँ विस्तार से वर्णन किया है।

१३—इगतालीसें नें समत अठार,
फागुण विद दसमीं गुरवार।
जोड कीधीं पादू मझार,
समझावण नें नर नार ॥

१३—लोगों को समझाने के लिए यह रचना मैंने संवत् १८४१ की फाल्गुन बदी दशमी, गुरुवार के दिन पादुगाँव में की है।

टिप्पणियाँ

१ दोहा १-४ :

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के दस स्थानकों में से अंतिम स्थानक का विवेचन प्रस्तुत ढाल में है। ब्रह्मचर्य-रक्षा के प्रथम नौ उपायों में से प्रत्येक को एक बाड़ की संज्ञा दी गई है। इस दसवें स्थानक को कोट कहा गया है। यह कोट ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए प्ररूपित गुप्तियों अथवा बाड़ों को चारों ओर से घेरे हुए है। बाहर के कोट में दरार होने पर जैसे अन्दर की बाड़ों के भङ्ग होने में देर नहीं लगती और बाड़ों के भग होने से खेत के नाश होने में देर नहीं लगती, वैसे ही ब्रह्मचर्य के दसवें स्थानक के भंग होने से अन्य स्थानकों के भंग होने में देर नहीं लगती और उनके भङ्ग होने से ब्रह्मचर्य रूपी खेत के विनाश होने में देर नहीं लगती। ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि कोट रूपी यह दसवाँ स्थानक बाड़ रूपी अन्य स्थानकों से बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। इसे अखण्डित रखना परम आवश्यक है। क्योंकि इसकी सुरक्षा से ही अन्य स्थानक सुरक्षित रह सकते हैं और उनके सुरक्षित रहने से ही मूल ब्रह्मचर्य व्रत सुरक्षित रह सकता है। जिस प्रकार नगर का प्राकार सुदृढ़ रहने से नागरिकों को शत्रु के आक्रमण का भय नहीं रहता और वे निश्चिन्त रहते हैं, उसी प्रकार इस दसवें स्थानक को सुरक्षित रखने से अन्य स्थानक भी सुरक्षित रहते हैं और ब्रह्मचर्य व्रत को किसी प्रकार की आँच नहीं आ सकती।

[२] ढाल गा० १-५ :

ब्रह्मचर्य को रक्षा के दसवें समाधि स्थानक का स्वरूप इस प्रकार है कि ब्रह्मचारी को शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन्द्रियों के इन विषयों में राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। इस स्वरूप का आधार सूत्र के निम्न वाक्य हैं :—

सद्दे रुवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए॥

उत्त० १६ : १०

—ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन्द्रियों के इन पाँच प्रकार के विषयों को सदा के लिए छोड़ दे।

विसयेसु मणुन्नुसु, पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पोग्गलाण य॥
पोग्गलाण परीणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे, सीईभूयेण अप्पणा॥

दश० ८ : ५९, ६०

—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—पुद्गलों के इन परिणामों को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग-भाव न करे। वह अपनी आत्मा को शीतल कर, तृष्णा रहित हो, जीवन-यापन करे।

प्रस्तुत गाथा १ से ५ में जिन भावों का विश्लेषण है उनका शास्त्रीय आधार इस प्रकार है :

ण सक्का ण सोउं सद्दा, सोयविसयमागता;
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खु परिवज्जए।

—आचारांग सूत्र

—कान में पड़े हुए शब्दों न सुनना सम्भव नहीं। भिक्षु कान में पड़े हुए प्रिय शब्दों के प्रति राग और अप्रिय शब्दों के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

ण सक्का रूवमदट्ठुं, चक्खुविसयमागयं;
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए।

—आचारांग

—चक्षु-गोचर हुए रूपों को न देखना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय रूपों के प्रति राग और अप्रिय रूपों के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

णो सक्का गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं,
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

—आचारांग

—नाक में आई हुई गंध को न सूंघना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय गन्ध के प्रति राग और अप्रिय गंध के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

णो सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं,
रागदोसा उ जे तत्थ,ते भिक्खू परिवज्जए।

—आचारांग

—जिह्वा के सम्पर्क में आए हुए रसों का स्वाद न लेना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय रस के प्रति राग और अप्रिय रस के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

णो सक्का फासमवेदेउं फासविसयमागयं,
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए।

—आचारांग

—शरीर के स्पर्श में आए हुए स्पर्शों का अनुभव न करना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय स्पर्शों के प्रति राग और अप्रिय स्पर्शों के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

स्वामीजी कहते हैं : शब्द, रूप आदि विषयों के प्रति उपर्युक्त निरपेक्ष भाव ही ब्रह्मचर्य की सुरक्षा का दसवां स्थानक अथवा सुदृढ़ परकोटा है।

[३] ढाल गाथा ६-७ :

गाथा १ से ५ में जो भाव आये हैं उन भावों का सार संक्षेप में इस गाथा में प्रस्तुत हुआ है। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श दो तरह के होते हैं। अच्छे-बुरे शब्द-रूपादि के प्रति राग-द्वेष न करना समभाव या वीतरागता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है :

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : २२

—रूप चक्षु-ग्राह्य है। रूप चक्षु का विषय है। प्रिय रूप राग का हेतु है और अप्रिय रूप द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : ३५

—शब्द श्रोत्र-ग्राह्य है। शब्द कान का विषय है। प्रिय शब्द राग का हेतु है और अप्रिय शब्द द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

घाणस्स गंधं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : ४८

—गंध घ्राण-ग्राह्य है। गंध नाक का विषय है। प्रिय गंध राग का हेतु है और अप्रिय गंध द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : ६१

—रस जिह्वा-ग्राह्य है। रस जिह्वा का विषय है। प्रिय रस राग का हेतु है और अप्रिय रस द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

कायस्स फासं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ : ७४

—स्पर्श काम-ग्राह्य है। स्पर्श शरीर का विषय है। प्रिय स्पर्श राग का हेतु है और अप्रिय स्पर्श द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

मणस्स भावं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥ —उत्त० ३२ : ८७

—भाव मन-ग्राह्य है। भाव मन का विषय है। प्रिय भाव राग का हेतु है और अप्रिय भाव द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

स्वामीजी कहते हैं कि शील रूपी रत्न ऐसे समभाव या वीतरागता रूपी कोट में ही सुरक्षित रह सकता है। यह बताया जा चुका है कि शील-व्रत किस तरह सब व्रतों में महान् है। शील एक महामूल्यवान रत्न है जिसकी रक्षा के लिए विशेष उपाय करने की आवश्यकता है। इसीलिए भगवान् ने विषयों के प्रति समभाव रूपी इस कोट को ब्रह्मचर्य की समाधि का दसवां स्थानक बतलाया है।

[४] ढाल गाथा ८-११ :

आठवीं गाथा में यह बताया गया है कि यह कोट किस प्रकार भंग होता है और इसके भंग होने से ब्रह्मचारी को क्या हानि होती है। स्वामीजी कहते हैं : जो शब्दादि विषयों में रागादि रखता है, वह इस कोट को खंडित करता है। कोट के भंग होने से बाड़ें भी चकनाचूर हो जाती हैं और उनके विनाश से ब्रह्मचर्य रूपी शस्य विनष्ट होता है। शील रूपी रत्न की रक्षा करनी हो तो कोट को सुरक्षित रखने का हर प्रयत्न करना चाहिये। कोट के अखंडित रहने से सब विघ्न दूर हो जाते हैं, शील अखंड रहता है और इससे अविचल मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आगम में कहा है :—

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि॥ —उत्त० ३२ : १००

—इन्द्रियों के और मन के विषय रागी मनुष्य को ही दुःख के हेतु होते हैं। ये विषय वीतराग को कदाचित् किंचित् मात्र—थोड़ा भी दुःख नहीं पहुंचा सकते।

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरम्परेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

—उत्त० ३२ : ४७

—शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भाव के विषयों से विरक्त पुरुष शोक रहित होता है। वह इस संसार में बसता हुआ भी दुःख समूह की परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह पुष्करिणी का पलाश जल से।

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चन्तरायं पकरेइ कम्मं॥ —उत्त० ३२ : १०८

—जो वीतराग है वह सब तरह से कृतकृत्य है। वह क्षणमात्र में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर देता है और इसी तरह से जो दर्शन को ढंकता है, उस दर्शनावरणीय और विघ्न करता है, उस अन्तराय-कर्म का भी क्षय कर डालता है।

सव्वं तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे॥

—उत्त० ३२ : १०९

—तदन्तर वह आत्मा सब कुछ जानती देखती है तथा मोह और अन्तराय से सर्वथा रहित हो जाती है। फिर आस्रवों से रहित, ध्यान और समाधि से युक्त वह विशुद्ध आत्मा, आयु समाप्त होने पर मोक्ष को प्राप्त होती है।

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं जंतुमेयं।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंत सुही कयत्थो॥

—उत्त० ३२ : ११०

—फिर वह सर्व दुःख से, जो जीव को सतत् पीड़ा देते हैं, मुक्त हो जाती है। दीर्घ रोग से विप्रमुक्त हो वह कृतार्थ आत्मा अत्यन्त प्रशस्त सुखी होती है।

[५] ढाल गा० १२ :

स्वामीजी की रचना मुख्यतः उत्तराध्ययन के आधार पर है। उत्तराध्ययन का १६ वाँ अध्ययन परिशिष्ट में दे दिया गया है। देखिए परिशिष्ट-ख।

परिशिष्ट–क

कथा और दृष्टान्त

कथा—१ :

नेमिनाथ और राजीमती [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा १-२ (पृ० ३) के साथ है।]

मिथिला नगरी में उग्रसेन नामक एक उच्चवंशीय राजा राज्य करते थे। इनके धारिणी नाम की राणी थी। इनके एक पुत्र था, जिसका नाम कंस था और एक पुत्री थी, जिसका नाम राजीमती था। राजीमती अत्यन्त सुशील, सुन्दर और सर्व लक्षणों से सम्पन्न राजकन्या थी। उसकी कान्ति विद्युत की तरह देदीप्यमान थी।

उस समय शौर्यपुर नामक नगर में वसुदेव, समुद्र विजय वगैरह दश दशार्ह (यादव) भाई रहते थे। सबसे छोटे वसुदेव के रोहिणी और देवकी नामक दो राणियाँ थीं। प्रत्येक राणी के एक-एक राजकुमार था। कुमारों के नाम क्रमशः राम (बलभद्र) और केशव (कृष्ण थे।

राजा समुद्रविजय की पत्नि का नाम शिवा था। शिवा की कूख से एक महा भाग्यवान और यशस्वी पुत्र का जन्म हुआ। इसका नाम अरिष्टनेमि रक्खा गया।

अरिष्टनेमि जब काल पाकर युवा हुए तो इनके लिए केशव (कृष्ण) ने राजीमती की मांग का प्रस्ताव राजा उग्रसेन के पास भेजा।

अरिष्टनेमि शौर्य-वीर्य आदि सब गुणों से सम्पन्न थे। उनका स्वर बहुत सुन्दर था। उनका शरीर सर्व शुभ लक्षण और चिह्नों से युक्त था। शरीर-सौष्ठव और आकृति उत्तम कोटि के थे। उनका वर्ण श्याम था। पेट मछली के आकार-सा सुन्दर था।

ऐसे सर्व गुण सम्पन्न राजकुमार के लिए राजीमती की मांग को सुनकर राजा उग्रसेन के हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने कृष्ण को कहला भेजा—"यदि अरिष्टनेमि विवाह के लिए मेरे घर पर पधारें, तो राजीमती का पाणिग्रहण उनके साथ कर सकता हूँ।"

कृष्ण ने यह बात मंजूर की और विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

नियत दिन आने पर कुमार अरिष्टनेमि को उत्तम औषधियों से स्नान कराया गया। अनेक कौतुक और मांगलिक कार्य किए गए। उत्तम वस्त्राभूषणों से उन्हें सुसज्जित किया गया। वासुदेव के सब से बड़े गन्धहस्ती पर उनको बिठाया गया। उनके सिर पर उत्तम छत्र शोभित था। दोनों ओर चंवर डोलाए जा रहे थे। यादव वंशी क्षत्रियों से वे घिरे हुए थे। हाथी, घोड़े, रथ और पायदलों की चतुरंगिणी सेना उनके साथ थी। भिन्न-भिन्न वाजिन्त्रों के दिव्य और गगनस्पर्शी शब्दों से आकाश गुंजायमान हो रहा था।

इस प्रकार सर्व प्रकार की रिद्धि और सिद्धि के साथ यादव-कुलभूषण अरिष्टनेमि अपने भवन से अग्रसर हुए।

अभी बरात राजा उग्रसेन के यहाँ नहीं पहुंची थी कि रास्ते में कुमार अरिष्टनेमि ने पींजरों और बाड़ों में भरे हुए और भय से कांपते हुए दुःखित प्राणियों को देखा। यह देखकर उन्होंने अपने सारथी से पूछा : "सुख के कामी इन प्राणियों को इन बाड़ों और पींजरों में क्यों रोक रक्खा है ?"

इस पर सारथी ने जवाब दिया : "ये पशु बड़े भाग्यशाली हैं, आप के विवाहोत्सव में आए हुए बराती लोगों की दावत के लिए ये हैं।"

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २२ के आधार पर

सारथी के मुख से इस हिंसापूर्ण प्रयोजन की बात सुन कर जीवों के प्रति दयावृत्ति—अनुकम्पा रखने वाले महामना अरिष्टनेमि सोचने लगे :

"यदि मेरे ही कारण से ये सब पशु मारे जांय तो यह मेरे लिए इस लोक या परलोक में कल्याणकारी नहीं हो सकता।"

यह विचार कर यशस्वी अरिष्टनेमि ने अपने कान के कुण्डल, कण्ठ-सूत्र और सर्व आभूषण उतार डाले और सारथी को सम्हला दिए और वहीं से वापिस द्वारिका को लौट आए। द्वारिका से वे रैवतक पर्वत पर गए और वहाँ एक उद्यान में अपने ही हाथ से अपने केशों को लोचकर—उपाड़ कर उन्होंने साधु प्रव्रज्या अंगीकार की।

उस समय वासुदेव ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया "हे दमेश्वर! आप अपने इच्छित मनोरथ को शीघ्र पावें, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षमा और निर्लोभता द्वारा अपनी उन्नति करें।"

इसके बाद राम, केशव तथा इतर यादव और नगरजन अरिष्टनेमि को वंदन कर द्वारिका आए।

इधर जब राजकन्या राजिमती को यह मालूम हुआ कि अरिष्टनेमि ने एकाएक दीक्षा ले ली है तो उसकी सारी हँसी और खुशी जाती रही और वह शोक-विह्वल हो उठी। माता-पिता ने उसे बहुत समझाया और किसी अन्य योग्य वर से विवाह करने का आश्वासन दिया परन्तु राजिमती इससे सहमत न हुई। उसने विचार किया—"उन्होंने (अरिष्टनेमि ने) मुझे त्याग दिया—युवा होने पर भी मेरे प्रति जरा भी मोह नहीं किया! धन्य है उनको! मेरे जीवन को धिक्कार है कि मैं अब भी उनके प्रति मोह रखती हूँ। अब मुझे इस संसार में रहकर क्या करना है? मेरे लिए भी यही श्रेयस्कर है कि मैं दीक्षा ले लूं।"

ऐसा दृढ़ विचार कर राजीमती ने कांगसी—कंघी से सँवारे हुए अपने भंवर के से काले केशों को उपाड़ डाला। तथा सर्व इन्द्रियों को जीत कर रुण्ड-मुण्ड हो दीक्षा के लिए तैयार हुई। राजीमती को कृष्ण ने आशीर्वाद दिया : "हे कन्या! इस भयंकर संसार-सागर से तू शीघ्र तर"। राजीमती ने प्रव्रज्या ली।

★

कथा - २ :

कंकणी का दृष्टान्त[१]

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ६ की टि० ५ (पृ० ७) के साथ है।]

कोई निर्धन धनोपार्जन के लिए परदेश गया। वहाँ उसने एक हजार स्वर्ण मुद्रायें कमायीं और उन्हें लेकर वह घर की ओर चला। दैवयोग से उसे रास्ते में पड़ी हुई एक कौड़ी दिखलाई पड़ी। वह उसे छोड़ कर आगे बढ़ चला। कुछ दूर जाने के बाद उसके मन में उस कौड़ी को ले लेने की इच्छा जाग पड़ी। वह उसे ले लेने के लिए वापस लौटा।

रास्ते में उसने सोचा—"मैं व्यर्थ ही इन एक सहस्र मुद्राओं का भार क्यों वहन करूँ? क्यों न इन्हें यहीं गाड़ दूं?" यही सोचकर उसने एक वृक्ष के नीचे सहस्र मुद्राओं को गाड़ दिया और कौड़ी लेने के लिए वापस चला। जब वह उस जगह पहुँचा, जहाँ कौड़ी पड़ी हुई थी तो वह भी वहाँ नहीं थी। उसे पहले ही कोई उठा ले गया था। निराश होकर वह मुद्राओं की ओर चला। उन्हें भी कोई चोर खोदकर ले गया था।

जैसे एक कौड़ी के लोभ में एक हजार मुद्राओं को गवाँकर वह मूर्ख पश्चाताप करता हुआ घर आया, उसी प्रकार मूर्ख तुच्छ मानुषी भोगों में फँस उत्तम सुखों को खो देता है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ७ गा० ११ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

कथा—३ :

आम्र फल[1]

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ६ की टि० ५ (पृ० ७) के साथ है ।]

एक राजा था। आम्रफल के अत्यधिक सेवन से उसे विशूचिका रोग हुआ। राजा ने बड़े-बड़े चिकित्सक बुलाकर अपनी चिकित्सा करवाई। उसका रोग शांत हुआ। तब वैद्यों ने राजा से कहा—"राजन्! अब आप आम्र फल न खायें। अगर आपने पुनः आम्र फल का सेवन किया तो फिर यही असाध्य रोग होगा।" राजा ने चिकित्सकों की बात मान ली।

कई दिनों के बाद राजा मंत्री को साथ लेकर घूमने के लिए निकला। धूप के कारण रास्ते में उसे थकावट महसूस होने लगी। तब उसने मंत्री से कहा—"मैं थक गया हूँ। अतः कहीं विश्राम के लिए ठहरना चाहिये।" पास ही फल से लदा हुआ एक आम्र वृक्ष था। राजा ने उसकी छाया में बैठने के लिए मंत्री से कहा। मंत्री बोला—"राजन्! आप को आम्र वृक्ष की छाया में भी नहीं बैठना चाहिए। कारण, आप की बीमारी के लिए यह कुपथ्य है। मंत्री के बार-बार कहने पर भी राजा नहीं माना और वह आम्र वृक्ष की छाया में बैठ गया। शीतल हवा बह रही थी। राजा थका हुआ था। बोला : "थोड़ा लेटकर विश्राम कर लूँ।" राजा लेटकर विश्राम करने लगा। उसकी आँखें एकटक होकर आम्र फलों को देखने लगीं। मंत्री का कलेजा फटने लगा। वह बोला : "महाराज! आम्र फलों की ओर देखना वर्जित है।" राजा बोला—"खाना मना है या देखना भी? क्या देखने से भी कभी अनर्थ हुआ है?" इतने में हवा के वेग से आमों की एक डाल नीचे राजा की पलथी में आ पड़ी। राजा ने आम उठा लिया। बोला : "ये फल कितने प्रिय थे मुझ को एक दिन। आज इन्हें खा नहीं सकता तो सूंघकर तो तृप्त होऊँ।" राजा आमों को बारबार सूंघने लगा। मंत्री बोला : "महाराज! आम सूंघना वर्जित है।" राजा हँसा : "सूंघने से खाया थोड़े ही जाता है?" थोड़ी देर बाद राजा बोला : "आमों की सुगन्ध बड़ी मीठी है। इनका स्वाद कैसा है— चखकर देखता हूँ।" मंत्री ने राजा को ऐसा न करने का अनुरोध किया। राजा ने कहा—"मंत्री! मैं खाऊँगा नहीं, किन्तु, थोड़ा जीभ पर रखकर इसका स्वाद लेना चाहता हूँ।" फल को काट कर उस का थोड़ा भाग उसने अपने मुंह में रख लिया। फल बड़ा मधुर एवं स्वादिष्ट था। राजा का मन नहीं माना और उसने समूचा फल खा लिया।

फल के खाने से उसे पुनः पुरानी असाध्य बिमारी हो गई। उसने बहुत चिकित्सा करवाई किन्तु उस का कुछ भी फल नहीं निकला। उसकी बीमारी बढ़ती गई और वह मर गया।

जिस तरह तुच्छ आम्र फल के लालच में आकर राजा ने सारा साम्राज्य एवं जीवन खो दिया, उसी प्रकार मनुष्य मानुषिक भोगों के लोभ में फँस महान् सुखों को खो देता है।

✶

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ७ : गा० ११ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

कथा—४ :

चूल्हे का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य-जन्म की दुर्लभता पर पहला दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

दक्षिण भारत के मध्य समृद्धिशाली नगर कपिलपुर के राजा ब्रह्म अपनी प्रजावत्सलता के लिए सुविख्यात थे। उनके मंत्रियों में सर्वगुणसम्पन्न धनु को अपने विलक्षण बुद्धि के कारण सर्वप्रथम स्थान प्राप्त था। मधुर वचन, अनुपम कला एवं स्वर्गीय सौन्दर्य की अधिष्ठातृ रानी चूलणी राजा के विशिष्ट प्रेम की पात्री थी। काशी, गजपुर, कौशल एवं चम्पा के नरेश राजा के अभिन्न मित्रों में थे। राजा ब्रह्म और रानी चूलणी का दाम्पत्य-जीवन सुखमय था। ऐसे सुखमय अवसर पर उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। सौभाग्य या दुर्भाग्य से ब्रह्मदत्त पांच वर्ष का ही होने पाया था कि उसके पिता काल-धर्म को प्राप्त हुए। राजा ब्रह्म की अन्त्येष्ठिक्रिया के अवसर पर उनके चारों अभिन्न स्नेही उपस्थित थे। सब के सामने यह विकट समस्या थी कि राज्य का संचालन किस प्रकार किया जाये।

पंचवर्षीय शिशु ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक किया गया और दिवंगत आत्मा के हितचिन्तकों के विचार से कौशल नरेश दीर्घ को अभिभावकस्वरूप राज्यकी सुरक्षा-व्यवस्था का दायित्व सौंपा गया। कालक्रम में राजा दीर्घ और रानी में अनुचित सम्बन्ध हो गया। इधर कुमार ब्रह्मदत्त में भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान का पूर्णतः विकास हो चुका था। वह रानी चूलणी और दीर्घ के सम्बन्ध से सुपरिचित हो चुका था और एक दिन उसने संकेत द्वारा परोक्ष रूप में दीर्घ को भी अपनी जानकारी की सूचना दे दी। कुमार के इस ज्ञान से दोनों अत्यन्त ही आतंकित हुए। सुख में बाधा समझ कर रानी ने कुमार की हत्या का षडयंत्र किया। इस षडयंत्र का पता वयोवृद्ध मंत्री धनु को मिल गया एवं कुमार के रक्षार्थ उसने अपने पुत्र वरधनु को साथ कर दिया। वरधनु की सहायता से कुमार का बाल भी बांका नहीं होने पाया और षडयंत्र की जाल से मुक्त होकर वह अन्यत्र निकल पड़ा। इसी बीच कुमार ब्रह्मदत्त और मंत्रीपुत्र वरधनु का साथ छूट गया।

जंगलों एवं कन्दराओं की ठोकरें खाते-खाते कुमार ब्रह्मदत्त की अवस्था विपन्न हो चली थी। अन्न-जल के अभाव में उसका युवा शरीर कृशित होने लगा। ऐसी कारुणिक अवस्था में वह एक ग्राम में पहुंचा, जहाँ के वृद्ध ब्राह्मण ने उसकी काफी आवभगत की। ब्राह्मण के स्वागत-सत्कार से प्रसन्न होकर ब्रह्मदत्त ने उसे अपनी राजधानी में आने का आमंत्रण दिया। कालान्तर में ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती सम्राट् बना।

राजगद्दी पर आसीन होने की खुशी में चक्रवर्त्ती सम्राट् की राजधानी में हर्षोत्सव मनाया जा रहा था, ऐसी शुभ वेला में वह ब्राह्मण वहाँ पहुँचा। चक्रवर्त्ती ने प्रसन्न होकर उसे मुंहमांगा पारितोषिक देने का बचन दिया। किन्तु, उस भाग्यहीन ब्राह्मण ने अपनी पत्नी के परामर्श पर यह क्षुद्र याचना की कि राजा के साम्राज्य में जितने भी परिवार हैं, सबों के यहाँ क्रमानुसार उसे कुटुम्ब सहित भोजन और एक स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त हो। चक्रवर्त्ती ने उसे कई बार समझाया लेकिन वह अपनी माँग पर अटल रहा। अन्त में राजा ने कहा—"एवमस्तु।" दिन पर दिन जैसे बीतते गये ब्राह्मण को निम्नकोटि का भोजन मिलता गया। उस ब्राह्मण के पास पश्चात्ताप के सिवा अन्य कोई विकल्प नहीं रह गया।

जिस प्रकार क्रमानुसार सब परिवारों के पश्चात् चक्रवर्त्ती का क्रम आना कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य-जन्म पाकर उसका सदुपयोग नहीं करनेवाले को जन्म जन्मान्तर तक पश्चाताप ही करना पड़ता है; पुनः मनुष्य जन्म की प्राप्ति सुलभ नहीं होती। संयोगवश, चक्रवर्त्ती के चूल्हे का प्रसाद प्राप्त हो सकता है, उनके यहाँ भोजन की बारी भी आ सकती है लेकिन सांसारिक सुख प्राप्ति की लालसा में लिप्त मनुष्य को पुनः यह मानव-शरीर प्राप्त करना दुर्लभ ही रह जाता है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीकाके आधार पर।

कथा—५ :

पासा का दृष्टान्त[1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर दूसरा दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

सौराष्ट्र देश के चाणिक्य गांव में चणिक-चणेश्वरी ब्राह्मण-दम्पत्ति रहती थी। उनके घर दन्तयुक्त पुत्रोत्पत्ति हुई जिसे अपशकुन मानकर उन्होंने नवजात शिशु के दांतों को घिस दिया। ऋषियों से जब उन्होंने बच्चे का भाग्यफल जानने की जिज्ञासा की तो पता चला कि अगर उसके दांत न घिसे जाते तो वह राजा होता किन्तु अब वह बिंबांतरित राजा होगा। इस बच्चे का नाम चाणक्य रखा गया और यौवनावस्था प्राप्त होने पर माता-पिताने इसका विवाह उत्तम कुल में कर दिया।

एक दिन चाणक्य की पत्नी अपने भाई के विवाह में सम्मिलित होने के निमित्त पीहर गई। वहाँ महिलाओं ने निर्धनता के कारण उसका अनादर किया एवं उसकी मान-मर्यादा की धज्जियाँ उड़ा दी। वह शीघ्र ही अपने घर लौट आई। उसके म्लान मुखमंडल को देखकर उसके पति चाणक्य ने उदासी का कारण बताने पर जोर दिया। जब चाणक्य को यह विदित हुआ कि उसकी निर्धनता के कारण उसकी पत्नी का अपमान हुआ, तो उसने प्रचुर धनोपार्जन का संकल्प किया। इसी क्रम में वह राजा नन्द के दरबार में पहुंचा। नन्द की दासियों ने यहाँ उसका घोर अपमान किया। अपमान के प्रतिशोध की अग्नि निर्धन ब्राह्मण के शरीर में प्रज्वलित हो उठी और उसने नन्दवंश को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा की।

पृथ्वी का पर्यटन करते हुए चाणक्य मयूरपोषकों के गांव में पहुँचा। वहाँ एक मयूरपोषक की पत्नी को चन्द्र को पी लेने का दोहला हुआ। चाणक्य ने येन् केन प्रकारेण उसका दोहला तो पूर्ण करा दिया, लेकिन यह वचन ले लिया कि उसे जो पुत्र पैदा होगा उसे वह चाणक्य के हवाले कर देगी। इसी शिशु का नाम चन्द्रगुप्त रखा गया। होनहार बिरवान के होत चिकने पात। चन्द्रगुप्त बचपन से ही पराक्रमशील निकला। इधर चाणक्य ने भी तपस्या द्वारा स्वर्णसिद्धि प्राप्त की। लौट कर आने पर चाणक्य ने देखा कि चन्द्रगुप्त में चक्रवर्ती के समस्त लक्षण विद्यमान हैं। उसने चन्द्रगुप्त को साथ लेकर नन्द राजा पर चढ़ाई कर दी। लेकिन प्रथम बार उसे मुंहकी खानी पड़ी। चाणक्य अपने धुन और प्रतिज्ञा का पक्का था। उसने हिमवंत पर्वत के राजा पर्वतक से प्रीति की और उसकी सहायता चन्द्रगुप्त को दिलाकर नन्दराजा पर पुनः आक्रमण करवा दिया। इस बार राजा नन्द की सेना के पांव उखड़ गए और राजमहल पर चन्द्रगुप्त का विजयकेतु लहराने लगा।

चाणक्य चन्द्रगुप्त का प्रधान मंत्री बना। प्रजावत्सल चन्द्रगुप्त ने प्रजा के अनुरोध पर समस्त करों को माफ कर दिया। अब समस्या यह उत्पन्न हुई कि राजकोष की पूर्ति किस प्रकार हो। चाणक्य ने अपने इष्टदेव की आराधना के द्वारा इस समस्या का समाधान ढूंढ़ निकाला। दैव-कृपा से उसे दो पाशे प्राप्त हुए। उसने समस्त व्यापारियों को आमंत्रित किया और राजकोप से बहुमूल्य रत्न निकाल कर दावपर लगाने लगा। परिणाम यह निकला कि धनी व्यापारियों के धन राजकोष में आ गये।

चाणक्य के पाशे पर विजय प्राप्त करना यद्यपि कठिन है ' लेकिन, संयोगवश संभव है कि कोई व्यक्ति विजय भी प्राप्त कर ले, और खोया हुआ धन जुआरी व्यापारियों को वापस भी मिल जाये किन्तु एक बार हाथ से निकला हुआ मनुष्य-जन्म पुनः प्राप्त करना दुर्लभ ही है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

हुआ। वहाँ के नगरवासियों ने मंगलदेव को अपना राजा बनाया। देवदत्ता पटरानी के रूप में राजमहल में आई। इस प्रकार मंगलदेव का स्वप्न सत्य निकला।

तपस्वी के शिष्य को जब मंगलदेव के राजा होने का समाचार ज्ञात हुआ, उसने नियमित रूप से कुटिया में शयन कर पुनः उस स्वप्न की प्राप्ति की अभिलाषा की; लेकिन उसे पुनः वह स्वप्न नहीं दीखा। स्यात् ऋषि-शिष्य को स्वप्न दर्शन हो भी जाए, लेकिन खोये मनुष्य-जीवन को पुनः पाना दुर्लभ है।



कथा—१० :

राधावेध का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर सातवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

इन्द्रपुर के राजा इन्द्रदेव के २२ पुत्र थे। इसके बावजूद राजा ने अपने प्रधान की पुत्री पर मोहित हो, उससे भी विवाह कर लिया। लेकिन दोनों का प्रेम-संबंध अस्थिर रहा। प्रधान की पुत्री पिता के पास रहने लगी। कुछ दिनों के बाद राजा जब बाहर जा रहा था, झरोखे पर खड़ी एक सुन्दरी पर उसकी दृष्टि पड़ी। जिज्ञासा करने पर उसे ज्ञात हुआ कि सुन्दरी अन्य कोई नहीं बल्कि उसीकी परित्यक्ता रानी थी। राजा काम-भावना को संवरण नहीं कर सका और उस रात्रि को अपने प्रधान के वहाँ ही ठहर गया। शुभमुहूर्त में दोनों के सहवास से पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम सुरेन्द्रदत्त रखा गया। २२ राजपुत्रों के साथ ही सुरेन्द्रदत्त ने भी एक ही आचार्य के यहाँ शिक्षा प्राप्त की।

उस समय मथुरा नगरी के राजा जितशत्रु की कन्या निवृत्ति का स्वयंवर होनेवाला था। अपने २२ पुत्रों सहित स्वयंवर में उपस्थित होने का आमंत्रण राजा इन्द्रदेव को भी भेजा गया। निवृत्ति कुमारी ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जो व्यक्ति राधावेध वेध सकेगा, उसीको वह वरण करेगी। राजा इन्द्रदेव अपने २२ पुत्रों के साथ स्वयंवर भवन में पधारे। प्रधान भी अपने दुहिते के साथ वहाँ उपस्थित था। एक एक कर २२ राजपुत्रों को राधावेध साधने का अवसर दिया गया लेकिन सबके सब असमर्थ रहे। पुत्रों की अकर्मण्यता से इन्द्रदेव को घोर क्षोभ हुआ। राजा को खिन्न देखकर प्रधान ने उनसे कहा—"अभी आपका २३ वां पुत्र बाकी है; उसे मौका दीजिए।" ऐसा कहकर प्रधान ने सुरेन्द्रदत्त के जन्म का पूर्ण वृतान्त इन्द्रदेव को बताया। राजा के प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। उसने २३ वें पुत्र को राधावेध साधने की आज्ञा दी। पिता, गुरु एवं अग्रजों का स्मरण कर उसने राधावेध साधने में सफलता प्राप्त की। जितशत्रु की पुत्री निवृत्ति कुमारी के साथ ही उसे मथुरा नगरी का राज्य भी प्राप्त हुआ।

राजा के २२ पुत्र राधावेध करने में असफल रहे। कदाचित दैव प्रयोग से उन्हें सफलता मिल भी जाती; लेकिन जो मनुष्य एकबार कर्मच्युत हो मनुष्य भव को हार जाता है, उसे यह जीवन पुनः प्राप्त करना दुर्लभ ही है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

कथा—११ :

कच्छप का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर आठवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

एक हजार योजन प्रमाणवाले एक तालाब में एक] बहुत बड़ा कच्छप अपने परिवार सहित रहता था। तालाब के जलपर सेवाल आच्छादित थे। एक रात्रि को एक फल तालाब में गिरा जिससे सेवाल में छिद्र हो गया। गगनमंडल में चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं से प्रकाशमान थे। नक्षत्र सहित चन्द्र को देखकर कच्छप को महान् विस्मय हुआ। उसने अपने परिवार के सदस्यों को भी चन्द्रदर्शन कराना चाहा, इसलिए जल के अन्दर उन्हें बुलाने गया। जबतक वह कुटुम्बियों को लेकर ऊपर लौटा तबतक हवा के झोंके से पानी पर फिर सेवाल छा गए। कच्छप को पुनः चन्द्रदर्शन नहीं हुए और कुटुम्ब सहित निराश होना पड़ा। जिस प्रकार उस कच्छप के लिए पुनः चन्द्रदर्शन दुर्लभ हुआ उसी प्रकार मानव देहधारी प्राणियों को दुबारा मनुष्य जन्म पाना भी दुर्लभ है।

कथा—१२ :

युग का दृष्टान्त [2]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर नवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

यदि विश्व के सबसे बड़े समुद्र के पूर्व भाग में कोई देवता धूसरा डालें और पश्चिमी छोर पर उसी समुद्र में सामेला डालें तो उस धूसरे के छिद्र में सामेले का प्रवेश मुश्किल है। कदाचित् संयोगवश उनका सम्बन्ध मिल भी जाये लेकिन खोया हुआ मनुष्य-जीवन मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

कथा—१३

परमाणु का दृष्टान्त [3]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर दसवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

एक बार एक देवता ने पत्थर की एक दीवार को अपने वज्र के प्रहार से चूरचूर कर दिया और फिर भस्म सम चूर्ण को एक पर्वत शिखर के ऊपर चढ़कर हवा में उड़ा दिया। यदि किसी व्यक्ति को इन परमाणुओं को फिर से एकत्र करने का कार्य दिया जाय तो यह करना असंभव है। इसी प्रकार एक बार मनुष्य जीवन पाकर खोदेने के बाद इसे फिर से पाना अत्यंत ही दुर्लभ है।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

२—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रिय टीका के आधार पर।

३—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमीचन्द्रिय टीका के आधार पर।

कथा—१४ :

सिंह गुफावासी यति [1]

[इसका संबंध ढाल २ गाथा ७ (पृ० १३) के साथ है]

पाटलिपुत्र नगर में नन्द राजा का प्रधान मंत्री शकडाल था। उसकी भार्या का नाम लांछन देवी था। इससे उसको दो पुत्र हुए। बड़े का नाम स्थूलिभद्र था और छोटे का नाम श्रीयक। श्रीयक नंद राजा के यहाँ अंगरक्षक के रूप में काम करता था। वह राजा का अत्यन्त विश्वासपात्र था। स्थूलिभद्र बड़ा बुद्धिशाली था किन्तु वह कोशा नामकी एक गणिका के प्रेम में फँस गया। यहाँ तक कि अपने घर को छोड़कर वह उस गणिका के घर में ही रहने लगा। इस प्रकार प्रायः बारह वर्ष निकल गये। स्थूलिभद्र ने गणिका के सहवास में प्रचुर धन खोया।

घटनावश राजा के कोप के कारण शकडाल-मंत्री मार डाला गया। राजा नंद ने मंत्री-पद ग्रहण के लिए स्थूलिभद्र को बुला भेजा। जब उसने आकर देखा कि उसका पिता, मंत्री शकडाल मारा गया तो वह बड़ा खिन्न हुआ। वह सोचने लगा—"मैं कितना अभागा हूँ कि वेश्या के मोह के कारण मुझे पिता की मृत्यु की घटना तक का पता नहीं चला! उनकी सेवा सुश्रूषा करना तो दूर रहा, अंतिम समय में मैं उनके दर्शन तक नहीं कर सका। धिक्कार है मेरे जीवन को!" इस प्रकार शोक करते-करते स्थूलिभद्र का हृदय संसार से उदासीन हो गया। मंत्री-पद स्वीकार न कर, वह संभूति विजय नामक आचार्य के पास गया और मुनित्व धारण कर लिया।

जब यह खबर कोशा गणिका के पास पहुंची, उसका हृदय दुःख से भग्न हो गया। अब उसके लिए धीरज के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं था।

एक बार वर्षा काल के समीप आनेपर शिष्य आचार्य संभूति के पास आकर चातुर्मास की आज्ञा मांगने लगे। उस समय एक मुनि ने सिंह की गुफा के द्वारपर उपवास करते हुए चौमासा बिताने का निश्चय किया। दूसरे मुनि ने दृष्टि-विष सर्प के बिल के पास चौमासा करने का निश्चय किया। तीसरे मुनि ने कुएँ की एरण पर कायोत्सर्ग-ध्यान में चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया। जब मुनि स्थूलिभद्र के आज्ञा लेने का अवसर आया तो उन्होंने नाना कामोद्दीपक चित्रों से चित्रित, अपनी पूर्व परिचिता सुन्दरी नायिका कोशा गणिका की चित्रशाला में षट्‌रसयुक्त भोजन करते हुए चातुर्मास करने की आज्ञा माँगी। आचार्य ने आज्ञा प्रदान की, सब साधुओं ने अपने-अपने चातुर्मास के स्थान की ओर विहार किया। मुनि स्थूलिभद्र कोशा गणिका के घर पहुँचे।

स्थूलिभद्र के प्रति कोशा गणिका का आंतरिक प्रेम था। इसलिए दीर्घ काल बीत जाने पर भी वह उन्हें न भूला सकी थी। उनके वियोग में वह जर्जरित हो गई थी। चिरकाल के बाद उनको वापस उपस्थित हुए देखकर उसका रोम रोम हर्षित हो रहा था। मुनि स्थूलिभद्र कोशा की आज्ञा लेकर उसकी चित्रशाला में चातुर्मास के लिए ठहरे। यद्यपि उस समय स्थूलिभद्र मुनि-वेष में थे, फिर भी गणिका को बड़ी आशा बँधी। उसने सोचा—"मेरे यहाँ चातुर्मास करने का और क्या अभिप्राय हो सकता है? इसका कारण उनके हृदय में मेरे प्रति रहा हुआ सूक्ष्म मोह भाव ही है।" यह सोचकर वह मुनि को पूर्व-क्रीड़ाओं का स्मरण कराने लगी। वह नाना प्रकार के शृङ्गार कर तथा उत्तम से उत्तम वस्त्राभूषण पहनकर उनको अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगी। परन्तु गणिका की नाना प्रकार की चेष्टा से भी मनि स्थूलिभद्र किंचित् भी विचलित नहीं हुए। वे सदा धर्म-ध्यान में लीन रहते।

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २ गा० १७ श्री नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

इधर कोशा उन्हें विचलित करना चाहती थी और उधर मुनिवर स्थूलिभद्र उसे प्रतिबोधित करना चाहते थे। जब-जब वह उनके पास जाती, वे उसे विविध उपदेश देते :—

"विषय-सुख चाहे कितने ही दीर्घ समय तक के लिए भोगने को मिल जाय, आखिर एक न एक दिन उनका अन्त अवश्य होता है। ऐसे नाशवान विषयों को मनुष्य खुद क्यों नहीं छोड़ता ? विषय जब अपने आप छूटते हैं, तो मनको अत्यन्त परिताप होता है, परन्तु यदि उनको स्वयं ही प्रसन्नता पूर्वक त्याग दिया जाता है, तो मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है।"

"···धर्म-कार्य से बढ़कर कोई दूसरा श्रेष्ठ कार्य नहीं है। प्राणी-हिंसा से बढ़कर कोई दूसरा जघन्य कार्य नहीं है। प्रेम, राग, मोह से बढ़कर कोई बन्धन नहीं और बोधि (सम्यक्त्व)-लाभ से विशेष कोई लाभ नहीं है।"

मुनि स्थूलिभद्र के उपदेश से कोशा को अन्तर प्रकाश मिला। उनकी अद्भुत जितेन्द्रियता को देखकर उसका हृदय पवित्र भावनाओं से भर गया। अपने भोगासक्त जीवन के प्रति उसे बड़ी घृणा हुई। वह महान् अनुताप करने लगी। उसने मुनि से विनयपूर्वक क्षमा माँगी तथा सम्यक्त्व और बारह व्रत अंगीकार कर वह श्राविका हुई। उसने नियम किया—"राजा के हुक्म से आये हुए पुरुष के सिवाय मैं अन्य किसी पुरुष से शरीर-सम्बन्ध नहीं करूँगी"।

इस प्रकार व्रत और प्रत्याख्यान कर कोशा गणिका उत्तम श्राविका जीवन बिताने लगी।

चातुर्मास समाप्त होनेपर मुनिवर स्थूलिभद्र ने वहां से विहार किया। समय पाकर राजा ने कोशा के पास एक रथिक को भेजा। वह बाण-संधान विद्या में बड़ा निपुण था। अपनी कुशलता दिखलाने के लिए उसने झरोखे में बैठे-बैठे ही बाण चलाने शुरू किये और उनका एक ऐसा तांता लगा दिया कि उनके सहारे से उसने दूर के आम्र वृक्ष की फल सहित डालियों को तोड़-तोड़ कर उसे कोशा के घर तक खींच लिया।

इधर कोशा ने भी अपनी कला दिखलाने के लिए आँगन में सरसों का ढेर करवाया, उस पर एक सुई टिकाई और एक पुष्प रखकर नयनाभिराम नृत्य करना शुरू किया। नृत्य को देखकर रथिक चकित हो गया। उसने प्रशंसा करते हुए कोशा से कहा—"तुमने बड़ा अनोखा काम किया है"।

यह सुनकर कोशा बोली—"न तो बाण-विद्या से दूर बैठे आम की लूंब तोड़ लाना ही कोई अनोखा काम है और न सरसों के ढेर पर सुई रखकर और उस पर फूल रखकर नाचना ही। वास्तव में अनोखा काम तो वह है जो महा श्रमण स्थूलिभद्र मुनि ने किया।

"वे प्रमदा-रूपी वन में निशंक विहार करते रहे, फिर भी मोह प्राप्त होकर भटके नहीं।

"अग्नि में प्रवेश करने पर भी जिन्हें आंच नहीं लगी; खड्ग की धार पर चलने पर भी जो छिद नहीं गए, काले नाग के बिल के पास वास करने पर भी जो काटे नहीं गए और काल के घर में वास करने पर भी जिन्हें दाग नहीं लगा, ऐसे असिधारा व्रत को निभाने वाले, नर-पुंगव स्थूलिभद्र तो एक ही हैं। धन्य है उन्हें।"

"भोग के सभी अनुकूल साधन उन्हें प्राप्त थे। पूर्व परिचित वेश्या और वह भी अनुकूल चलनेवाली, षट्रस युक्त भोजन, सुन्दर महल, युवावस्था, सुन्दर शरीर और वर्षा ऋतु—इनके योग होने पर भी जिन्होंने असीम मनोबल का परिचय देते हुए काम-राग को पूर्ण रूप से जीता और भोग रूपी कीचड़ में फँसी हुई मुझ जैसी गणिका को अपने उच्चादर्श और उपदेश के प्रभाव से प्रति बोधित किया; उन कुशल महान आत्मा स्थूलिभद्र मुनि को मैं नमस्कार करती हूँ।

"कामदेव ! तू ने नंदीषेण, रथनेमि और आर्द्रकुमार मुनीश्वर की तरह ही स्थूलिभद्र मुनि को समझा होगा और सोचा होगा कि ये भी उनके ही साथी होंगे, परन्तु तू ने यह नहीं जाना कि ये मुनीश्वर तो रणांगन में तुम्हें परास्त कर नेमिनाथ, जम्बु मुनि और सुदर्शन सेठ की श्रेणी में आसीन होंगे।

"हम तो भगवान् नेमिनाथ से भी बढ़कर योद्धा मुनि स्थूलिभद्र को मानते हैं। भगवान् नेमिनाथ ने तो गिरनार दुर्ग का आश्रय लेकर मोह को जीता; परन्तु, इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखनेवाले स्थूलिभद्र मुनि ने तो साक्षात् मोह के घर में प्रवेश कर उसको जीता।

"पर्वत पर, गुफा में, वन में या इसी प्रकार अन्य किसी एकान्त स्थान में रहकर इन्द्रियों को वश में करने वाले हजारों हैं परन्तु अत्यन्त विलासपूर्ण भवन में, लावण्यवती युवती के समीप में रहकर, इन्द्रियों को वश में रखनेवाले तो शकडाल-नन्दन स्थूलिभद्र एक ही हुए।"

इस प्रकार स्तुति कर कोशा ने स्थूलिभद्र मुनि की सारी कथा रथिक को सुनायी।

स्तुति-वचनों से रथिक को प्रतिबोध प्राप्त हुआ और स्थूलिभद्र के पास जा उसने मुनित्व धारण किया।

(२)

वर्षा-ऋतु समाप्त होने पर चातुर्मास के लिए गये हुए साधु वापस लौटे। आचार्य संभूति ने प्रत्येक शिष्य का यथोचित शब्दों में अभिवादन किया और कठिन काम पूरा कर आने के लिए बधाई दी। बाद में स्थूलिभद्र भी आये। जब उन्होंने प्रवेश किया तो आचार्य उनके स्वागत के लिए खड़े हो गये और "कठिन से कठिन करनी—कार्य करनेवाले तथा 'महात्मा' आदि अत्यन्त प्रशंसासूचक सम्बोधनों से उनका अभिवादन किया। यह देखकर सिंह गुफावासी मुनि के चित्त में ईर्ष्या का संचार हुआ। वह विचारने लगा—"वेश्या के यहाँ षट् रस खाकर रहना इतना क्या कठिन है कि स्थूलिभद्र का ऐसा अनन्य सन्मान ?"

देखते-देखते दूसरा चातुर्मास आगया। जिस साधु ने गत चातुर्मास के अवसर पर सिंह की गुफा के सामने तपस्या करने का नियम लिया था, उसने कोशा के यहाँ चातुर्मास करने की इच्छा प्रगट की। आचार्य वास्तविक कठिनाई को समझते थे, इसलिए उन्होंने अपनी ओर से अनुमति नहीं दी। परन्तु, शिष्य के अत्यन्त आग्रह को देखकर, शेष तक सुफल की आशा से, बाधा भी न दी। मुनि विहार कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए पाटलिपुत्र नगर में पहुंचे एवं कोशा से यथा नियम आज्ञा प्राप्त कर उसकी चित्रशाला में ठहरे।

मुनि अपने को सम्पूर्ण जितेन्द्रिय समझता था। अपने मनोबल पर उसे आवश्यकता से अधिक भरोसा था। वह अपने को अजेय समझता था। परन्तु कोशा के स्वाभाविक शरीर-सौंदर्य को देखकर वह पहली ही रात्रि में विषय-विह्वल हो गया और कोशा से विषय-भोग की प्रार्थना करने लगा।

प्रतिबोध प्राप्त श्राविका ने क्षण भर में ही अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। उसने कहा—"यदि मुझे नेपाल के राजा के यहाँ से रत्न-कम्बल लाकर दे सकें, तो मैं आपको अवश्य अंगीकार कर सकती हूँ।"

विषय वासना में साधु अत्यन्त आसक्त हो रहा था। उसे चातुर्मास तक का ध्यान न रहा। वह उसी समय विहार कर अनेक कठिनाइयों को झेलता हुआ नेपाल पहुंचा और बहुत कष्ट से रत्न-कम्बल प्राप्त कर कोशा के पास लौटा। मुनि ने बड़ी व्यग्रता और प्रेम के साथ कम्बल कोशा को भेंट की।

कोशा ने बड़े प्रेम और हर्ष के साथ उसे ग्रहण किया। मुनि के हिम्मत की बड़ी प्रशंसा की और रत्न कम्बल को बहुत सराहनीय बताया। ऐसा करने के बाद कोशा ने मुनि को देखते-देखते ही उस कम्बल से अपने पैर पोंछकर उसी समय उसे गन्दे नाले में फेंक दिया।

यह सब देखकर मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला—इतनी मिहनत से प्राप्त कर लाई हुई इस बहुमूल्य रत्न कम्बल से पैर पोंछकर नाले में फेंकते हुए क्या तुम्हें जरा भी विचार नहीं आया ?"

कोशा ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया—"हे मुनि! इस रत्न-कम्बल को गंदे नाले में फेंक देने से आपको इतना कष्ट हुआ, परन्तु आप तो अनुपम चारित्र-रत्न को गँवाकर अपनी आत्मा को नरक में फेंक रहे हैं, क्या इसका भी आपको फिक्र है ? आप जितनी बड़ी गलती करने जा रहे हैं, उतनी तो मैंने नहीं की।"

"ज्येष्ठ व्रत - ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पर्वत के भार को वहन करना है। उसे वहन करने में अत्यन्त उद्यमी मुनि भी युवती के संसर्ग से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से यतित्व से भ्रष्ट हो जाते हैं।"

"चाहे कोई कायोत्सर्गधारी हो, चाहे मौनी, चाहे कोई मुण्डित मस्तक वाला हो, चाहे कोई वल्कल के वस्त्र पहिनने वाला हो अथवा चाहे कोई अनेक प्रकार के तप करनेवाला हो—यदि वह मैथुन की प्रार्थना—कामना करनेवाला है, तो चाहे वह ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह मुझे प्रिय नहीं।"

जो अकुलीन के संसर्ग रूप आपदा में पड़ने पर भी, और स्त्री के आमंत्रित करने पर भी, अकार्य कुकृत्य की ओर नहीं बढ़ता, उसी का पढ़ना, गुनना, जानना और आत्मस्वरूप का चिन्तन करना प्रमाण समझना चाहिए।"

"वही पुरुष धन्य है, वही पुरुष साधु है, वही पुरुष नमस्कार के योग्य है जो अकार्य से निवृत्त है और असि-धार सदृश—खड्ग की धार पर चलने जैसे कठिन व्रत—चतुर्थ व्रत का स्थूलिभद्र मुनि की तरह धीरता पूर्वक पालन करता है।"

कोशा की इन सारगर्भित बातों को सुनकर मुनि की आँखें खुलीं। तुमुल अंधकार में आलोक हुआ। कोशा के प्रति मुनि का हृदय कृतज्ञता से भर आया। वह बोला :—"कोशा तू धन्य है। तूने मुझे भव-कूप से बचा लिया। अब मैं पाप से आत्मा को हटाता हूँ। तुमसे मैं क्षमा चाहता हूँ।"

कोशा बोली—"मुनि! मैंने आपको संयम में स्थिर करने के लिए ही यह सब किया है। मैं श्राविका हूँ। हे मुनि! अब आचार्य के पास शीघ्र जाकर अपने दुष्कृत्य का प्रायश्चित्त अंगीकार करें और भविष्य में गुणवान् के प्रति ईर्ष्या-भाव न रखें।"

मुनि आचार्य के पास लौटे। अवज्ञा के लिए क्षमा-याचना की। अपने दुष्कृत्य की निन्दा करते हुए प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुए।

कोशा गणिका होकर भी उत्तम श्राविका निकली। वह ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ रही और उसके बल से चलचित्त मुनि को भी उसने फिर से संयम में दृढ़ कर दिया।



कुलवालुडा [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल २ गाथा ८ (पृष्ठ १३) के साथ है]

आचार्य के समस्त गुणों से युक्त एक आचार्य थे। उनके अनेक शिष्य थे जिनमें एक अविनीत शिष्य भी था। वह सदैव आचार्य के दोषों की ही खोज किया करता था। आचार्य उसके आत्म-सुधार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते और अन्य शिष्यों के साथ-साथ उसे भी ज्ञानाभ्यास करवाते थे।

एक समय आचार्य शिष्य-परिवार के साथ विहार कर रहे थे। बीच में पर्वत को पार करने के समय कुछ शिष्य पीछे रह गये और कुछ आगे बढ़ गये। आचार्य केवल अकेले ही पर्वत से नीचे उतर रहे थे। पीछे अविनीत शिष्य आ रहा था। उसने आचार्य को पर्वत से नीचे उतरते हुए देखा। आचार्य को अकेला जानकर उसने उनकी हत्या करने का विचार कर लिया। इस विचार से उसने एक बड़ा पत्थर पहाड़ पर से नीचे लुढ़काया। पत्थर की गड़गड़ाहट सुनकर आचार्य ने पीछे मुड़कर देखा तो मालूम हुआ कि कुपात्र शिष्य ने उनकी हत्या के लिए पत्थर लुढ़काया था। उसी समय उन्होंने अपने दोनों पाँव फैला दिये। पत्थर दोनों पाँव के बीच से निकल गया। आचार्य के प्राण बच गए। शीघ्रता से चलकर वे अपने शिष्यसमूह में मिल गये। उन्होंने सारी बात शिष्यों से कही। यह बात सुनकर सभी अविनीत शिष्य का तिरस्कार करने लगे, किन्तु उसने तो आचार्य को ही दोषी बताया और अपना सारा अपराध उन्हीं के सिर पर डाल दिया।

आचार्य बहुत समताधारी थे, फिर भी "उलटा चोर कोतवाल को डाँटे" की कहावत को चरितार्थ होते देखकर उन्हें उसके व्यवहार पर क्रोध आया। उन्होंने उसे श्राप दिया "जा तेरा पतन एक स्त्री से होगा और तू अनन्त संसारी बनेगा।" ऐसा सुनकर शिष्य उलटा आचार्य की मखौल करने लगा। अन्य शिष्यों ने उस कुपात्र शिष्य की अधिक उद्दंडता पूर्ण हरकतें देखी तो उसे संघ से निकाल दिया।

वहाँ से निकल कर वह वेणी नदी के तट पर तापस के आश्रम में रहने लगा। वह कठोर तप करने लगा। आने-जाने वाले पथिकों से शुद्ध आहार-पानी ग्रहण कर संयम का पालन करने लगा। वर्षाकाल आया। एक दिन इतनी अधिक वर्षा हुई कि नदी में जोरों की बाढ़ आ गई। इससे गाँव और आश्रम को खतरा पहुँचने लगा किन्तु उस तपस्वी की तप-साधना से पानी का प्रवाह आश्रम को बचाते दूसरी तरफ बह निकला। आश्रम खतरे से बच गया और समस्त आश्रम वासी निर्भय हो गये। लोगों ने जब यह चमत्कार देखा तो उस तपस्वी से बहुत प्रभावित हुए और उस तपस्वी का नाम 'कुलवालुडा'—नदी के प्रवाह को बदलनेवाला रखा। सब लोग उसको कुलवालुडा ही कहने लगे।

उस समय राजगृही नगर में महाराजा श्रेणिक ने अपने पुत्र हल-विहल कुमार को सिंचानक हस्ती व वंकचूड़ामणि नाम का अठारहसरा हार दिया। कोणिक कुमार ने अपने पिता की हत्या कर राज्य के ग्यारह हिस्से कर ग्यारह भाइयों में बाँट दिये और स्वयं एक हिस्से पर राज्य करने लगा था। पिता की हत्या से उसको बहुत पश्चाताप हुआ। उसने राजगृही को छोड़कर चंपा नगरी को अपनी राजधानी बना ली।

एक समय रानी पद्मावती ने सिंचानक गंध हस्ती के साथ हल-विहल कुमार को आनन्द करते हुए देखा। उसके दिल में हार हाथी को प्राप्त करने की इच्छा हुई। उसने अपने पति कोणिक से यह बात कही। कोणिक ने रानी को

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १ गा० ३ की श्री नेमिचन्द्रिय टीका एवं 'उत्तराध्ययन सूत्र की चौरासी कथा' के आधार पर।

बहुत समझाया और कहा—"पिताजी ने स्वयं अपने हाथ से हार और हाथी को दे दिया तब हमें उसे मांगने का क्या अधिकार है ?" स्त्री का हठ जबर्दस्त होता है। उसने राजा की एक नहीं सुनी। अपने आग्रह पर दृढ़ रही। अन्त में कोणिक को रानी की बात माननी पड़ी।

कोणिक राजा ने हल-विहल कुमार को कहला भेजा—"हार और हाथी तो राज्य की शोभा हैं, अतः वे मेरे पास ही रहेंगे। उन्हें राज्य के कोष में हाजिर किया जाये।" उत्तर में हल-विहल कुमार ने कहलाया—"अगर हमें राज्य का हिस्सा मिल जाय तो हम हार और हाथी को देने के लिए तैयार हैं, अन्यथा नहीं।" कोणिक ने कहा—"मेरे राज्य का सूई जितना हिस्सा भी नहीं मिलेगा और तुमको हार और हाथी देना पड़ेगा।"

हल-विहल कुमार ने देखा कि यहाँ रहने से न हार-हाथी ही रहेगा और न राज्य का ही हिस्सा मिलेगा। ऐसा सोचकर दोनों ही अपने नाना चेटक राजा के पास चले गये।

जब राजा कोणिक को यह मालूम हुआ तो उसने राजा चेटक को दूत के द्वारा यह कहला भेजा—"हार और हाथी के साथ हल-विहल कुमार को मेरे पास भेज दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।" चेटक ने उत्तर में कहला भेजा—"चेटक किसी भी मूल्य पर शरणागत की रक्षा करेगा। वह हल-विहल को नहीं भेज सकता। युद्ध के लिए किया गया आह्वान स्वीकार्य है।"

कोणिक राजा ने अपने ग्यारह भाइयों के साथ विशाल चतुरंगिणी सेना को लेकर विशाला नगरी पर चढ़ाई कर दी। इधर चेटक भी नौ मल्ली और नौ लिच्छवी, इस तरह १८ देशों के राजाओं की सहायता लेकर कोणिक का सामना करने के लिए तैयार था। परस्पर युद्ध चालू हो गया। चेटक ने कोणिक के दस भाइयों को अपने शक्तिशाली बाणों से मार दिया। दो दिनों में १ करोड़ ८० लाख सेना का संहार हो गया।

कोणिक घबड़ा गया और उसने अपने पूर्व-भव के मित्र चमरेन्द्र को याद किया। चमरेन्द्र के प्रकट होने पर कोणिक ने उसे अपनी रक्षा के लिए कहा और चेटक को किसी भी उपाय से मार डालने की बात कही। चमरेन्द्र ने कहा—"चेटक मेरा धर्म मित्र है। अतः मैं उसकी हत्या नहीं करवा सकता ; किन्तु तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ।" ऐसा कह चमरेन्द्र ने उसे वज्रकोट दिया। कोणिक उसे पहनकर युद्ध करने लगा।

चेटक राजा जो बाण मारता था इन्द्र के प्रभाव से वह कोणिक को नहीं लगता था। चेटक के बाणों की निष्फलता देख सेना घबड़ा गई और उसमें भगदड़ मच गई। चेटक भी घबड़ाकर नगर में घुस गया और नगर के फाटक बन्द करवा दिये।

कोणिक ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं विशाला नगरी में गदहे से हल चलाऊँगा। उसने नगरी को सेना से घेर लिया। वह बहुत दिनों तक घेरा डाले रहा, पर कोट को तोड़ने का भरसक प्रयत्न करने पर भी वह उसे भङ्ग नहीं कर सका। इससे वह बहुत आकुल-व्याकुल होने लगा।

नैमित्तिक ने बताया कि जब कुलबालुडा मागधिका नाम की वेश्या से भ्रष्ट होगा तब चेटक की विशाला नगरी कोणिक के अधीन हो सकती है।

कोणिक ने मागधिका वेश्या को बुलाकर कुलबालुडा को वश में करने का आदेश दिया। राजा का आदेश पाकर मागधिका कुलबालुडा की कृत्रिम श्राविका बन उसके पास आने-जाने लगी।

एक दिन कुलबालुडा साधु छद्मवेषा मागधिका वेश्या के अनुरोध से उसके घर गोचरी के लिए गया। वेश्या ने पहले ही साधु के आहार में औषधि मिला रखी थी। उस आहार को लेकर साधु स्वस्थान आया और उसने वह आहार खा लिया। औषधि के कारण उसे वस्त्र में ही दस्तें लगने लगीं और वह बेहोश हो गया।

छद्मवेषा मागधिका साधु के स्थान में जा उसकी परिचर्या करने लगी। उसने साधु के वस्त्रों एवं शरीर को धोकर साफ किया। साधु की बेहोशी को मिटाने के लिए वह उसके अंग-प्रत्यङ्ग को मसलने लगी। साधु को होश हुआ तब अपने समीप एक नारी को बैठी हुई देख कर वह बोला—"तुम यहाँ किस लिए बैठी हो ?" वेश्या ने कहा—स्वामी ! आप मूर्च्छित अवस्था में पड़े हुए थे। आपका शरीर और वस्त्र मल-मूत्र से भर गया था। ऐसी अवस्था में आपकी सेवा करना मेरा कर्तव्य था। यही सोचकर मैंने आपके वस्त्रों एवं शरीर को साफ कर दिया और आपकी बेहोशी को मिटाने के लिए हाथ और पैर मसलने लगी। अब आपको होश हुआ है आप मुझसे किसी भी प्रकार का संकोच न करें। आप तो महापुरुष हैं, मैं आपकी सेवा से घृणा कैसे कर सकती हूँ ? आप जब तक स्वस्थ न हो जांय तब तक आपकी सेवा करना चाहती हूँ। अपनी सेवा से मुझे वंचित न रखें।" इस प्रकार मागधिका ने मधुर वचनों एवं हाव-भाव से कुलवालुडा साधु के चित्त को मोह लिया। वेश्या के संग से साधु भ्रष्ट हो गया। उसने अपने हाव-भावों से कुलवालुडा को अपने वश में कर लिया। कुलवालुडा अपने तप से भ्रष्ट होकर मागधिका वेश्या से भोग भोगने लगा। एक दिन वेश्या ने कहा—"अब आपको कमा कर लाना चाहिए।" तब उसने ज्योतिषी का धंधा शुरू कर दिया।

ज्योतिषी कुलवालुडा एक दिन कोणिक राजा के पास गया। कोणिक ने उसे पूछा—"बताओ कौन-सा उपाय करने से विशाला नगरी मेरे अधीन हो सकती है ?" तब उसने निमित्त शास्त्र से बताया कि विशाला नगरी में जो स्तंभ गड़ा है, वह अच्छे मुहूर्त्त में गड़ा है। अगर उस स्तंभ को उखाड़ दिया जाय तो नगरी तुम्हारे अधीन हो सकती है।

कुलवालुडा विशाला नगरी में घूमता हुआ लोगों से यह कहने लगा कि इस स्तम्भ का अब समय हो गया है। इसको उखाड़ देने से नगर का संकट दूर हो सकता है। लोगों ने उसपर विश्वास कर लिया और स्तंभ को उखाड़ना शुरू कर दिया।

उसने कोणिक से कह दिया कि जब ये लोग स्तंभ को उखाड़ने लगें तब अपनी सेना को वहाँ से हटाकर दूर ले जाना और बाद में अचानक हमला बोल देना। कोणिक ने ऐसा ही किया।

विशाला नगर-वासियों को यह विश्वास हो गया कि स्तंभ को मूल से उखाड़ देने से कोणिक की सेना हट गई।

समय पाकर कोणिक ने पुनः हमला बोल दिया और विशाला नगरी का पतन हो गया। कोणिक ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार विशाला नगरी में गदहे से हल चलाया।

व्रत की आराधना कर चेटक देवलोक गया। हल-विहल कुमारों ने दीक्षा ले ली। हाथी अग्नि-कुण्ड में पड़कर मर गया और कुलवालुडा मर कर नरक में गया।



मल्लि [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ३ गा० ७ (पृ० १९) के साथ है]

विदेह की राजधानी मिथिला में कुम्भ नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम प्रभावती था। उसके मल्लदिन्न नाम का एक राजकुमार और मल्लि नाम की एक पुत्री थी।

मल्लि का सौंदर्य अनुपम था। उसके केश काले थे। नेत्र अत्यन्त सुन्दर थे। बिम्ब फल की तरह उसके अधर लाल थे। उसके दाँतों की पँक्तियाँ श्वेत थीं। उसका शरीर श्रेष्ठ कमल के गर्भ की कान्तिवाला था। उसका श्वासोच्छ्वास विकस्वर कमल की तरह सुगन्धित था।

देखते-देखते मल्लिकुमारी बाल्यावस्था से मुक्त हुई एवं रूप में, यौवन में, लावण्य में, अत्यन्त उत्कृष्ट शरीरवाली हो गयी।

उस समय अंग नाम का एक जनपद था। उसमें चंपा नाम की नगरी थी। वहाँ राजा चन्द्रच्छाय राज्य करता था। उस नगरी में बहुत से नौ-वणिक् (नौका द्वारा व्यापार करनेवाले) रहते थे जो समृद्धिशाली और अपरिभूत थे। वे बार-बार लवण-समुद्र की यात्रा करते थे। उनमें अर्हन्नक नामक एक श्रमणोपासक था।

एक बार समुद्र-यात्रा से लौटते समय अर्हन्नकादि नौ-यात्रिक दक्षिण दिशा में स्थित मिथिला नगरी पहुँचे। उन्होंने उद्यान में अपना पड़ाव डाला। बहुमूल्य उपहार एवं कुण्डल युगल लेकर वहाँ के राजा कुम्भ की सेवा में पहुंचे और हाथ जोड़कर विनय पूर्वक उन्होंने वह भेंट महाराजा को प्रदान की।

महाराजा कुम्भ ने मल्लिकुमारी को बुला दिव्य कुण्डल उसे पहना दिया। इसके बाद उन्होंने अर्हन्नादिक वणिकों का बहुत सम्मान किया। महसूल माफकर उन्हें रहने के लिए एक बड़ा आवास दे दिया। वहाँ कुछ दिन व्यापार करने के बाद उन्होंने अपने जहाजों में चार प्रकार का किराना भरकर समुद्र-मार्ग से चंपानगरी की ओर प्रस्थान कर दिया।

चम्पा नगरी में पहुंचने पर उन्होंने बहुमूल्य कुण्डल-युगल वहाँ के महाराजा चन्द्रच्छाय को भेंट किया। अंगराज चन्द्रच्छाय ने भेंट को स्वीकार कर अर्हन्नकादि श्रावकों से पूछा—"तुम लोग अनेकानेक ग्राम-नगरों में घूमते हो। बार-बार लवण समुद्र की यात्रा करते हो। बताओ, ऐसा कोई आश्चर्य है जिसे तुमने पहली बार देखा हो।" अर्हन्नक श्रमणोपासक बोला—"हम लोग इस बार व्यापारार्थ मिथिला नगरी भी गये थे। वहाँ हमलोगों ने कुम्भ महाराज को दिव्य-कुंडल-युगल भेंट की। महाराजा ने अपनी पुत्री मल्लिकुमारी को बुलाकर वे दिव्य कुंडल उसे पहना दिये। मल्लिकुमारी को हमने वहाँ एक आश्चर्य के रूप में देखा। विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्लिकुमारी जितनी सुन्दर है उतनी सुन्दर देवकन्यायें भी नहीं देखी जाती।"

महाराज चन्द्रच्छाय ने अर्हन्नकादि व्यापारियों का सत्कार सम्मान कर उन्हें विदा किया।

व्यापारियों के मुख से मल्लिकुमारी की ऐसी प्रशंसा सुनकर महाराज चन्द्रच्छाय उसपर अनुरक्त हो गये। दूत को बुलाकर कहा—"तुम मिथिला नगरी जाओ और जाकर कुम्भराजा से मल्लिकुमारी को मेरी भार्या के रूप में मंगनी करो। अगर कन्या के बदले में वे मेरे राज्य की भी मांग करें, तो स्वीकार कर लेना।" महाराजा का सन्देश लेकर दूत मिथिला पहुंचा।

१—ज्ञाताधर्म अ० ८ के आधार पर

उस समय कोशल जनपद में साकेतपुर नाम का नगर था। वहाँ इक्ष्वाकु वंश के प्रतिबुद्धि नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। राजा के प्रधान मंत्री का नाम सुबुद्धि था। वह साम, दाम, दण्ड और भेद नीति में कुशल और राज्य धुरा का शुभ चिन्तक था। उस नगर के ईशान कोण में एक विशाल नाग गृह था।

एक बार नाग महोत्सव का दिन आया। महारानी पद्मावती ने राजा प्रतिबुद्धि से निवेदन किया—"स्वामी! कल नागपूजा का दिन है। आपकी इच्छा से उसे मनाना चाहती हूँ। उसमें आपको भी साथ जाना होगा।"

राजाने पद्मावती देवी की प्रार्थना स्वीकार की। इसके बाद महारानी ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर कहा—"तुम माली को बुलाकर कहो कि कल पद्मावती देवी नागपूजा करेगी। अतः जल-थल में उत्पन्न होनेवाले विकस्वर, पंचवर्णी पुष्पों एवं एक श्रीदाम महाकाण्ड को नागगृह में रखो। जल-थल में उत्पन्न विकस्वर पंचवर्णी पुष्पों को विविध प्रकार से सजाकर एक विशाल पुष्प-मंडप बनाओ। उसमें फूलों के अनेक प्रकार के हंस, मृग, मयूर, क्रौंच, सारस, चक्रवाक, मैना, कोयल, दूहामृग, वृषभ, घोड़ा, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, मृग, अष्टापद, चमरी गाय, हाथी, वनलता एवं पद्मलता के चित्रों को सजाओ। उस पुष्पमंडप के मध्य भाग में सुगन्धित पदार्थ रखो एवं उसमें श्रीदामकाण्ड लटकाओ और पद्मावती देवी की प्रतीक्षा करते हुए रहो।" कौटुम्बिक पुरुषों ने वैसा ही किया।

प्रातः महारानी की आज्ञानुसार सारे नगर की सफाई की गई, सुगन्धित जल सारे नगर में छिड़का गया।

महारानी ने स्नान किया एवं सर्व वस्त्रालंकारों से विभूषित हो धार्मिक यान पर बैठी। नगर के मध्य होती हुई वह पुष्करणी के पास आई। पुष्करणी में प्रवेश कर महारानी ने स्नान किया और गीली साड़ी पहने ही कमल पुष्पों को ग्रहण कर पुष्करणी से निकल कर नागगृह में आई। वहाँ उसने सर्वप्रथम लोमहस्तक से नागप्रतिमा का प्रमार्जन किया और उसकी पूजा की। फिर महाराजा की प्रतीक्षा करने लगी।

इधर प्रतिबुद्धि महाराज ने भी स्नान किया। फिर सर्व अलंकार पहनकर सुबुद्धि प्रधान के साथ हाथी पर बैठकर जहाँ नागगृह था, वहाँ आये। हाथी से नीचे उतरकर सुबुद्धि प्रधान के साथ नागगृह में प्रवेश किया। दोनों ने नागप्रतिमा को प्रणाम किया। नागगृह से निकलकर वे पुष्प-मंडप में आये और श्रीदामकाण्ड को देखा। उसकी रचना को देखकर महाराजा विस्मित हुए और अमात्य से कहा—"सुबुद्धि! तुम मेरे दूत के रूप में अनेक ग्राम-नगरों में घूमे हो। राजा-महाराजाओं के घर में प्रवेश किया है। कहो, आज तुमने पद्मावती देवी का जैसा श्रीदामकाण्ड देखा, वैसा अन्यत्र भी कहीं देखा है ?"

सुबुद्धि बोला—"स्वामी! एक दिन आपके दूत के रूप में मैं मिथिला नगरी गया था। वहाँ विदेहराज की पुत्री, प्रभावती की आत्मजा, मल्लिकुमारी का संवत्सर प्रतिलेखन महोत्सव था। उस दिन मैंने पहले-पहल जो श्रीदाम काण्ड देखा, पद्मावती देवी का यह श्री दामकाण्ड उसके लाखवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकता। महाराज ने पूछा—"वह विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी रूप में कैसी है ?" मन्त्री ने कहा—"स्वामी! विदेह राजा की श्रेष्ठ कन्या मल्लिकुमारी सुप्रतिष्ठित, कूर्मोन्नत और चारुचरणा है। वह रूप और लावण्य में अत्यन्त सम्पन्न तथा वर्णनीय है।"

मंत्री के मुख से मल्लिकुमारी के रूप की प्रशंसा सुनकर महाराज प्रतिबुद्धि ने हर्षित होकर दूत बुलाकर कहा—"तू मिथिला राजधानी जा। वहाँ विदेहराज की मल्लि नाम की श्रेष्ठ कन्या है। मेरी भार्या के रूप में उसकी मँगनी कर। अगर इसके लिए मुझे समस्त राज्य भी देना पड़े तो स्वीकार कर लेना।"

इसके बाद उस दूत ने चार घंटा वाले अश्वरथ पर आरूढ़ होकर अपने अनेक सुभटों के साथ मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

उस समय कुणाल नाम का एक जनपद था; जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी। वहाँ रुप्पी राजा का शासन था।

धारणी उसकी रानी थी तथा सुवाहु उसकी कन्या। वह रूप, यौवन और लावण्य में उत्कृष्ट थी। उसका शरीर उत्कृष्ट था। सुवाहु कन्या के चातुर्मासिक स्नान महोत्सव का दिन आया जानकर महाराज ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर आज्ञा दी—"कल सुवाहु कुमारी का चातुर्मासिक स्नान है। इसलिए जल-थल में उत्पन्न होनेवाले पंचवर्णीय पुष्पों का मण्डप बनाओ और उसमें श्रीदामकाण्ड लटकाओ।"

कौटुम्बिक पुरुषों ने वैसा ही किया।

महाराजा ने स्वर्णकारों को बुलाकर कहा—"शीघ्र ही राजमार्ग के बीच पुष्प-मण्डप में विविध प्रकार के पाँच वर्णों के चावलों से नगर का चित्र आलेखित करो और उसके मध्य भाग में बाजोट रखो।"

स्वर्णकारों ने महाराज की आज्ञा का पालन किया।

इसके बाद महाराजा गन्ध हस्ति पर आरूढ़ हो कोरंट पुष्पों से सजे हुए छत्र-चँवर को धारण कर, चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित हो, राजकुमारी सुवाहु को आगे बैठाकर नगर के मध्य होते हुए पुष्प-मण्डप में पहुँचे। वहाँ पहुँचकर महाराजा हाथी से नीचे उतरे और पूर्व दिशा की ओर मुँहकर सिंहासन पर आसीन हुए।

अंतःपुर की स्त्रियों ने सुवाहु कन्या को पाट पर बैठाकर सोने और चाँदी के कलशों से नहलाया। फिर उसे सर्व वस्त्रालंकारों से सुसज्जित कर पिता को नमस्कार करने के लिए भेजा। राजकुमारी ने पिता के चरणों में नमस्कार किया। पिता ने उसे अपनी गोद में बिठा लिया। आलंकारों से सज्जित पुत्री के रूप-यौवन को देखकर महाराजा विस्मित हुए। अपने मंत्री वर्षधर को बुलाकर वे बोले—"मंत्री! तुम अनेक ग्राम, नगर तथा राजा-महाराजाओं के पास कार्यवश जाते हो। यह बताओ कि आज सुवाहु कुमारी का जैसा चातुर्मासिक स्नान महोत्सव हुआ है, वैसा पहले भी कहीं देखा है?"

मंत्री ने कहा—"स्वामी! मैं आपके कार्य के लिए दूत बनकर किसी समय मिथिला नगरी गया था। वहाँ कुम्भ राजा की पुत्री, प्रभावती देवी की आत्मजा, मल्लिनामकी राजकुमारी का स्नान-महोत्सव देखा। उस स्नान-महोत्सव के सामने सुवाहुकन्या का स्नान-महोत्सव लाखवें हिस्से की भी बराबरी नहीं कर सकता।" इसके बाद मंत्री ने मल्लिकुमारी के रूप का वर्णन किया।

मंत्री के मुख से मल्लिकुमारी की प्रशंसा सुनकर राजा उसकी ओर आकर्षित हो गया और राजकुमारी की मँगनी के लिए अपना दूत कुम्भ राजा के पास मिथिला भेजा।

उस समय काशी नामक जनपद में वाराणसी नाम की नगरी थी। वहाँ शंख नामक राजा का राज्य था।

एक बार मल्लिकुमारी के दिव्य कुण्डल युगल का संधि भाग टूट गया। महाराजा ने नगर के समस्त स्वर्णकारों को बुलाकर कुण्डल युगल को जोड़ने की आज्ञा दी।

स्वर्णकारों ने बहुत प्रयत्न किया, पर वे कुंडल को जोड़ने में असमर्थ रहे। तब क्रुद्ध महाराजा ने उन समस्त स्वर्णकारों के देश निकाले का आदेश दिया। स्वर्णकार काशी देश की राजधानी वाराणसी पहुंचे। वहाँ के राजा को बहुमूल्य उपहार भेंटकर कहने लगे—"स्वामी! हमलोगों को मिथिला नगर के कुंभ राजा ने देश निष्कासन की आज्ञा दी है। वहाँ से निर्वासित होकर हमलोग यहाँ आये हैं। हमलोग आपकी छत्र-छाया में निर्भय होकर सुखपूर्वक रहने की इच्छा करते हैं।"

काशी-नरेश ने स्वर्णकारों से पूछा—"कुंभ राजा ने आपको देश निकाले की आज्ञा क्यों दी?" स्वर्णकारों ने उत्तर दिया—"स्वामी! कुंभ राजा की पुत्री मल्लिकुमारी का कुंडल युगल टूट गया। हमें जोड़ने का कार्य सौंपा गया किन्तु हम लोग उसके संधिभाग को जोड़ नहीं सके, जिससे क्रुद्ध हो महाराजा ने देश निकाले की आज्ञा दी है!"

शंख राजा बोला—"मल्लिकुमारी कैसी है ?" स्वर्णकारों ने कहा—"स्वामी ! दूसरी ऐसी कोई देवकन्या या नाग कन्या भी नहीं जो मल्लिकुमारी के रूप की बराबरी कर सके।"

महाराज शंख मल्लि कुमारी के प्रति आसक्त हो गया। उसने अपने दूत को बुलाकर कहा—"तुम शीघ्र ही मिथिला पहुँच कर मेरी भार्या के रूप में मल्लि कुमारी की माँग करो। अगर इसके लिए राज्य भी देना पड़े तो भी मेरी ओर से स्वीकार करना।"

महाराजा की आज्ञा पाकर दूत ने मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

मिथिला के कुम्भ राजा का पुत्र मल्लदिन्न था। उसने अपने उद्यान में एक सभा-भवन का निर्माण कराया। एक बार नगर के समस्त चित्रकारों को बुलाकर उसने अपने सभा-भवन को चित्रित करने की आज्ञा दी। चित्रकारों ने राजकुमार की आज्ञा शिरोधार्य कर काम शुरू किया। उन चित्रकारों में एक चित्रकार को ऐसी लब्धि थी कि वह किसी भी पदार्थ का एक भाग देखकर उस सम्पूर्ण पदार्थ का यथावत् चित्र अंकित कर सकता था।

एक दिन उस चित्रकार ने पर्दे के छिद्र से मल्लिकुमारी का अंगूठा देखकर विचार किया—"मुझे इसका सम्पूर्ण चित्र बना लेना चाहिए।" ऐसा सोचकर उसने मल्लिकुमारी का यथायथ चित्र बना डाला।

उसके बाद चित्रकारों ने भावभंगिमापूर्ण अनेक सुन्दर चित्रों से सभा भवन को चित्रित किया और युवराज की आज्ञा पूरी कर दी।

युवराज ने चित्रकारों का खूब सत्कार-संम्मान किया तथा जीविका के योग्य प्रीतिदान देकर उन्हें विदा किया।

मल्लदिन्न कुमार स्नान कर, वस्त्राभूषण से सुसज्जित हो, धायमाता के साथ चित्रशाला में आया और वहाँ अनेक हाव-भाव वाली स्त्रियों के चित्रों को देखने लगा। चित्र देखते-देखते अकस्मात् उसकी दृष्टि मल्लि कुमारी के चित्र-पर पड़ी। चित्र को ही साक्षात् मल्लि कुमारी समझकर वह लज्जित हुआ और धीरे-धीरे पीछे हटने लगा। यह देखकर उसकी धायमाता कहने लगी—"पुत्र ! तुम लज्जित होकर पीछे क्यों सरकने लगे हो ?" मल्लदिन्न ने धात्रीमाता से कहा—"हे माता ! मेरी बड़ी बहन, जो देव, गुरु के समान है उससे लज्जित होना ही चाहिए। उसके रहते हुए चित्रशाला में प्रवेश करना क्या मेरे लिए योग्य है ?" तब धायमाता ने कहा "पुत्र ! यह मल्लिकुमारी नहीं बल्कि उसका चित्र है।"

यह सुनकर राजकुमार कुपित हो बोला—"कौन ऐसा अप्रार्थित का प्रार्थी एवं लज्जारहित चित्रकार है, जिसने मेरी देव गुरु तुल्य ज्येष्ठ भगिनी का चित्र बनाया ?" ऐसा कहकर उसने चित्रकार के वध की आज्ञा दे दी।

जब चित्रकारों को यह मालूम हुआ तो उन्होंने राजकुमार से बहुत अनुनय-विनय किया और चित्रकार का वध न करने की प्रार्थना की। चित्रकारों की प्रार्थना पर राजकुमार ने चित्रकार के वध के बदले उस की दो अंगुष्ठ एवं कनिष्ठ अंगुली को छेदने और निर्वासन की आज्ञा दे दी।

चित्रकार मिथिला से निर्वासित होकर हस्तिनापुर गया। वहाँ उसने मल्लिकुमारी का एक चित्र बनाया और उस चित्रपट को साथ में लेकर महाराजा अदीनशत्रु के पास आ, अभिवादन कर, बहुमूल्य उपहार के साथ वह चित्रपट उन्हें भेंट किया। फिर बोला—"स्वामी ! मिथिला नरेश ने अपने देश से मुझे निष्कासित कर दिया है। मैं आपकी छत्रछाया में सुखपूर्वक रहना चाहता हूँ।"

महाराज ने पूछा—"तुम्हें मिथिला नरेश ने देश निकाले की आज्ञा क्यों दी ?" चित्रकार ने घटना का समस्त वृत्तान्त सुनाया। घटना सुनकर महाराज ने पूछा—"वह मल्लिकुमारी कैसी है ?" तब उसने चित्रपट दिखाते हुए मल्लि-कुमारी के रूप की अतीव प्रशंसा की। मल्लिकुमारी के रूप की प्रशंसा सुनकर महाराज मुग्ध हो गये और उन्होंने अपने दूत को बुलाकर आज्ञा दी—"तुम मिथिला नगरी जाओ और भार्या के रूप में मल्लिकुमारी की मंगनी करो।"

दूत ने महाराज की आज्ञा शिरोधार्य कर मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

तत्कालीन पांचाल देश की राजधानी कांपिल्यपुर थी। वहाँ का राजा जितशत्रु था। उसकी धारणी-प्रमुख हजार रानियाँ थीं।

एक समय चोक्षा नामकी परिव्राजिका मिथिला नगरी में आई। वह ऋग्वेद आदि षष्ठी तंत्र की ज्ञाता थी। वह दान-धर्म, शौच-धर्म, तीर्थाभिषेक-धर्म की प्ररूपणा किया करती थी।

एक दिन वह मल्लिकुमारी के पास आकर शुचि-धर्म का उपदेश करने लगी। उसने बताया कि उसके धर्मानुसार अपवित्र वस्तु की शुद्धि जल और मिट्टी से होती है। मल्लिकुमारी ने कहा "परिव्राजिके! रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से धोने पर क्या उसकी शुद्धि हो सकती है?" इस पर परिव्राजिका ने कहा—"नहीं।" मल्ली बोली—"इसी प्रकार हिंसा से हिंसा की (पाप स्थानों की) शुद्धि नहीं हो सकती।" मल्लिकुमारी का युक्तिपूर्ण वचन सुनकर चोक्षा परिव्राजिका निरुत्तर हो गई। इसपर मल्लिकुमारी की दासियों ने उसका परिहास किया। कुछ ने गला पकड़कर उसको बाहर निकाल दिया।

चोक्षा परिव्राजिका क्रोधित हो मिथिला छोड़कर अपनी शिष्याओं के साथ शुचि-धर्म का उपदेश करती हुई कांपिल्यपुर आई। एक दिन वह वहाँ के महाराजा के महल में गई और वहाँ जाकर उसने दान-धर्म, शुचि-धर्म एवं तीर्थाभिषेक-धर्म का प्रतिपादन किया।

महाराजा अपने अन्तःपुर की रानियों के रूप-सौन्दर्य से विस्मित थे। महाराजा ने पूछा—"परिव्राजिके! तुम अनेक ग्राम-नगरों में घूमती हो; राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों के मकानों में प्रवेश करती हो। मेरे जैसा अन्तपुर तुमने कहीं देखा है?" परिव्राजिका ने कहा—"राजन्! आप कूपमंडूक प्रतीत होते हैं। आपने दूसरों की पुत्र-वधुओं, भार्याओं, पुत्रियों को नहीं देखा, इसीलिए ऐसा कहते हैं। मैंने मिथिला नगर के विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्लिकुमारी का जो रूप देखा है वैसा रूप किसी देवकुमारी या नागकन्या का भी नहीं।"

मल्लि के रूप की प्रशंसा सुनकर कांपिल्यपुर के महाराज ने भी मल्लिकुमारी की मँगनी के लिए मिथिला नगर को दूत भेजा।

राजदूतों ने आकर अपने-अपने स्वामियों की माँग कुंभ राजा के सामने पेश की। राजा कुंभ ने सबके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

विवाह के लिए आये हुए प्रस्तावों की बात मल्लि के पास पहुँची। उसने विचार किया, हो न हो ये राजा क्रोध के आवेश में उसके पिता पर चढ़ाई किये बिना नहीं रहेंगे। यह सोचकर, कामान्ध हुए इन राजाओं को शान्त कर सुमार्ग पर लाने के लिए, उसने एक युक्ति सोच निकाली।

अपने महल के एक सुन्दर विशाल भवन में उसने अपनी एक मूर्त्ति बनवाकर रखवाई। वह मूर्त्ति सोने की बनी हुई थी। वह भीतर से पोली एवं सिर पर पेचदार ढक्कन से ढकी हुई थी। देखने में वह मूर्त्ति इतनी सुन्दर थी मानो साक्षात् मल्लि ही आकर खड़ी हो।

राजकुमारी नित्यप्रति इस मूर्त्ति के पेट में सुगन्धित खाद्य-पदार्थ डालने लगी। ऐसा करते-करते जब वह मूर्त्ति भीतर से सम्पूर्ण भर गई तो मल्लि ने उसे ढक्कन से मजबूती के साथ ढँक दिया।

इधर राजदूत अपने-अपने स्वामियों के पास वापस आए और राजा कुंभ से मिले हुए निराशाजनक उत्तर को कह सुनाया। उत्तर सुनकर वे बहुत कुपित हुए और सब ने राजा कुम्भ पर चढ़ाई करने का विचार ठान लिया। यह जानकर राजा कुम्भ ने भी युद्ध की तैयारी शुरू कर दी। थोड़े दिनों में ही भयङ्कर युद्ध छिड़ गया। कुम्भ अकेला था, इसलिए पूरा मुकाबला नहीं कर सकता था, फिर भी जरा भी हताश न होकर उसने युद्ध जारी रखा। वह रात-दिन इस चिंता में रहने लगा कि शत्रुओं पर कैसे विजय मिले?

दूसरी ओर इस नर-संहारकारी महा भयंकर युद्ध को देखकर मल्लि ने अपने पिता से विनती की—"मेरे लिए एक खूंखार लड़ाई को बढ़ाने की जरूरत नहीं है। अगर आप एक बार इन सब राजाओं को मेरे पास आने दें तो मैं उन्हें समझा कर निश्चय ही शान्ति स्थापित करवा दूँ।"

राजा कुंभ ने अपने दूतों के द्वारा मल्लि का सन्देश राजाओं के पास भेज दिया। यह सन्देश मिलते ही राजाओं ने संतुष्ट होकर अपनी-अपनी सेनाओं को रण-क्षेत्र से हटा लिया। उनके आने पर, जिस कमरे में मल्लि की सुवर्ण मूर्त्ति अवस्थित थी, उसीमें उनको अलग-अलग बैठाया गया।

राजाओं ने इस मूर्त्ति को ही साक्षात् मल्लि समझा और उसके सौंदर्य को देखकर और भी अधिक मोहित हो गए। बाद में वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर राजकुमारी मल्लि जब उस कमरे में आई, तभी उनको होश हुआ कि यह मल्लि नहीं परन्तु उसकी मूर्त्ति मात्र है। वहाँ आकर राजकुमारी मल्लि ने बैठने के पहले मूर्त्ति के ढकन को हटा दिया। ढकन दूर करते ही मूर्त्ति के भीतर से निकलती हुई तीव्र दुर्गन्ध से समस्त कमरा एकदम भर गया। राजा लोग घबड़ा उठे और सब ने अपनी-अपनी नाक बन्द कर ली।

राजाओं को ऐसा करते देख मल्लि नम्र भाव से बोली—"हे राजाओ! तुम लोगों ने अपनी नाकें क्यों बन्द कर ली? जिस मूर्त्ति के सौंदर्य को देखकर तुम मुग्ध हो गये थे उसी मूर्त्ति में से यह दुर्गन्ध निकल रही है। यह मेरा सुन्दर दिखाई देनेवाला शरीर भी इसी तरह लोही, रुधिर, थूक, मूत्र और विष्टा आदि घृणोत्पादक वस्तुओं से भरा पड़ा है। शरीर में जानेवाली अच्छी से अच्छी सुगन्धवाली और स्वादिष्ट वस्तुएँ भी दुर्गन्धयुक्त विष्टा बन कर बाहर निकलती हैं। तब फिर इस दुर्गन्ध से भरे हुए और विष्टा के भाण्डार-रूप इस शरीर के बाह्य सौंदर्य पर कौन विवेकी पुरुष मुग्ध होगा?"

मल्लि की मार्मिक बातों को सुनकर सब के सब राजा लज्जित हुए और अधोगति के मार्ग से बचानेवाली मल्लि का आभार मानते हुए कहने लगे—"हे देवानुप्रिये! तू जो कहती है, वह बिलकुल ठीक है। हमलोग अपनी भूल के कारण अत्यन्त पछता रहे हैं।"

इसके बाद मल्लि ने फिर उनसे कहा :—"हे राजाओ! मनुष्य के काम-सुख ऐसे दुर्गन्धयुक्त शरीर पर ही अवलम्बित है। शरीर का यह बाहरी सौंदर्य भी स्थायी नहीं है। जब यह शरीर जरा से अभिभूत होता है तब उसकी कांति बिगड़ जाती है, चमड़ी निस्तेज होकर ढीली पड़ जाती है, मुख से लार टपकने लगती है और सारा शरीर थर-थर कांपने लगता है। हे देवानुप्रियो! ऐसे शरीर से उत्पन्न होनेवाले काम-सुखों में कौन आसक्ति रखेगा और कौन उनमें मोहित होगा?"

"हे राजाओ! मुझे ऐसे काम-सुखों में जरा भी आसक्ति नहीं है। इन सब सुखों को त्याग कर मैं दीक्षा लेना चाहती हूं। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर, संयम पालन द्वारा, चित्त में रही हुई काम, क्रोध, मोह आदि असद्वृत्तियों को निर्मूल करने का मैंने निश्चय कर लिया है। इस सम्बन्ध में तुमलोगों के क्या विचार हैं, सो मुझे बताओ?"

यह बात सुनकर राजाओं ने बहुत नम्र भाव से उत्तर दिया—हे देवानुप्रिये! तुम्हारा कहना ठीक है। हम लोग भी तुम्हारी ही तरह काम-सुख छोड़कर प्रव्रज्या लेने के लिए तैयार हैं।"

मल्लि ने उनके विचारों की सराहना की और उन्हें एकबार अपनी-अपनी राजधानी में जाकर अपने-अपने पुत्रों को राज्यभार सौंपकर तथा दीक्षा के लिए उनकी अनुमति लेकर वापस आने के लिए कहा।

यह निश्चय हो जाने पर मल्लि सब राजाओं को लेकर अपने पिता के पास आई। वहाँ पर सब राजाओं ने अपने अपराध के लिए कुम्भ राजा से क्षमा माँगी। कुम्भ राजा ने भी उनका यथेष्ट सत्कार किया और सबको अपनी अपनी राजधानी की ओर विदा किया।

कथा—१७ :

महारानी मृगावती

[इसका संबन्ध ढाल ३ गाथा ८ (पृ० १९) के साथ है]

कोशाम्बी नगरी में शतानिक नाम के राजा राज्य करते थे। रूप-लावण्य-सम्पन्ना मृगावती उनकी पटरानी थी। वह भगवान् महावीर की परम उपासिका थी।

एक समय एक दक्ष चित्रकार राजसभा में आया। महाराजा ने उसकी चित्रकला पर प्रसन्न होकर उसे चित्र-शाला को चित्रित करने का काम सौंपा। चित्रकारी करते हुए चित्रकार की दृष्टि पर्दे के अन्दर की महारानी मृगावती के अँगूठे पर पड़ी। केवल अँगूठे को देखकर उसने महारानी मृगावती का सम्पूर्ण चित्र बना लिया। चित्रशाला को सुन्दर चित्रों से चित्रित करने का कार्य पूरा हुआ। एकबार महाराजा स्वयं चित्रकारी को देखने के लिए चित्रशाला में आये। वहां मृगावती के चित्र को देखा। मृगावती के जंघा पर काला तिल चित्रित देखकर महाराजा का मन शंका-ग्रस्त हो गया। वे बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने चित्रकार के शिरोच्छेद का आदेश दिया। चित्रकार के बहुत अनुनय-विनय करने पर और देव-वरदान की बात करने पर महाराजा ने उसका अंगूठा कटवाकर उसके देश-निकाले का आदेश दे दिया।

क्रुद्ध चित्रकार ने वहां से निकल कर महारानी मृगावती का पुनः वैसा ही चित्र बनाया और अवन्ति के महाराजा चण्डप्रद्योतन को भेंट किया। चण्डप्रद्योतन अपूर्व सुन्दरी मृगावती के चित्र को देख, उसपर आसक्त हो गया।

चण्डप्रद्योतन ने शतानिक के पास दूत भेजकर मृगावती की मांग की। महाराजा शतानिक ने इस घृणित मांग को ठुकरा दिया और दूत का अपमान कर उसे निकाल दिया। चण्डप्रद्योतन ने जब यह समाचार सुना तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और अपनी सेना सजाकर शतानिक पर चढ़ाई करने के लिए रवाना हो गया। इधर शतानिक ने भी युद्ध की तैयारी कर ली। अंततः दोनों पक्षों में भयंकर युद्ध हुआ। महाराजा शतानिक की मृत्यु अतिसार हो जाने से हो गई। मृगावती विधवा हो गई। सारी कोशाम्बी में शोक छा गया।

शतानिक की मृत्यु से चण्डप्रद्योतन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। शतानिक के एक पुत्र था। उसका नाम था उदायन किन्तु राजकुमार की उम्र छोटी थी। शोक के बारह दिन व्यतीत होनेपर महारानी मृगावती ने मंत्रियों को बुलाकर पुनः युद्ध की तैयारी के लिए राय मांगी। मंत्रियों ने कहा—"महारानी जी! चण्डप्रद्योतन बहुत दुष्ट है। उसकी विशाल सेना के सामने हम ज्यादा दिन ठहर नहीं सकते। चण्डप्रद्योतन को हमें अन्य उपाय से ही जीतना चाहिए।" तब विदुषी महारानी ने एक उपाय सोचा। अपने खास दूत को बुलाकर मंत्रियों की सलाह से चण्डप्रद्योतन को महारानी ने कहला भेजा—"महारानी मृगावती आपके प्रस्ताव को स्वीकार करती हैं किन्तु उनकी एक शर्त्त है। पति की मृत्यु से वे शोक-विह्वल हैं। उनका पुत्र भी अभी बालक है। शोक से निवृत्त होने के बाद महारानी आपसे अपने पुत्र का राज्याभिषेक कराना चाहती हैं। अतः बाहरी शत्रुओं से बचने के लिए तथा राजकुमार की सुरक्षा के लिए एक दृढ़ किला बनवा दें और नगरी को धन-धान्य से पूरित कर राजपुत्र को राजगद्दी पर बैठा दें।' इसके बाद महारानी आपकी आज्ञा का पालन करने को तैयार रहेंगी।"

दूत से महारानी का सन्देश सुनकर चण्डप्रद्योतन बहुत प्रसन्न हुआ। महारानी की इच्छानुसार उसने एक दृढ़ दुर्ग बना दिया एवं उसको धन-धान्य से पूरित कर दिया। पुत्र के राज्याभिषेक के बहाने युद्ध की समस्त तैयारी कर महारानी ने किले के फाटक बन्द करवा दिए।

इधर चण्डप्रद्योतन ने दूत से पुनः कहलवा भेजा कि महारानी अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार उसके महल में चली आवे। जब दूत कोशाम्बी आया और उसने युद्ध की पूर्ण तैयारी देखी तो वह वापस चला आया और राजा को खबर दी कि वहाँ तो युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं। किले के फाटक बन्द करवा दिये गये हैं। महारानी प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

जब चण्डप्रद्योतन ने यह सुना तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और अपनी विशाल सेना सजाकर कोशाम्बी को पूर्ण रूप से विध्वस्त करने की प्रतिज्ञा कर वहाँ पहुंचा और नगरी को सेनाओं से घेर लिया।

इधर श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए कोशाम्बी नगरी के बाहर उद्यान में ठहरे। मृगावती को जब यह ज्ञात हुआ तब उसकी प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसने अपनी सेना को युद्ध बन्द कर देने का आदेश दिया। कोशाम्बी के दरवाजे खुलवा दिये और सबको निर्भीक होकर भगवान् के दर्शन करने का आदेश दिया। महारानी मृगावती अपने समस्त नगरवासियों के साथ भगवान् महावीर के समवशरण में पहुँची। राजा चण्डप्रद्योतन ने भी जब भगवान् के पदार्पण की खबर सुनी तो उन्होंने भी युद्ध बन्द करने का आदेश दिया और वे भी भगवान् के समवशरण में पहुँचे।

भगवान् महावीर की वाणी सुनकर चण्डप्रद्योतन का विषय मद उतरा और वह अपने किये हुए कार्यों का पश्चाताप करने लगा। इधर महारानी मृगावती ने भगवान् से निवेदन किया—"भगवन्! मैं आप से प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती हूं। चण्डप्रद्योतन महाराज मुझे आज्ञा प्रदान करें।" मृगावती के इस वचन से चण्डप्रद्योतन बड़ा प्रभावित हुआ। वह बोला—"देवी! तुम धन्य हो। तुम्हारा जीवन धन्य है। मैं आज से प्रतिज्ञा करता हूँ कि उदायन मेरा छोटा भाई रहेगा। मैं उसके राज्य-संरक्षण की जिम्मेवारी लेता हूँ।"

महारानी मृगावती ने उदायन का राज्याभिषेक करवाकर आर्या चन्दनबाला के पास दीक्षा धारण की। महाराजा चण्डप्रद्योतन की आठ रानियों ने भी पति की आज्ञा ले भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। चण्डप्रद्योतन ने महासती मृगावती को नमस्कार किया और अपराध की क्षमा-याचना कर अपनी राजधानी को लौट गया।



कथा—१८ :

द्रौपदी[1]

[इसका संबन्ध ढाल ३ गा० १० (पृ० २०) के साथ है]

एक दिन पाण्डुराज पाँच पाण्डव, कुन्ती देवी, द्रौपदी देवी, तथा अंतःपुर के अन्य परिवार से संपरिवृत हो सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय कच्छुल्ल नारद, जो देखने में तो अति भद्र और विनीत लगते थे, पर अंतरतः कलुषहृदयी थे, विद्या के सहारे आकाश में उड़ते हुए, आकाश का उल्लंघन करते हुए, सहस्रों ग्राम, आकर, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन और सम्वाधन द्वारा शोभित और व्याप्त मेदिनी तल—वसुधा को देखते हुए हस्तिनापुर पहुंचे और अत्यधिक वेग से पाण्डुराज के भवन में उतरे।

नारद को आते देखकर पाण्डुराज ने पाँच पाण्डव और कुन्ती देवी सहित आसन से उठ सात-आठ कदम सम्मुख जा, तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार किया और महापुरुष के योग्य आसन से उन्हें उपमंत्रित किया।

नारद जल के छींटे दे, दर्भ बिछा, आसन डाल, उस पर बैठे और पाण्डु राजा से उसके राज्य यावत् अन्तःपुर सम्बन्धी कुशल-समाचार पूछने लगे।

पाण्डुराज कुन्ती देवी और पाँच पाण्डवों के साथ नारद का आदर-सत्कार कर उनकी पर्युपासना करने लगे। केवल द्रौपदी ने नारद को असंयत, अविरत, अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा जान, न तो उनका आदर किया, न उनका सम्मान किया, न खड़ी हुई और न उनकी पर्युपासना की।

नारद सोचने लगे—"द्रौपदी अपने रूप-लावण्य के कारण और पाँच पाण्डवों को अपने पति-रूप में पाकर गर्विष्ठा हो गई है और इसी कारण मेरा आदर नहीं करती। अतः इसका अप्रिय करना ही मेरी समझ से श्रेयस्कर होगा।" ऐसा विचार, पाण्डुराज से पूछकर, आकाशगामिनी विद्या का स्मरण कर उत्कृष्ट विद्याधर की गति से आकाश-मार्ग में चलने लगे और लवण-समुद्र के बीचोंबीच से पूर्व दिशा की ओर मुखकर आगे बढ़ने लगे।

उस समय धातकी खण्डद्वीप की पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरतक्षेत्र में अमरकंका नाम की राजधानी थी। वहाँ पद्मनाभ नाम का एक राजा था। एक दिन वह अपनी सात सौ देवियों से संपरिवृत हो अंतपुर में सिंहासन पर बैठा था। उसी समय नारद उड़ते उड़ते सीधे उसके राजभवन में आकर उतरे। पद्मनाभ राजा ने उनका आदर-सत्कार किया, अर्घ्य से उनकी पूजा की और उन्हें आसन से उपमंत्रित किया। नारद ने कुशल समाचार पूछे।

राजा पद्मनाभ अपनी रानियों के परिवार के प्रति विस्मयोन्मुख हो नारद से पूछने लगा :"हे देवानुप्रिय ! आप अनेक ग्राम यावत् घरों में प्रवेश करते हैं। क्या आपने जैसा मेरी रानियों का परिवार है वैसा अन्यत्र भी पहिले कहीं देखा है ?" नारद पद्मनाभ की बात सुन किंचित् हँसकर बोले—"पद्मनाभ ! तू कूप मण्डूक के सदृश है। देवानुप्रिय ! जम्बुद्वीप के भारतवर्ष में हस्तिनापुर नामक नगर है। वहाँ द्रुपद राजा की पुत्री, चुलना देवी की आत्मजा, पाण्डुराज की पुत्रवधू और पाँच पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी देवी है। वह रूप, लावण्य में उत्कृष्ट है। तेरा रानी समूह उसके छेदे हुए पग के अँगूठे के सौवें हिस्से की बराबरी करने योग्य भी नहीं है।

इसके बाद पद्मनाभ राजा से पूछ, नारद वहाँ से चल पड़े।

नारद से प्रशंसा सुन पद्मनाभ राजा द्रौपदी के रूप, यौवन, लावण्य में मूर्च्छित, गृद्ध, लुब्ध हो, उसकी प्राप्ति

१—ज्ञातासूत्र के १६ वें अध्याय के आधार पर।

के लिए आतुर हो गया। उसने इष्ट देवता का स्मरण किया। देव सुप्त द्रौपदी को पद्मनाभ राजा की अशोक वाटिका में उठा लाया।

पद्मनाभ द्रौपदी को सोच करते देख बोला—"देवानुप्रिये ! तुम मन के संकल्पों से आहत न बनो। किसी प्रकार की चिन्ता न करो। मेरे साथ विपुल काम भोग भोगती हुई रहो।" इस पर द्रौपदी ने कहा—"मैं छः मास कृष्ण वासुदेव की राह देखूँगी। अगर वे नहीं आयेंगे तो मैं आपकी इच्छा के अनुसार वर्तूंगी।"

अब द्रौपदी छठ-छठ का तप करती हुई कन्याओं के अन्तःपुर में रहने लगी।

पाण्डु राजा जब किसी भी तरह द्रौपदी का पता नहीं लगा सके तब कुन्ती देवी को कृष्ण वासुदेव के पास द्रौपदी का पता लगाने के लिए भेजा। कुन्ती देवी पाण्डु राजा की आज्ञा प्राप्त कर हाथी पर आरूढ़ हो द्वारवती पहुँचीं और उद्यान में ठहरीं। जब कौटुम्बिक पुरुषों द्वारा कृष्ण वासुदेव को कुन्ती के आगमन का समाचार मिला तो वे स्वयं कुन्ती से मिलने उद्यान में गये। कुन्ती देवी को नमस्कार कर उसे साथ ले अपने आवास आये। भोजन हो चुकने के पश्चात् कृष्ण ने कुन्ती देवी से उसके आने का प्रयोजन पूछा। कुन्ती बोली "पुत्र ! युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी सुख पूर्वक सो रही थी। जागने पर वह दिखाई नहीं दी। न जाने किस देव, दानव, किंपुरुष, गंधर्व ने उसका अपहरण किया है। पुत्र ! मैं चाहती हूं तुम स्वय द्रौपदी देवी की मार्गणा—गवेषणा करो, अन्यथा उसका पता लगाना संभव नहीं। कृष्ण बोले : "पितृभगिनी ! मैं द्रौपदी देवी का पता लगाऊँगा। उसके श्रुति, क्षति, प्रवृत्ति का पता लगते ही वह जहाँ कहीं भी हो उसको मैं स्वयं अपने हाथों ले आऊँगा। इस प्रकार कुन्ती देवी को आश्वासन दे उसको आदर सत्कार पूर्वक विदा किया। कृष्ण ने अपने सेवकों को द्रौपदी का पता लगाने के लिए चारों ओर भेज दिया।

एक दिन कृष्ण वासुदेव अपनी रानियों के साथ बैठे हुए थे इतने में कच्छुल्ल नारद वहाँ आये। कृष्ण ने उनसे पूछा "आप अनेक स्थानों में जाते है। क्या आपने कहीं द्रौपदी की भी बात सुनी ?" नारद बोले—"देवानुप्रिय ! एक बार मैं धातकी खण्ड के पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में अमरकंका राजधानी में गया था। वहां पद्मनाभ राजा के राज भवन में मैंने द्रौपदी को देखा।" कृष्ण बोले—"लगता है यह आप देवानुप्रिय का ही कर्म है।" कृष्ण के ऐसा कहते पर कच्छुल्ल नारद आकाश मार्ग से चल दिये।

कृष्ण ने दूत बुलाकर उसे कहा : "तुम हस्तिनापुर जाकर राजा पाण्डु से निवेदन करो : "द्रौपदी देवी का पता लग गया है। पाँचों पाण्डव चतुरंगिणी सेना से संपरिवृत हो पूर्व की दिशा के वैतालिक समुद्र के तीर पर पहुंचे और वहाँ मेरी बांट जोहते हुए रहें।

कृष्ण वासुदेव ५६ हजार योद्धाओं को साथ वैतालिक समुद्र के किनारे पर पांडवों से मिले और वही स्कंधावार—छावनी स्थापित की।

कृष्ण ने अपनी समस्त सेना को विसर्जित किया और आप स्वयं पांच पाण्डवों सहित छः रथों में बैठ लवण समुद्र के बीचोबीच होते हुए आगे बढ़े और जहां अमरकंका राजधानी थी जहाँ नगरी का अग्र उद्यान था वहाँ रथ को ठहराया। फिर अपने दारुक नामक सारथी को बुलाकर बोले "जाओ अमरकंका के महाराज पद्मनाभ से कहो कि तुमने कृष्ण वासुदेव की बहन द्रौपदी का अपहरण किया है। यह बहुत बुरा किया फिर भी अगर जीवित रहना चाहते हो तो द्रौपदी को कृष्ण वासुदेव के हाथों में सौंप दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जावो।"

सारथी कृष्ण वासुदेव की आज्ञानुसार पद्मनाभ के पास पहुँचा और हाथ जोड़ उसे जय विजय शब्द से बंधा कृष्ण वासुदेव का सन्देश कह सुनाया।

पद्मनाभ सारथी द्वारा सुनाये गये सन्देश से अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और भृकुटी चढ़ा बोला—"मैं कृष्ण वासुदेव को

द्रौपदी नहीं दूँगा। मैं स्वयं युद्ध के लिए सज्जित होकर आ रहा हूँ।" ऐसा कह उसने सारथी का अपमान कर उसे पिछले द्वार से निकाल बाहर किया।

दारुक ने वापस आ सारी बात कृष्ण से कही। कृष्ण वासुदेव ने शस्त्र सज्ज हो युद्ध के लिए प्रस्थान कर दिया। इधर पद्मनाभ भी अपनी चतुरंगी सेना के साथ युद्ध भूमि में आया। दोनों में भयंकर संग्राम हुआ। संग्राम में पद्मनाभ की सेना कृष्ण के सामने नहीं टिक सकी। वह हारकर चारों ओर भागने लगी। पद्मनाभ सामर्थ्य हीन हो गया। अपने को असमर्थ जान वह शीघ्रता से अमरकंका राजधानी की ओर भागा और उसने नगर में प्रवेश कर नगर के फाटक बन्द करवा दिये।

कृष्ण वासुदेव ने उसका पीछा किया और नगर के दरवाजों को तोड़ अन्दर घुसे। महा शब्द के साथ उनके पाद प्रहार से नगर के प्राकार, गोपुर अट्टालिकाएँ, चरिय तोरण आदि सब गिर पड़े। पद्मनाभ के श्रेष्ठ महल भी चारों ओर से विशीर्ण हो, पृथ्वी पर धँस पड़े।

पद्मनाभ राजा भयभीत होगया और द्रौपदी देवी के पास आ उसके चरणों में गिर पड़ा।

द्रौपदी बोली : "क्या तुम अब जान गये कि कृष्ण वासुदेव जैसे उत्तम पुरुष के साथ अप्रिय करके मुझे यहाँ लाने का क्या नतीजा है ? खैर अब भी तुम शीघ्र जाओ, स्नान कर गीले वस्त्र पहन, वस्त्र का एक पल्ला खुला छोड़, अंतपुर की रानियों आदि के साथ प्रधान श्रेष्ठ रत्नों की भेंट साथ ले मुझे आगे रख कृष्ण वासुदेव को हाथ जोड़ उनके चरण में पड़, उनकी शरण ग्रहण करो।"

पद्मनाभ द्रौपदी के कथानुसार कृष्ण वासुदेव के शरणागत हुआ। वह हाथ जोड़ पैरों में गिर कर बोला : "हे देवानुप्रिय ! मैं आपकी ऋद्धि से लेकर अपार पराक्रम को देख चुका। मैं आपसे क्षमा याचना करता हूँ। मुझे क्षमा करें। मैं पुनः ऐसा काम नहीं करूँगा।" ऐसा कह हाथ जोड़ उसने कृष्ण वासुदेव को द्रौपदी देवी को सौंप दिया। कृष्ण बोले—"हे अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले पद्मनाभ ! क्या तू नहीं जानता कि तू मेरी बहन द्रौपदी को यहाँ ले आया है ? फिर भी अब तुझे भय करने की जरूरत नहीं।"

कृष्ण द्रौपदी के साथ रथ पर आरूढ़ हो, जहाँ पांचों पाण्डव थे वहाँ आये और अपने हाथों से द्रौपदी को पाँच पाण्डवों को सौंप दिया।



कथा—१९ :

सम्भूत-चक्रवर्त्ती [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ४ गाथा ८ (पृ० २४) के साथ है]

वाराणसी नगरी में भूदत्त नामका चाण्डाल रहता था। उसके दो पुत्र थे। एक का नाम था चित्त और दूसरे का सम्भूति। वहाँ शंख नाम के राजा राज्य करते थे। उनके नमूची नाम का प्रधान था। किसी अपराध के कारण शंखराजा ने नमूची के प्राण-वध का हुक्म दिया और उसे वध के लिए भूदत्त चाण्डाल को सौंप दिया। नमूची के अधिक अनुनय-विनय करने पर भूदत्त चाण्डाल के दिल में करुणा आई और उसने कहा—"मैं तुझे तभी मुक्त कर सकता हूँ जब तू मेरे दोनों पुत्रों को, जो भूमिगत हैं, पढ़ाना स्वीकार करेगा। नमूची ने भूदत्त की बात स्वीकार कर ली और दोनों को पढ़ाने लगा। कालान्तर में नमूची ने दोनों पुत्रों को विविध कलाओं में प्रवीण कर दिया।

एक दिन नमूची ने चाण्डाल की पत्नी से व्यभिचार किया। जब दोनों पुत्रों को यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने कहा—"आप यहाँ से भाग जाइए अन्यथा यह बात हमारे पिता को मालूम हुई तो वे आपको मार डालेंगे।" नमूची वहाँ से भाग कर हस्तिनापुर आया और वहाँ के चक्रवर्त्ती महाराजा सनतकुमार का प्रधान मंत्री बन गया।

इधर दोनों ही चाण्डाल-पुत्र नगर में गायन करने लगे। उनके मधुर गान से स्त्री-पुरुष मुग्ध होने लगे। अनेक युवतियाँ उनके पास आने लगीं। यहाँ तक की स्पर्शास्पर्श का भी विचार नहीं रहा। इससे नगर के प्रतिष्ठित लोगों ने राजा से शिकायत की। तब राजा ने उन्हें नगर से बाहर निकलवा दिया। इस तरह अपमानित हो उन्होंने अपघात करने का निश्चय किया। वे अपघात करने के लिए पहाड़ी पर चढ़े। वहाँ पहले ही कोई मुनि तप कर रहे थे। उन्होंने दोनों चाण्डाल-पुत्रों को अपघात करते देख उपदेश दिया। मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर उन्होंने वहीं दीक्षा स्वीकार की और उग्र तप करने लगे।

एक समय वे विचरते-विचरते हस्तिनापुर आये। किसी समय 'मास खमन' के पारण के दिन वे भिक्षार्थ नगर में भ्रमण कर रहे थे। भ्रमण करते हुए मुनिवरों को नमूची ने देखा और पहचान लिया।

अपनी पोल खुल जायगी इस भय से नमूची ने दोनों मुनियों को अपने सेवकों से मार-पीट कर उन्हें बाहर निकाल दिया। वहाँ से अपमानित होकर दोनों मुनियों ने अनशन कर लिया। तप के प्रभाव से सम्भूति मुनि को तेजोलेश्या उत्पन्न हुई। क्रोध के आवेश में मुनि ने लब्धि के प्रभाव से सारे नगर को धूम्र-बादलों से भर दिया। धूम्र से सारे नगर को अच्छादित देखकर नगर की सारी जनता एवं सनतकुमार चक्रवर्त्ती भयभीत हुए। सनतकुमार चक्रवर्त्ती अपनी रानी श्रीदेवी को साथ ले मुनि से क्षमा-याचना के लिए नगर के बाहर आये और मुनिवरों से बार-बार क्षमा-याचना करने लगे। श्रीदेवी ने भी मस्तक नवाकर मुनिवरों के चरण-स्पर्श किये। श्रीदेवी के सुन्दर केशों के शीतल स्पर्श से सम्भूति का मन विचलित हो गया। श्रीदेवी के अपूर्व रूप-लावण्य पर मुग्ध हो उन्होंने 'नियाना' किया—"अगर मेरी तपश्चर्या का फल मिले तो दूसरे भव में मैं चक्रवर्ती बनूँ। अंत में वे बिना आलोचना के आयु पूर्ण कर देवलोक गये।

वहाँ से च्यवकर सम्भूति का जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती बना। नियाने के कारण वह तप—संयम की अराधना नहीं कर सका और काम-भोगों में आसक्त बना। वह मर कर सातवीं नरक में गया।

१—उत्तराध्यन सूत्र अ० १३ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर

राजीमती और रथनेमि

[इसका सम्बन्ध ढाल ५ गाथा ९ (पृ० ३०) के साथ है]

दीक्षा लेने के बाद राजीमती एक बार रैवतक पर्वत की ओर जा रही थी। राह में मूसलधार वर्षा होने से राजीमती के वस्त्र भींग गए और उसने पास ही की एक अन्धेरी गुफा में आश्रय लिया। वहाँ एकान्त समझ कर राजीमती ने अपने समस्त वस्त्र उतार डाले और सूखने के लिए फैला दिए।

समुद्रविजय के पुत्र और अरिष्टनेमि के छोटे भाई रथनेमि प्रव्रजित होकर उसी गुफा में ध्यान कर रहे थे। राजीमती को सम्पूर्ण नग्न अवस्था में देखकर उनका मन चलित हो गया। इतने में एकाएक राजीमती की भी दृष्टि उनपर पड़ी। उन्हें देखते ही राजीमती सहमी। वह भयभीत होकर कांपने लगी और बाहुओं से अपने अंगों को गोपन करती हुई जमीन पर बैठ गई।

राजीमती को भयभीत देखकर काम-विह्वल रथनेमि बोले—"हे सुरूपे ! हे चारुभाषिणी ! मैं रथनेमि हूँ। हे सुतनु ! तू मुझे अंगीकार कर। तुझे जरा भी संकोच करने की जरूरत नहीं। आओ ! हम लोग भोग भोगें। यह मनुष्य-भव बार-बार दुर्लभ है। भोग भोगने के पश्चात् हम लोग फिर जिन-मार्ग ग्रहण करेंगे।"

राजीमती ने देखा कि रथनेमि का मनोबल टूट गया है और वे वासना से हार चुके हैं, तो भी उसने हिम्मत नहीं हारी और अपने बचाव का रास्ता करने लगी। संयम और व्रतों में दृढ़ होती हुई तथा अपनी जाति, शील और कुल की लज्जा रखती हुई वह रथनेमि से बोली :

"भले ही तू रूप में वैश्रमण सदृश हो, भोगलीला में नल कुबेर हो या साक्षात् इन्द्र हो तो भी मैं तुम्हारी इच्छा नहीं करती।"

"अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प झलझलाती अग्नि में जलकर मरना पसन्द करते हैं परन्तु वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते।"

"हे कामी ! वमन की हुई वस्तु को खाकर तू जीवित रहना चाहता है ! इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है ! धिक्कार है तुम्हारे नाम को !"

"मैं भोगराज (उग्रसेन) की पुत्री हूँ और तू अंधकवृष्णि (समुद्रविजय) का पुत्र है। हमलोगों को गन्धन कुल के सर्प की तरह नहीं होना चाहिए। अपने उत्तम कुल की ओर ध्यान देकर संयम में दृढ़ रहना चाहिए।"

"अगर स्त्रियों को देख-देखकर तू इस तरह प्रेम—राग किया करेगा तो हवा से हिलते हुए हड वृक्ष की तरह चित्त-समाधि को खो बैठेगा ?"

"जैसे ग्वाला गायों को चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भण्डारी धन की रक्षा करने से उनका मालिक होता है वैसे ही तू केवल वेष की रक्षा करने से साधुत्व का अधिकारी नहीं हो सकेगा। इसलिए तू सँभल और संयम में स्थिर हो।"

"जो मनुष्य संकल्प विषयों के वश हो, पग-पग पर विषादयुक्त शिथिल हो जाता है, और काम-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्व का पालन किस तरह कर सकता है ?"

"जो वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री और पलंग आदि भोग-पदार्थों का परवशता से उनके अभाव में सेवन नहीं करता,

वह त्यागी नहीं कहलाता। सच्चा त्यागी तो वह है जो मनोहर और कान्त भोगों के सुलभ होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है—उनका सेवन नहीं करता।"

"यदि समभाव पूर्वक विचरते हुए भी कदाचित् मन बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि यह मेरी नहीं है और न मैं उसका हूँ, मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे।"

"आत्मा को कसो, सुकुमारता का त्याग करो, वासनाओं को जीतो, संयम के प्रति द्वेष-भाव को छिन्न करो, विषयों के प्रति राग-भाव का उच्छेद करो। ऐसा करने से शीघ्र ही सुखी बनोगे।"

"साध्वी राजीमती के ये मर्मस्पर्शी शब्द सुनकर, जैसे अंकुश से हाथी रास्ते पर आ जाता है वैसे ही रथनेमि का मन स्थिर होगया।

रथनेमि मन, वचन और काया से सुसंयमी और जितेन्द्रिय बने और व्रतों की रक्षा करते हुए जीवन पर्यन्त शुद्ध श्रमणत्व का पालन करते रहे।

इस प्रकार जीवन बिताते हुए दोनों ने उग्र तप किया और दोनों केवली बने और सर्व कर्मों का अन्त कर उत्तम सिद्ध गति को पहुंचे।

जिस प्रकार पुरुष-श्रेष्ठ रथनेमि विषयों से वापस हटे, उसी प्रकार बुद्धिमान, पण्डित और विचक्षण पुरुष विषयों से सदा दूर रहें और कभी विषय-वासना से पीड़ित भी हों तो मन को वापस खींचे।



कथा २१ :

रूपीराय

[इसका सम्बन्ध ढाल ५ गाथा १० [पृ० ३१) के साथ है]

वसन्तपुर नगर में रूपी नाम की एक राजकुमारी राज्य करती थी। वह पुरुष वेश में रहती थी इसलिए लोग भी उसे पुरुष ही समझते थे।

एक समय कोई श्रेष्ठीपुत्र विवाह करने के लिए वसन्तपुर आया। विवाह होने के बाद वहाँ की रीति के अनुसार, वह भेंट देने के लिए रूपीराय के पास पहुँचा। राजकुमारी उस अत्यन्त रूपवान् श्रेष्ठीपुत्र को देखकर मुग्ध हो गई। उसे एकान्त में बुलाकर परस्पर प्रेम करने का प्रस्ताव रखा। श्रेष्ठीपुत्र को पर-स्त्री का त्याग था। राजकुमारी की यह बात सुनकर वह स्तब्ध रह गया। मन में सोचने लगा—"अगर मैं राजकुमारी के प्रस्ताव को मान लेता हूँ तो मेरा त्याग भंग हो जाता है। अगर नहीं मानता हूँ तो इसका परिणाम मेरे लिए भयंकर भी हो सकता है।" कुछ समय तक वह इसी प्रकार सोचता रहा और कोई बहाना बनाकर घर चला आया। घर जाकर उसने इस विषय पर खूब सोचा। अन्त में अपने व्रत की रक्षा के लिए उसे एक ही मार्ग दीखा, वह था दीक्षा।

श्रेष्ठीपुत्र ने गुरुदेव के पास जाकर दीक्षा ले ली। इधर जब राजकुमारी को यह मालूम हुआ कि श्रेष्ठीपुत्र ने दीक्षा ले ली है, तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ। उसे श्रेष्ठीपुत्र के बिना एक क्षण भी अच्छा नहीं लगता था। वह सोचने लगी—"श्रेष्ठीपुत्र अब मुझे मिल नहीं सकता और मैं उसके बिना रह नहीं सकती। श्रेष्ठीपुत्र को पाने का एक ही उपाय है। अगर मैं भी दीक्षा ले लूँ तो सम्भव है बार-बार सम्पर्क से वह मेरा बन जाय।" ऐसा सोचकर उसने भी दीक्षा

ले ली। रूपी राजकुमारी साध्वी हो गई। रूपी साध्वी का मन सदैव श्रेष्ठीपुत्र में लगा रहता था। अतः वह किसी न किसी बहाने श्रेष्ठीपुत्र के पास आती और उन्हें खूब आसक्त-भाव से देखती। रूपी साध्वी के बार-बार देखते रहने से श्रेष्ठीपुत्र का भी मन उसके प्रति आसक्त हो गया और वह भी अत्यन्त आसक्ति से रूपी साध्वी को देखने लगा। इस प्रकार परस्पर एक दूसरों को आसक्ति-पूर्ण नेत्रों से देखने के कारण दोनों चक्षु-कुशील हो गये।

एक दिन दोनों को इस प्रकार आसक्तिपूर्ण नेत्रों से देखते हुए अन्य मुनियों ने देख लिया और उनसे पूछा—क्या तुम दोनों का एक दूसरे के प्रति अनुराग है ? रूपी साध्वी ने अरिहन्त भगवान् की सौगन्ध खाकर कहा—"इसके प्रति मेरी कोई आसक्ति नहीं ?" श्रेष्ठीपुत्र ने भी इनकार कर दिया। दोनों ने अपने पाप-भाव को छिपाने के लिए बहुत बड़ा झूठ बोलकर बहुत कर्म उपार्जन किये। मृत्यु के समय दोनों ने अपने पाप की आलोचना नहीं की। बिना आलोचना किये मरकर अनन्त संसारी बने। इस प्रकार रूपीराय चक्षु-कुशील बनकर करोड़ों भवों में भटका और अनन्त दुःख पाया। रूपीराय करोड़ों भव-भ्रमण करती हुई पुनः नट कन्या बनी। श्रेष्ठीपुत्र मर कर वसन्तपुर नगर के सागरदत्त श्रेष्ठी के घर जन्मा जिसका नाम एलाची कुमार रखा गया। आगे की कथा के लिए एलाचीपुत्र की कथा देखिये।



कथा—२२ :

एलाचीपुत्र

[इसका सम्बन्ध ढाल ५ गाथा ११ (पृ० ३१) के साथ है]

इलावर्धन एक रमणीय नगर था। वहाँ धनदत्त नामक एक धनाढ्य सेठ रहता था। धारणी उसकी पतिपरायणा पत्नी थी। अनेक मनौतियों के पश्चात् धनदत्त के यहाँ पुत्ररत्न का जन्म हुआ। उसका नाम रखा गया एलाचीपुत्र। उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। इसलिए उसने अल्पकाल में ही समस्त कलाओं में दक्षता प्राप्त कर ली।

एक समय उस नगर में नटों का दल आया। वह दल अभिनय-कला में बहुत कुशल था। नगर के मध्य भाग में एक बहुत बड़ा मैदान था। उसी मैदान में बाँस गाड़ कर वे नगरवासियों को अपनी नाट्य-कला दिखाने लगे। दर्शकों की भीड़ लग गई। नगरनिवासियों के साथ एलाचीकुमार भी नाटक देखने के लिए वहाँ पहुँच गया। उस नट के साथ उसकी एक पुत्री थी। वह अतीव सुन्दर थी। उस नाटक में वह भी पार्ट अदा कर रही थी। उस अनन्य सुन्दरी नटकन्या के रूप, यौवन व कला को देखकर एलाची कुमार मुग्ध हो गया। उसने मन में प्रतिज्ञा करली—"यदि मैं विवाह करूँगा तो उसीके साथ करूँगा, अन्यथा नहीं। नाटक समाप्त हो गया। लोग अपने स्थानों पर जाने लगे, किन्तु एलाची कुमार वहीं रह गया। मित्रों के बहुत समझाने पर वह घर आया और उसने अपने मित्रों के द्वारा अपने पिता को कहला भेजा—"मैं तभी अन्न-जल स्वीकार करूँगा, जब मेरा विवाह नट-कन्या के साथ होना निश्चित हो जाय।" पिता ने पुत्र को बहुत समझाया लेकिन उसने एक भी बात नहीं मानी। अन्ततः उसके पिता ने नट को बुलाया और उससे कहा—"मेरा पुत्र तुम्हारी कन्या से विवाह करना चाहता है। तुम उसकी शादी मेरे लड़के के साथ में कर दो। इसके बदले में मैं तुम्हे इतना अधिक धन दूँगा कि तुम्हारी सारी दरिद्रता दूर हो जायगी।"

नट ने कहा—"सेठ ! मैं अपनी पुत्री को बेचना नहीं चाहता। अगर वह मेरी पुत्री से विवाह करना चाहता है, तो वह स्वयं नट बने तथा नाट्य-कला में प्रवीण होकर, राजा को प्रसन्न कर धन प्राप्त करे, तो मैं अपनी पुत्री उसे दे

सकता हूँ। एलाची कुमार ने यह बात स्वीकार कर ली। वह नटी के लिये माता-पिता, धन-दौलत आदि का त्याग कर नटी के साथ हो गया। उसने सुन्दर वस्त्रों को त्याग कर एक कच्छ पहन लिया। गले में ढोल डाला, पीठ पर वस्त्रादिक की गठरी लटका ली, एक कन्धे पर बांस रखा और दूसरे कन्धे पर सामान की कांवर। इस तरह वह नट के वेश में उस दल के साथ गांव-गांव में भटकने लगा। नटों के साथ उसने अल्पकाल में ही नाट्य-कला में कुशलता प्राप्त कर ली। इधर उस नट की पुत्री भी उसका सौन्दर्य व त्याग देख कर मन ही मन उसपर मुग्ध हो रही थी। परन्तु माता-पिता की आज्ञा प्राप्त किये विना अपनी ओर से कुछ भी नहीं कर सकती थी।

कुछ दिनों के बाद नट ने जब देखा कि एलाची कुमार नाट्य-कला में प्रवीण हो तो गया है, उसने कहा—"अब आप समस्त नाटक मण्डली व साज-सामान लेकर वेनातट नगर जाइये और वहां के राजा को प्रसन्न कर अधिक से अधिक धन ले आइये। उस धन से मैं अपने जाति-बन्धुओं को सन्तुष्ट कर अपनी पुत्री के साथ आपका विवाह कर दूँगा।"

नटराज के ये वचन सुनकर एलाची कुमार बड़ा प्रसन्न हुआ और वह उसी दिन नट-पुत्री के साथ नाटक-मण्डली को लेकर वेनातट नगर की ओर रवाना हुआ।

वेनातट पहुँचते ही सर्वप्रथम उसने राजा से मुलाकात की तथा उनसे नाटक देखने की प्रार्थना की। राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। राजा के महल के सामने एक बहुत बड़ा मैदान था। वहीं पर खेल दिखाना निश्चित हुआ। राजा द्वारा आश्वासन पाकर एलाची ने नाटक दिखाने की तैयारी कर ली। उसने मैदान में बांस गाड़कर चारों ओर रस्सियां बांध दीं। राजा भी अपने मंत्री व स्वजनों के साथ खेल देखने के लिये सिंहासन पर बैठ गया।

यथा समय एलाची ने खेल दिखाना शुरू किया। उसने सर्वप्रथम उस बांस पर एक तख्ता रखवाया। उस तख्ते के मध्य भाग में एक कील गड़ी हुई थी। उसने उस कील पर सुपारी रखी। इसके बाद दोनों पैरों में घूँघर बांध, खड़ाऊँ पहन, एक हाथ में तलवार व दूसरे हाथ में ढाल लेकर, वह उस बांस पर चढ़ा। वहां उस सुपारी पर अपनी नाभि रखकर कुम्हार की चाक की तरह चारों ओर घूमने लगा। घूमते समय वह तलवार व ढाल के भिन्न-भिन्न प्रकार के खेल भी दिखाता जाता था। इधर नट-कन्या भी सुन्दर वस्त्रों से सज्जित हो मधुर गीत गाती हुई नृत्य कर रही थी। उसके अन्य साथी तरह-तरह के बाजे व ढोल बजाकर नाटक में रंग ला रहे थे। जनता नाटक देखकर मुग्ध हो रही थी। वाह! वाह! के उत्साहवर्द्धक शब्द समवेत जनता के मुख से निकल रहे थे। इधर राजा नटी के हाव-भाव, व रूप यौवन तथा कला को देखकर मुग्ध हो गया और सोचने लगा—"यदि यह नटी मेरे अन्तःपुर में आ जाय, तो मेरा जीवन धन्य हो जाय। किन्तु इस नट के जीवित रहते मेरी अभिलाषा पूरी कैसे हो सकती है? इस नट-कन्या के विना तो मेरा जीना ही व्यर्थ है। इसे तो किसी न किसी उपाय से प्राप्त करना ही होगा। हां! यदि यह नट खेल दिखाते-दिखाते बांस से गिर कर मर जाय तो यह नटी मुझे आसानी से मिल सकती है।" अब राजा मन में यही सोचने लगा कि नट किसी तरह गिरकर मर जाय और मैं नटी को प्राप्त कर लूँ।

राजा इस प्रकार सोच ही रहा था कि नट अपना खेल पूर्ण करके बांस से नीचे उतरा और इनाम पाने के लिये राजा की तरफ बढ़ा। राजा को छोड़कर सभी दर्शक मुक्त-कंठ से उसकी प्रशंसा कर रहे थे और इनाम देने को उत्सुक हो रहे थे। किन्तु राजा के पहले पुरस्कार देना राजा का अपमान करना था। इसलिये सबकी दृष्टि उसी ओर लगी हुई थी। राजा उस समय बुरी वासना के चक्कर में पड़कर कुछ और ही सोच रहा था। राजाने कहा—"हे नटराज! मैं राजकाज की चिन्ता से कुछ अस्त-व्यस्त सा हो रहा था, इसलिये तुम्हारा खेल अच्छी तरह से नहीं देख सका। तुम एक बार फिर खेल दिखाओ तब तुम्हें इनाम दूंगा।" एलाची कुमार लोभ व कामना के कारण दीन-हीन हो रहा था। वह यह अच्छी तरह जानता था कि बांस पर फिर से चढ़ना खतरे से खाली नहीं है, लेकिन फिर

भी वह नटी के सौंदर्य के कारण वाँस पर चढ़ा तथा उसने नाना प्रकार के खेल दिखाए। इस बार भी दर्शकों को पूर्ण सन्तोष हुआ। खेल समाप्त हुआ। एलाची कुमार ने नीचे उतर कर राजा को प्रणाम किया और इनाम की आशा से सामने खड़ा होगया। राजा मन में सोचने लगा—"यह तो इस बार भी कुशल पूर्वक नीचे उतर आया है। मेरी तो इच्छा पूर्ण नहीं हुई। इसके जीवित रहते में नटी को कैसे पा सकता हूं ? इसलिए इसको पुनः खेल दिखलाने के लिए कहना चाहिए।" इस प्रकार विचार कर राजा ने पूर्ववत् जवाब दिया और फिर से खेल दिखाने का आग्रह किया। राजा के इस प्रकार के वचनों को सुनकर राजा के प्रति लोगों के मन में शंका उत्पन्न हो गई। वे सोचने लगे कि राजा तो नटी के रूप पर मुग्ध हो गया है और नटराज की मृत्यु चाहता है। इसलिए बार-बार राज्य की चिन्ता का बहाना बना कर खेल दिखाने का आग्रह करता है।

एलाची ने नटी पाने की इच्छा से पुनः खेल दिखाया और कुशल क्षेम पूर्वक नीचे उतर आया।

राजा इससे बहुत लज्जित हुआ। उसकी मन की इच्छा मन में ही रह गई। वह चिंता में पड़ गया—इस नट से क्या कहूं और किस बहाने उसे वाँस पर चढ़ाऊँ। अन्त में उसकी दुर्वासना ने जोर मारा। उसने फिर धृष्टतापूर्वक कहा—"नटराज अभी मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ है। पुनः एक बार तुम्हारा खेल देखना चाहता हूं। इस बार तुम्हें अवश्य ही इनाम दूंगा।" राजा की बात को सुनकर नटराज निरुत्साहित हो उठा। नटी उसके भाव को ताड़ गई। उसने पुनः एलाची कुमार को उत्साहित किया। अपनी प्रियतमा का प्रोत्साहन पाकर वह पुनः वाँस पर चढ़ा और तरह-तरह के खेल दिखाने लगा।

ठीक इसी समय कोई तपस्वी मुनिराज आहार के लिए पास के किसी धनिक सेठ के घर पहुंचे। सेठ की पत्नी अत्यन्त रूपवती थी। वह उस समय घर में अकेली थी। वह श्राविका थी, इसलिए मुनिराज को आते देखकर कुछ कदम आगे बढ़कर उसने उनका स्वागत किया और बड़े आदर पूर्वक अन्दर ले आई। मोदक का थाल अन्दर से लाकर साधु को बड़ी श्रद्धा पूर्वक दान करने लगी। मुनिराज बड़े समतावान थे। मुनि की दृष्टि नीचे की ओर थी। उन्होंने भूलकर भी अपनी नजर ऊपर नहीं की। इस दृश्य को देखकर एलाची कुमार के हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वह अपने मन में कहने लगा,—"अहो ! अप्सरा के समान रूपवती रमणी हाथ में लड्डुओं का थाल लेकर अकेली सामने खड़ी है, फिर भी धन्य हैं ये मुनिराज जो आँख उठाकर भी उसके सामने नहीं देखते। ये भी एक मानव हैं जिनका हृदय सुन्दर रमणी को देखकर व एकान्त में पाकर भी विचलित नहीं होता और मैं भी एक मनुष्य हूँ, जो स्त्री के लिए वैभव त्यागकर दर-दर की ठोकरें खा रहा हूं। यदि इस वक्त मैं गिर पड़ूँ और नटी का ध्यान करते हुए मर जाऊँ तो मुझे मर कर अवश्य दुर्गति का द्वार देखना पड़ेगा।"

इधर राजा के मन में भी सद् विचार आये और उसको भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ। राजा की रानी व नटी के भी परिणाम शुद्ध होने लगे और संसार-स्वरूप को विचार करते-करते उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इन केवलियों का उपदेश पाकर अनेक लोगों ने श्रावक-व्रत, साधु-व्रत स्वीकार किये और अन्त में सिद्ध गति को प्राप्त कर अनन्त सुखी बने।

★

कथा—२२ :

मणिरथ-मदनरेखा [1]

[इसका संबंध ढाल ५ गाथा १३ (पृ० ३१) के साथ है]

अवंति जनपद में सुदर्शन नामक एक नगर था। वहाँ मणिरथ नामक राजा था। युगवाहु नामक उसका एक छोटा भाई युवराज था। युगवाहु की पत्नी मदनरेखा थी। वह अतीव सुन्दर और परम-श्राविका थी। एक दिन मणिरथ की दृष्टि मदनरेखा पर पड़ी। उसके अनिंद्य रूप-लावण्य को देखकर वह मुग्ध हो गया। उसका रूप उसके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा। उसने उसके प्रेम को किसी भी मूल्य पर प्राप्त करने का निश्चय किया। इस विचार से उसने मदनरेखा के घर बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण भेजना शुरू किया। वह भी विशुद्ध भाव से जेठ की भेजी हुई नाना प्रकार की बहुमूल्य सामग्रियों को स्वीकार कर लेती। उसे यह भान तक नहीं था कि मणिरथ जो वस्तुएं भेजता है, उसके पीछे उसकी कुत्सित वासना काम कर रही है।

मदनरेखा विशुद्ध भावना से ही उन वस्तुओं को अंगीकार करती थी, किन्तु मणिरथ समझने लगा कि वह भी उससे प्यार करने लगी है।

एक दिन मौका पाकर उसने दासी के द्वारा मदनरेखा को कहलाया—"मालव सम्राट् मणिरथ तुमसे प्रेम करता है। वह तुम्हारे रूप-यौवन पर अपना समस्त साम्राज्य तुम्हारे चरणों में रखने को तैयार है। तुम्हें जो सुख चाहिए वह युगवाहु से नहीं मिलता। वह सुख तुम मणिरथ की हृदय साम्राज्ञी वनने पर प्राप्त कर सकोगी।"

यह सन्देश सुनकर मदनरेखा स्तब्ध हो गई। मणिरथ की स्वार्थपूर्ण घृणित भावना का अब उसे पता लगा। उसने दासी से कहा—"दुष्टे! आज तूने ऐसी बात कही है। यदि भविष्य में ऐसा कहा तो तेरी जीभ निकलवा दूँगी। जा! मणिरथ से कह दे कि मदनरेखा तुम्हारे इस छोटे से साम्राज्य से तो क्या, वल्कि तीन लोकों के वैभव से भी अपने शील-व्रत से विचलित नहीं हो सकती। आप सम्राट् हैं। आपके लिए ऐसी अनीति शोभा नहीं देती। आपसे प्रेम तो दूर रहा वलिक वह आप को देखना भी पाप समझती है।"

दासी ने वहाँ से मणिरथ के पास आकर सर्व वृत्तान्त कह सुनाया। मणिरथ अपनी असफलता पर मन ही मन झुँझलाने लगा। उसने सोचा—युगवाहु के रहते मदनरेखा का प्रेम पाना असंभव है। अतः इस काँटे को हटाकर ही मैं मदनरेखा के प्रेम को प्राप्त कर सकता हूं। इस तरह कामुक-भावना के वशीभूत होकर वह अपने भाई की हत्या का अवसर ढूँढ़ने लगा।

सायंकाल का समय था। मन्द-मन्द सुहावनी हवा चल रही थी। युगवाहु अपनी प्रियतमा के साथ उपवन में घूमने के लिए निकल पड़ा। मदनरेखा अपने प्रियतम के लिए पुष्प चुन चुनकर माला गूँथने में तल्लीन थी। युगवाहु लता-मण्डप में विश्राम कर रहा था और अस्ताचलगामी दिवाकर को देखने में लवलीन था। इधर मणिरथ भी घूमता हुआ उपवन की ओर आ निकला। उसने युगवाहु को लता-मण्डप में विश्राम करते हुए देख लिया। वह अकेला एकान्त स्थान में विश्राम कर रहा था। राजा ने उचित अवसर पाकर पीछे से छिपकर युगवाहु पर वार किया। वह घायल होकर भूमि पर गिर पड़ा। मणिरथ वहाँ से भागा। रास्ते में वह साँप का शिकार वना और मृत्यु को प्राप्त होकर नरक में गया।

इधर मदनरेखा ने लता-मण्डप से कराहने की आवाज सुनी। वह दौड़कर वहाँ आई। खून से लथपथ पति को

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ९ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर

देखकर वह घबड़ा गई। उसने अपने आप को सँभाला, और सोचा—"यह समय शोक करने का नहीं है। जो भावी था वह हो गया। अब मेरा कर्तव्य है कि मैं पतिदेव को धैर्य दूं। उनका शरीर समाधि पूर्वक छूटे, ऐसा प्रयत्न करूँ।" युगबाहु के सिर को अपनी गोद में लेकर वह उन्हें समझाने लगी। उसने पति को उस भाई के प्रति द्वेष व पत्नी के प्रति मोह न रखने का उपदेश दिया। युगबाहु पर पत्नी के उपदेशों का असर हुआ। शान्तभाव से समाधिपूर्वक देह का विसर्जन कर वह देवलोक में उत्पन्न हुआ।

मदनरेखा ने सोचा—"अब इस राज्य में रहना खतरे से खाली नहीं है। मणिरथ मुझ पर बलात्कार करने का प्रयत्न कर सकता है। वह मुझे भ्रष्ट करने का प्रयत्न करेगा। इससे अच्छा होगा कि कहीं दूर चली जाऊँ।" ऐसा सोचकर वह वहाँ से निकल पड़ी। वह गर्भवती थी। रास्ते में उसे घोर वन का सामना करना पड़ा, जहाँ आदमी की छाया तक का भी निशान नहीं था। वह एक वृक्ष के नीचे आराम करने लगी। कुछ समय पश्चात् उसे प्रसव पीड़ा होने लगी और पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। उस नवजात शिशु को कोमल पत्तों पर सुला, उसकी उँगली में अपने नाम की मुद्रा डाल कर, वह अशुचि निवारणार्थ नदी किनारे पहुँची। उधर एक मदोन्मत्त हाथी ने मदनरेखा को सूँड में पकड़ कर आकाश में उछाल दिया। आकाश मार्ग से एक मणिप्रभ नामक विद्याधर अपने विमान में बैठा चला जा रहा था। अनिंद्य सुन्दरी मदनरेखा को देख, उसने उसको अपने विमान में बैठा लिया। उसके रूप को देखकर वह मुग्ध हो गया। वह विमान को वापस लौटाने लगा। मदनरेखा ने पूछा—"आप तो इधर जा रहे थे। आपने विमान को वापस क्यों लौटाया?" देव ने कहा—"मैं अपने पिता, जो साधु हैं, उनके दर्शन करने जा रहा था, किन्तु तुम जैसी रूप यौवनसम्पन्ना, रूपवती स्त्री को पाकर मैं वापस लौट रहा हूँ। तुम्हें घर पहुँचा कर मैं वापस चला जाऊँगा।" मदनरेखा ने कहा—"मैं भी साधु दर्शन की इच्छा रखती हूं। अतः मुझे भी दर्शन करवा दीजिये।" मणिप्रभा ने स्वीकार कर लिया और अपना विमान घुमा दिया। थोड़े समय में ही वह विमान मणिचूड़ मुनि के पास पहुँचा। मुनि मणिचूड़ ने उपदेश दिया। मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर मणिप्रभ ने मदनरेखा के प्रति अपनी भावना बदल दी और उसे अपनी बहिन की तरह देखने लगा। मुनि से मदनरेखा ने पूछा—"मैं जंगल में अपने पुत्र को छोड़ कर आई उसका क्या हुआ?" मुनि ने कहा—"उसको मिथिला के पद्मरथ राजा, जो घूमने के लिये आये थे, ले गये हैं।" यह सुन कर मदनरेखा निश्चिन्त हो गई और दीक्षा लेकर उसने आत्म-कल्याण किया।



कथा—२४ :

राजकुमार अरणक

[इसका संबन्ध ढाल ५ गाथा १४ (पृ० ३१) के साथ है]

एक समय भगवान् ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए किसी बड़े नगर में पहुँचे। भगवान् का आगमन सुनकर नगर की जनता उनकी वाणी सुनने के लिये उद्यान में पहुंची। वहाँ का राजा अपनी रानी व राजकुमार अरणक को लेकर भगवान् के समवशरण में पहुंचा। भगवान् ने महती सभा में उपदेश दिया। उनका उपदेश सुनकर राजा व राजकुमार अरणक के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने समस्त राज्य का परित्याग कर भगवान् के पास दीक्षा ले ली। पिता-पुत्र ने स्थिवरों की सेवा में रहकर सूत्रों का अध्ययन किया। अब भगवान् की आज्ञा से पिता-पुत्र स्वतंत्र रूप से विहार करते हुए संयम की आराधना करने लगे। पिता अपने छोटे लाडले पुत्र अरणक को कभी भी भिक्षा के लिए बाहर नहीं भेजता था। वह स्वतः गोचरी लाकर बालमुनि की सेवा किया करता था। उसे किसी भी बात का कष्ट न हो, इसका वह पूरा-पूरा ध्यान रखता था। कुछ समय पश्चात् अरणक मुनि के पिता का स्वर्गवास हो गया और वे अब अकेले हो गये। अब तक तो पिता की छत्र-छाया में उन्हें किसी भी प्रकार के कष्ट का भान नहीं हुआ था, लेकिन अब उन्हें कड़कड़ाती धूप में आहार के लिये नंगे पैर जाना पड़ता था।

एक दिन वे तेज धूप में आहार के लिए निकले। पैर जल रहे थे। लू जोरों से चल रही थी। सूर्य की किरणें आग उगल रही थीं। साधु अरणक धूप से घबरा गया और विश्राम के लिए एक भव्य प्रसाद की छाया में खड़ा हो गया। प्यास के कारण गला सूख रहा था। उस प्रासाद की खिड़की में एक युवा स्त्री बैठी थी। इसके अंग-अंग से यौवन व मादकता फूट रही थी। उसका पति परदेश गया हुआ था। इसलिए वह काम-बाण से पीड़ित थी। अरणक मुनि की अलौकिक सुन्दरता को देख कर वह मुग्ध हो गई। उसने दासी के द्वारा मुनि को अपने महल में बुला लिया और हाव-भाव व नयन-कटाक्षों से मुनि को अपने वश में कर लिया। मुनि उसी सुन्दरी के यहाँ रहने लगे।

अरणक मुनि गृहस्थ बन गया और उसके साथ सुखोपभोग करते हुए जीवन-यापन करने लगा। इधर साधुओं में अरणक की खोज होने लगी। लेकिन उसका कहीं भी पता न लगा। अरणक के गायब होने की खबर उसकी माता तक पहुंची। माता घबड़ा गई और अपने पुत्र की खोज के लिए निकल पड़ी। वह गाँव-गाँव की धूल छानने लगी। जगह-जगह पूछती फिरती कि कहीं किसी ने उसके प्यारे पुत्र को देखा है क्या? बुढ़ापे के कारण शरीर शिथिल हो रहा था। आँखों से कम दिखाई देता था, फिर भी दिल में उत्साह था कि कहीं मिल जायगा। अगाध मातृ-स्नेह के कारण वह पागल सी हो चली थी। 'अरणक' 'अरणक' पुकारती वह एक विशाल-भवन के नीचे धूप से घबड़ा कर खड़ी हो गई। ऊपर खिड़की में अरणक अपनी प्रेयसी से बातें कर रहा था। 'अरणक' 'अरणक' की आवाज अचानक उसके कानों में पड़ी। आवाज चिरपरिचित सी मालूम दे रही थी। उसने नीचे की ओर झाँक कर देखा तो आश्चर्य चकित हो गया। वह आवाज और किसी की न होकर उसकी माता की ही थी। उसे अचानक महल के नीचे देखकर वह बाहर आया और स्नेह से उसके चरणों में गिर पड़ा। पुत्र को देखकर माता के हर्ष का कोई ठिकाना न रहा। स्नेह से उसने पुत्र के मस्तिष्क पर हाथ फेरते हुए कहा—"बेटा! तू यहाँ कैसे आ पहुंचा?" यों कहते-कहते उस वृद्धा की आँखों से आँसू बहने लगे। अरणक घबड़ा उठा। वह सोचने लगा "माता के प्रश्नों का क्या उत्तर दिया जाय?" चेहरे का रंग उड़ गया। दिल गुनहगार की तरह छटपटाने लगा। अन्त में उसने लड़खड़ाती हुई आवाज में कहा—"माँ! अपराध हुआ।" अरणक

की आँखों से आंसू बहने लगे। माता ने आंसू पोंछते हुए, पुत्र से कहा—"बेटा! मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि चारित्र पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान है। चारित्र बड़ा भारी रत्न है। तूने उसे मिट्टी में मिला दिया। हाथ में आया हुआ चिन्तामणि रत्न गवाँ बैठा।"

माता के वचन अरणक के हृदय में तीर की तरह चुभ गये। उसे बड़ी ग्लानि हुई। वह मन ही मन अपने आपको धिक्कारने लगा। माता ने पुत्र को अपराध अनुभव करते देख तथा पश्चाताप की भट्ठी में सुलगते देखकर कहा—"बेटा जो होना था सो हो गया। अब पाप के बदले प्रायश्चित्त करो ताकि तुम्हारी आत्मा पुनः उज्वल बन सके।" माता ने पुत्र को पुनः गुरुदेव की सेवा में उपस्थित किया। गुरुदेव ने उसे फिर से दीक्षित किया। अरणक ने पुनः दीक्षा लेकर अपने जीवन को धन्य बना दिया।

एक दिन अरणक ने गुरुदेव से कहा—"हे गुरुदेव! जिस धूप ने मेरा पतन किया, उसीसे मैं अपनी आत्मा का उत्थान करना चाहता हूं।" ऐसा कहकर उसने ग्रीष्म ऋतु की कड़कड़ाती धूप में जलती हुई शिलापट्ट पर अपनी देह रख अनशन कर लिया और समभाव से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ समाधि-मरण कर देवलोक को प्राप्त हुआ।



कथा—२५ :

जिनरिख-जिनपाल [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १० (पृ० ४१) के साथ है]

चम्पानगरी में माकन्दी नामका सार्थवाह रहता था। उसके जिनरिख और जिनपाल नामक दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने ग्यारह बार लवण समुद्र में यात्रा कर बहुत-सा धन कमाया। माता-पिता के मना करने पर भी वे दोनों समुद्र में बारहवीं बार यात्रा करने के लिए रवाना हुए। समुद्र के बीच में जहाज तूफान से नष्ट हो गया। जहाज की टूटी हुई पतवार उन दोनों भाइयों के हाथ लगी। उस पर बैठ कर दोनों तैरते हुए रत्न द्वीप में जा पहुँचे। उस द्वीप की स्वामिनी रयणा देवी ने उन्हें देखा। वह कहने लगी "तुम दोनों मेरे साथ काम भोगों को भोगते हुए यहीं रहो, अन्यथा मैं तुम्हें मार दूंगी।" इस प्रकार देवी के भयप्रद वचनों को सुनकर दोनों भाइयों ने उसकी बात स्वीकार कर ली और उसके साथ काम भोग भोगते हुए रहने लगे।

एक समय लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित देव ने रयणा देवी को लवण समुद्र की इक्कीस बार परिक्रमा करके तृण, पर्ण, काष्ठ, कचरा, अशुचि आदि को साफ करने की आज्ञा दी। उस देवी ने दोनों भाइयों से कहा—"देवानुप्रियो! जब तक मैं वापस लौटकर आऊँ तबतक तुम यहीं पर आनन्द पूर्वक रहो। यदि इच्छा हो तो पूर्व और उत्तर दिशा के वनखण्ड में जा सकते हो, किन्तु दक्षिण दिशा की तरफ मत जाना। वहां पर एक भयंकर विषधर सर्प रहता है, जो तुम्हारा विनाश कर डालेगा।" यह कह देवी चली गई।

दोनों भाई पूर्व, पश्चिम, उत्तर दिशा के वन खण्डों में घूमते रहे। एक दिन उनकी दक्षिण दिशा की तरफ भी जाने की इच्छा हुई और वे दोनों उस दिशा की ओर निकल पड़े। कुछ दूर जानेपर उस दिशा से भयङ्कर दुर्गन्ध आने

१—ज्ञाता सूत्र के ९ वें अध्याय के आधार पर

लगी। उन्होंने आगे जाकर देखा तो सैकड़ों मनुष्यों की हड्डियां एवं खोपड़ियों का ढेर लगा हुआ था। पास में शूली पर लटकता हुआ एक पुरुष कराह रहा था। यह हाल देख दोनों भाई घबरा गये और शूली पर लटकते हुए पुरुष से सारा वृत्तान्त पूछा। उसने कहा—"मैं भी तुम्हारी ही तरह जहाज के टूट जाने पर यहाँ आ पहुँचा था। मैं काकन्दी नगरी का रहनेवाला घोड़ों का व्यापारी हूँ। पहले देवी मेरे साथ भोग भोगती रही। एक समय एक छोटे से अपराध के हो जाने पर कुपित होकर इसने मुझे यह दण्ड दिया है। न मालूम यह देवी तुम्हें किस समय और किस ढंग से मार देगी। इसने पहले भी कई मनुष्यों को मार कर यह हड्डियों का ढेर कर रखा है।" दोनों भाइयों ने जब शूली पर लटकते हुए पुरुष की ये बातें सुनी तो वे त्राण का उपाय पूछने लगे। उस पुरुष ने कहा "पूर्व दिशा के वन खण्ड में शैलक नामका एक यक्ष रहता है। उसकी पूजा करने से वह प्रसन्न होकर तुम्हें देवी के फन्दे से छुड़ा देगा।" यह सुनकर दोनों भाई यक्ष के पास आकर उसकी स्तुति करने लगे और देवी के फन्दे से छुटकारा पाने की प्रार्थना करने लगे।

यक्ष उनकी स्तुति से प्रसन्न हुआ और बोला—"तुम निर्भय रहो। मैं तुम्हें इच्छित स्थान पर पहुँचा दूंगा। किन्तु मार्ग में देवी आकर अनेक प्रकार के हाव-भाव करके अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई परिषह-उपसर्ग देगी। यदि तुम उसके कहने में आकर उस पर आसक्त हो जावोगे तो मैं तुम्हें मार्ग में ही समुद्र में फेंक दूंगा।" यक्ष की इस शर्त को दोनों भाइयों ने मान लिया। यक्ष अश्व का रूप बना, दोनों भाइयों को अपनी पीठ पर बिठला, आकाश मार्ग से चला।

इतने में वह देवी आ पहुँची। देवी ने उनको वहाँ न देखा तो अवधि-ज्ञान से जान लिया कि वे दोनों भाई शैलक यक्ष के पीठ पर जा रहे हैं। वह शीघ्र वहाँ आई और अनेक प्रकार के हाव-भाव से अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई, करुण विलाप करने लगी। जिनपाल ने उसके वचन पर कोई ध्यान नहीं दिया। किन्तु जिनरिख उसके वचनों में फँस गया, वह उस पर मोहित होकर, प्रेम के साथ रयणा देवी को देखने लगा। जिससे यक्ष ने जिनरिख को अपनी पीठ से नीचे फेंक दिया। नीचे गिरते ही जिनरिख को रयणादेवी ने शूली में पिरो दिया और बहुत कष्ट देकर उसे प्राणरहित करके समुद्र में फेंक दिया।

जिनपाल देवी के वचनों में नहीं फँसा। इसलिए यक्ष ने आनन्द पूर्वक उसको चम्पा नगरी पहुँचा दिया। वहाँ पहुंच कर जिनपाल अपने माता-पिता से मिला। कई वर्षों तक सांसारिक सुखों को भोग कर दीक्षा धारण की। वर्षों तक संयम पालनकर वह सौधर्म देवलोक में गया, वहाँ से महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध-पद को प्राप्त करेगा।



कथा—२६ :

विष मिश्रित छाछ

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १३ (पृ० ४२) के साथ है]

चार व्यापारी थे। वे बाहर घूम घूम कर व्यापार करते थे। किसी समय एक गाँव में पहुंचे। वहाँ एक वृद्धा रहती थी। वह बाहर के लोगों को खाना और निवास देती थी और उसीसे वह अपनी आजीविका चलाती थी। वे चारों व्यापारी उसी वृद्धा के यहाँ पहुँचे और रात्रि का निवास भी उसीके यहाँ रक्खा। व्यापारियों को जाने की जल्दी थी, अतः सूर्योदय के पूर्व ही भोजन बनाने के लिए कहा। वृद्धा रात्रि में जल्दी उठी और अन्धेरे में दही को एक हाँड़ी में डाल उसको मथने लगी। जिस बरतन में वह दही मथ रही थी उसमें पहले ही से एक काला सर्प बैठा हुआ था। बुढ़िया ने ध्यान नहीं दिया और दही के साथ उसे भी मथ डाला। सारी छाछ विषमयी हो गयी। वृद्धा ने व्यापारियों को भोजन करा उन्हें विषमयी छाछ पीने के लिए दे दी। व्यापारियों ने वह छाछ पी ली और वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

प्रातः हुआ। अब बुढ़िया ने खाने के लिए वर्तन में से छाछ निकाली और देखा तो उसमें साँप के टुकड़े नजर आये। वह स्तब्ध हो गई। सोचा वे बिचारे व्यापारी इस विषमयी छाछ को पीकर अवश्य मर गये होंगे। उसे बहुत पश्चाताप हुआ।

कालान्तर में वे व्यापारी घूमते घूमते पुनः उसी गाँव में उसी वृद्धा के यहाँ आये। वृद्धा ने उनको देखा और बहुत आश्चर्य चकित हो गई। वृद्धा ने कहा—"आप लोग जीवित हैं, यह जानकर मुझे अपार हर्ष हो रहा है। मैं तो यह दिन रात सोचती थी कि मेरी गलती से आप लोग अवश्य ही मर गये होंगे। किन्तु अचानक आप लोगों को जीवित देखकर मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है।" वृद्धा की बात सुनकर व्यापारी कहने लगे—"माँ जी! आप यह क्या कह रही हैं? हम लोग आपकी बात का कुछ भी मतलब नहीं समझ सके।" तब वृद्धा ने कहा—"बेटा! आप लोग कुछ दिन पूर्व जब मेरे यहाँ ठहरे थे तब मैंने आप को मट्ठा पिलाया था। उसमें एक काला साँप मरा हुआ था। वह छाछ साँप के जहर वाली थी उसे पीकर भी आप जीवित हैं बस इसी का मुझे आश्चर्य है।" वृद्धा की बातें सुनते ही चारों व्यापारी चौंक पड़े। सर्प के जहर पीने की बात बार-बार उन्हें याद आने लगी। उनको अपने प्राण संकट में दिखाई देने लगे। मन की जो स्थिति हुई उससे उनके शरीर में विष व्याप्त हो गया और वे चारों मृत्यु को प्राप्त हुए।

★

कथा— २७ :

सर्पदंश.

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १२ (पृ० ४२) के साथ है]

किसी ग्राम में दो भाई रहते थे। वे किसान थे। एक दिन वे घास काटने के लिये खेत में गये। बड़ा भाई एक वृक्ष की छाया में आराम करने लगा और छोटा घास काटने में लग गया। घास में से एक सर्प निकला और उसने उस छोटे भाई को डँस लिया। वह घास काटने में इतना तल्लीन था कि उसे इसका कुछ भी पता न चला। बड़ा भाई वृक्ष के तले से यह दृश्य देख रहा था।

कुछ समय के बाद, घास काट चुकने पर, छोटा भाई भी वृक्ष की छाया में आराम करने के लिये आया और घास का गट्ठर रखकर बैठ गया। उसके पैर से खून बह रहा था। बड़े भाई ने उससे खून बहने का कारण पूछा। उसने कहा, "भाई! मुझे कुछ भी मालूम नहीं। सम्भवः है कि किसी जन्तु ने काट लिया हो, या खरोंच आ गयी हो।" बड़े भाई ने सर्पदंश की बात उससे छिपा ली। वे दोनों घर लौट आये और सुखपूर्वक निवास करने लगे।

कालान्तर में, एक दिन दोनों घर पर बैठे, बड़े आनन्द से, गप्पें लड़ा रहे थे। बातों ही बातों में बड़े भाई ने छोटे भाई से सर्पदंश की घटना कही। छोटा भाई घबरा गया और वह बारबार सर्प-दंश का स्मरण करने लगा। वह इस घटना से इतना चिन्तित हो गया कि वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और तत्क्षण उसकी मृत्यु हो गयी।

जब तक किसान को सर्प-दंश की जानकारी न थी, वह स्वस्थ था, परन्तु ज्योंही उससे सर्प-दंश की बात कही गयी त्योंही उसका शरीर विष से व्याप्त हो गया और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार भुक्त काम भोगों के स्मरण करने से वासना रूपी विष शरीर में व्याप्त हो जाता है और ब्रह्मचर्य का भङ्ग हो जाता है।

★

कथा—२८ :

भूदेव ब्राह्मण [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा ९ (पृ० ४७) के साथ है]

एक समय पूर्व परिचित भूदेव नामक ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से आग्रह किया कि आप जो भोजन करते हैं, वह भोजन एक दिन हमें भी करवाया जाय।

ब्राह्मण का अत्यधिक आग्रह देख चक्रवर्ती ने समस्त ब्राह्मण परिवार को खीर का भोजन करवाया। उस भोजन से ब्राह्मण को उन्माद चढ़ गया और उसने रात्रि में स्त्री, पुत्री, बहन व माता के साथ अकार्य किया। जब उन्माद उतरा तो उसे बहुत पश्चाताप हुआ। अतः ब्रह्मचारी को कामोत्तेजक षड्रस भोजन का सेवन नहीं करना चाहिए।

१—निशीथ सूत्र अ० २ के आधार पर

कथा—२६ :

आचार्य मंगू [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १० (पृ० ४७) के साथ है]

एक समय मंगू नामक आचार्य मथुरा नगर में पधारे। वहाँ के श्रावक धर्मनिष्ठ एवं मुनियों के प्रति अगाध श्रद्धालु थे। आचार्य मंगू पूर्ण विद्वान थे। उनकी वाणी में सरस्वती निवास करती थी। वे आचार-विचार में सब तरह से उच्च थे। उन्होंने वहीं रहकर अध्ययन, पठन-पाठन शुरू कर दिया। आचार्य के आचार और व्यवहार से श्रावकगण अत्यन्त प्रभावित थे। वे भक्तिवश उनकी भरपूर सेवा करते और उन्हें नित्य सरस आहार तथा विविध प्रकार के पकवान दिया करते थे। आचार्य मंगू की रस-गृद्धि बढ़ गई। वे सोचने लगे "अगर मैं अन्य छोटे बड़े गांवों में विचरण करूँगा, तो ऐसा सरस आहार प्रतिदिन नहीं मिल सकेगा। यहाँ के श्रावक भी अत्यन्त श्रद्धालु हैं; मेरी अत्यधिक भक्ति करते हैं, अतः मुझे यहीं रहना चाहिए।" ऐसा सोच वे स्थिर भाव से वहीं रहने लगे। गृहस्थों के साथ उनका परिचय और भी गाढ़ा होता गया। नित्य सरस आहार सेवन से उनकी रस-गृद्धि बढ़ने लगी। वे आचार को, यानी पवित्र साधु-जीवन को, भूल गए। साधु की नित्य क्रियाएँ छोड़ दीं। उन्हें यह भी अभिमान होने लगा कि मुझे सरस तथा अलभ्य मिष्टान्न रोज मिलते हैं। इस प्रकार वे रस गौरव से युक्त हो गए। अब वे सरस तथा विषय वर्द्धक आहार प्राप्ति के कारण मूलगुणों में दोष लगाने लगे। चिरकाल तक सरस आहार का सेवन कर वे बिना आलोचना ही मरकर उसी नगर के यक्षालय में यक्ष बने।

यक्ष ने विभंग ज्ञान से पूर्व-भव देखा और बहुत पश्चाताप करने लगा। उसने सोचा, "मेरी स्वादलोलुपता ने ही आज मेरी ऐसी दुर्गति की है।"

वह यक्ष जब अपने पूर्वभव के शिष्य थंडिल को जाते हुए देखता तब उसे जिह्वा दिखाता। एक दिन साहस कर शिष्य ने यक्ष से पूछा "तुम अपनी जिह्वा क्यों बाहर निकाल रहे हो ?" यक्ष ने कहा "मैं तुम्हारा आचार्य मंगू हूँ। जिह्वा-स्वाद में पड़कर मेरी ऐसी दुर्गति हुई है। मैंने परमोच्च जिन-धर्म को पाकर भी रस-गृद्धि के कारण उसकी सम्यक् आराधना नहीं की। यही मेरी दुर्गति का एकमात्र कारण है। अतः तुम सब भी परमोच्च जिनधर्म को प्राप्त कर स्वाद लंपट मत बनना। अगर तुम लोग भी जिह्वा के स्वादवश पथ-विचलित हुए तो मेरी तरह ही तुम्हारी भी दुर्गति होगी।" इस प्रकार शिष्यों को रस-गृद्धि का दुष्परिणाम बता वह यक्ष अदृश्य हो गया।



१—उपदेशमाला के आधार पर

राजर्षि शैलक[1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा ११ (पृ० ४७) के साथ है]

उस समय शैलकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ शैलक नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती और पुत्र का नाम मण्डूक था। उसके पंथक आदि पाँच सौ मंत्री थे। वे चारों बुद्धि के निधान एवं राज्यधुरा के चिन्तक थे।

एक समय थावच्चा अनगार एक सहस्र शिष्य परिवार के साथ नगर के बाहर सुभूमिभाग उद्यान में पधारे। जनता दर्शन करने को गई। महाराजा शैलक भी अपने पाँच सौ मन्त्रियों के साथ दर्शन करने गया। अनगार का उपदेश सुन उसने पाँच सौ मंत्रियों के साथ श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। थावच्चा अनगार ने वहाँ से बाहर जनपद में विहार कर दिया।

किसी समय थावच्चा अनगार के शिष्य शुक अनगार अपने सहस्र शिष्य परिवार के साथ शैलकपुर नगर पधारे। महाराजा शैलक भी मन्त्रियों के साथ उनका उपदेश सुनने गया। उपदेश सुनने के बाद शैलक महाराजा शुक अनगार से बोला—"भगवन्! मैं अपने पुत्र मण्डूक को राज्यगद्दी पर स्थापित कर आप के पास प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूं।" अनगार बोले—"राजन्! तुम्हें जैसे सुख हो वैसा करो।" महाराजा घर आया और पाँच सौ मंत्रियों को बुला प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की। मंत्रियों ने भी महाराजा शैलक के साथ दीक्षा लेने का निश्चय प्रकट किया। पश्चात् महाराजा शैलक ने अपने पुत्र को राजगद्दी पर स्थापित कर पाँच सौ मंत्रियों के साथ शुक अनगार के पास दीक्षा ग्रहण की। शैलक राजर्षि ने सामायिकादि अंग उपांगों का अध्ययन किया। शुक अनगार ने पाँच सौ अनगारों को उन्हें शिष्य के रूप में दे उन्हें स्वतंत्र विहार करने की आज्ञा दी। शैलक राजर्षि पंथक आदि पाँच सौ अनगारों के साथ ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

शैलक राजर्षि अंत, प्रांत, तुच्छ, लुक्ष, अरस, विरस, शीत, उष्ण, कालातिक्रान्त, प्रमाणातिक्रान्त आहार का नित्य सेवन करते। प्रकृति से सुकोमल एवं सुखोपचित होने के कारण ऐसे आहार से उनके शरीर में उज्वल, असह्य वेदना उत्पन्न करने वाले पित्तदाह, कण्डु-खुजली, ज्वर जैसे रोगातंक उत्पन्न हो गये। इससे उनका शरीर सूख गया।

वे ग्रामानुग्राम विचरण करते शैलकपुर नगर के बाहर सुभूमिभाग उद्यान में पधारे। महाराजा मण्डूक भी अनगार के दर्शन करने के लिए उद्यान में गया। वहाँ उन्हें वन्दना कर उनकी पर्युपासना करने लगा।

मण्डूक महाराज ने शैलक अनगार के शरीर को अत्यन्त सूखा हुआ एवं रोग से पीड़ित देखा। यह देखकर वह बोला—"भगवन्! मैं आप के शरीर को सरोग देख रहा हूँ। आपका सारा शरीर सूख गया है, अतः मैं आपकी, योग्य चिकित्सकों से, साधु के योग्य औषध भेषज तथा उचित खान-पान द्वारा, चिकित्सा करवाना चाहता हूं। आप मेरी यान-शाला में पधारें। वहाँ प्रासुक-एषणीय पीठ, फलक, शैय्या, संस्तारक ग्रहण कर ठहरें। राजर्षि ने राजा की प्रार्थना स्वीकार की और दूसरे दिन प्रातः पाँच सौ अनगारों के समूह के साथ राजा की यान-शाला में पधारे। वहाँ यथायोग्य एषणीय पीठ, फलक आदि को ग्रहण कर रहने लगे।

राजा मण्डूक ने चिकित्सकों को बुलाकर शैलक राजर्षि की चिकित्सा करने की आज्ञा दी। चिकित्सकों ने विविध प्रकार की चिकित्सा की। चिकित्सा और अच्छे खान-पान से उनका रोग शान्त हुआ और शरीर पुनः हृष्ट-पुष्ट हो गया।

१—ज्ञातासूत्र अ० ५ के आधार पर

रोग के शान्त होने पर भी शैलक राजर्षि विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तथा मद्यपान में मूर्च्छित, गृद्ध एवं तद्रूप अध्यवसाय वाले हो गये। अवसन्न, अवसन्न-विहारी, पार्श्वस्थ, पार्श्वस्थ-विहारी, कुशील, कुशील-विहारी, प्रमत्त, प्रमत्त-विहारी, संसक्त, संसक्त-विहारी एवं ऋतु-बद्ध (शेष काल में भी पीठ, फलक, शैय्या संस्तारक को भोगने वाले) प्रमादी हो रहने लगे। इस तरह वे जनपद विहार से विहरने में असमर्थ हो गये।

एक दिन पंथक अनगार के सिवा अन्य ४६६ अनगार एकत्र हो परस्पर इस प्रकार विचार करने लगे : निश्चयतः शैलक राजर्षि ने राज्य का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की है। किन्तु वे इस समय विपुल अशन, पान, खाद्य एवं मद्यपान में आसक्त हो गये हैं। वे जनपद विहार भी नहीं करना चाहते। साधु को इस प्रकार प्रमत्त होकर रहना नहीं कल्पता। अतः हमलोगों के लिए, प्रातः होने पर शैलक राजर्षि की आज्ञा ले प्रातिहारिक पीठ, फलग आदि को वापिस कर पन्थक अनगार को उनके वैयावृत्य में रख, विहार करना श्रेयस्कर है। इस प्रकार विचार कर प्रातः शैलक की आज्ञा ले ४६६ अनगारों ने बाहर जनपद में विहार कर दिया।

एक बार शैलक कार्तिक चातुर्मास के दिन विपुल अशन, पान, खाद्य, और स्वाद्य का आहार और भरपूर मद्यपान कर पूर्वाह्न के समय सुखपूर्वक सो गये।

पन्थक अनगार ने चातुर्मासिक कार्योत्सर्ग कर दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण और चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की इच्छा से शैलक राजर्षि को खमाने के लिए अपने मस्तक से उनके चरणों का स्पर्श किया। शैलक पन्थक अनगार के पाद-स्पर्श से अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और बोले—"किस निर्लज्ज ने मेरा पाद-स्पर्श किया है ?"

पन्थक विनय पूर्वक बोला—"भगवन् ! मैं पन्थक हूं। मैंने चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में आप देवानुप्रिय को खमाने के लिए मस्तक से आपके चरण-स्पर्श किये हैं। आप मुझे क्षमा करें। मैं पुनः ऐसा अपराध नहीं करूंगा।"

पन्थक अनगार की बातें सुन शैलक राजर्षि के मन में इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—"मैं राज्य का परित्याग कर अनगार बना हूं। मुझे अवसन्न-विहारी, पार्श्वस्थ-विहारी बनकर रहना नहीं कल्पता। अतः मैं प्रातः मण्डूक राजा से पूछकर विहार कर दूंगा।"

शैलक राजर्षि ने प्रातः पन्थक अनगार को साथ ले विहार कर दिया।

अन्य अनगारों ने जब यह सुना कि शैलक राजर्षि ने जनपद विहार किया है तो वे भी आकर उनसे मिल गये और उनकी पर्युपासना करने लगे।



कथा—३१ :

पुण्डरीक-कुण्डरीक कथा [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ९ गाथा ३६ (पृ० ५६) के साथ है]

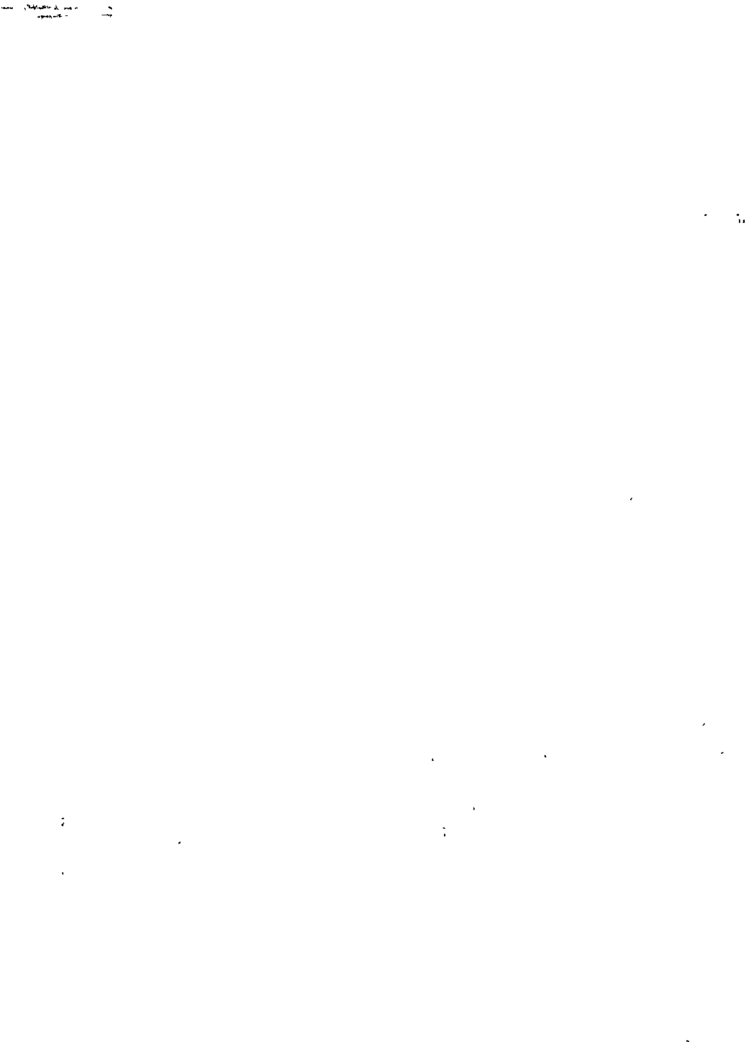
पूर्व महाविदेह-के पुष्पकलावती विजय में पुण्डरीकिनी नामक नगरी थी। उसमें महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसके पुण्डरीक और कुण्डरीक नाम के दो पुत्र थे। महापद्म ने अपने ज्येष्ठ पुत्र कुण्डरीक को राजगद्दी पर बैठाकर पुण्डरीक को युवराज बनाया और स्वयं धर्मघोष आचार्य से प्रव्रज्या ग्रहण कर तप संयम में विचरने लगे।

एक समय महापद्म मुनि विचरण करते हुए पुण्डरीक नगर में पधारे। उनकी वाणी सुनकर पुण्डरीक ने श्रावक के बारह व्रत धारण किये और कुण्डरीक ने दीक्षा ग्रहण कर ली। कुण्डरीक मुनि ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। अन्तप्रान्त और रूक्ष आहार करने से उनके शरीर में दाह ज्वर उत्पन्न हुआ। विहार करते हुए वे पुण्डरीक नगरी पधारे। पुण्डरीक राजा ने मुनि की चिकित्सा करवाई, जिससे पुनः स्वस्थ हो गये। उनके स्वस्थ हो जाने पर साथवाले मुनि तो विहार कर गये किन्तु कुण्डरीक वहीं रह गए। उनके आचार-विचार में शिथिलता आगई। यह देखकर पुण्डरीक राजा ने मुनि को समझाया। बहुत समझाने से मुनि वहाँ से विहार कर गये। कुछ समय तक स्थविरों के साथ विहार करते रहे किन्तु बाद में शिथिल होकर पुनः अकेले हो गये और विहार करते हुए पुण्डरीक नगर आ गये। राजा ने मुनि को पुनः समझाया किन्तु उन्होंने एक भी न सुनी और राजगद्दी लेकर भोग भोगने की इच्छा प्रकट की। पुण्डरीक ने कुण्डरीक के लिए राजगद्दी छोड़ दी और स्वयं पंच मुष्टि लोचकर प्रव्रज्या ग्रहण की। 'भगवान् को वन्दन-नमस्कार के पश्चात् ही मैं आहार पानी ग्रहण करूँगा'—ऐसा कठोर अभिग्रह लेकर पुण्डरीक ने वहाँ से विहार किया। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए भगवान् की सेवा में पहुंचे। उनके पास पहुंच उन्होंने पंच महाव्रत ग्रहण किये। स्वाध्याय-ध्यान से निवृत्त होकर पुण्डरीक मुनि आहार के लिए निकले। ऊँच-नीच-मध्यम कुलों में पर्यटन करते हुए निर्दोष आहार प्राप्त किया। आहार रूक्ष, अन्त-प्रान्त होने पर भी उन्होंने उसे शान्त भाव से खाया जिससे उनके शरीर में दाह-ज्वर की बीमारी हो गई। अर्ध-रात्रि के समय उनके शरीर में तीव्र वेदना हुई। आत्म-आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर उन्होंने संथारा ग्रहण किया। इस तरह बड़े शान्त भाव से उन्होंने देह को छोड़ा। मरकर वे सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए। कालान्तर में महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध गति को प्राप्त करेंगे।

उधर राजगद्दी पर बैठकर कुण्डरीक कामभोगों में आसक्त होकर अति पुष्ट और कामोत्तेजक पदार्थों का अतिमात्रा में सेवन करने लगा। वह आहार उसे पचा नहीं। अर्ध रात्रि के समय उसके भी शरीर में तीव्र वेदना होने लगी। आर्त रौद्र ध्यान युक्त मरकर वह सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ। परिणाम से अधिक आहार करनेवाले की ऐसी ही अधोगति होती है। अतः परिमाण से अधिक आहार नहीं करना चाहिए।



१—ज्ञातासूत्र अ० १९ के आधार पर



परिशिष्ट—ख

आगमिक आधार

बम्भचेरसमाहिठाणा

[उत्तराध्ययन अ० १६]

[इस ग्रंथ के प्रणेता आचार्य भिखणजी ने दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि उनकी इस कृति का आधार उत्तराध्ययन का १६ वाँ अध्ययन 'ब्रह्मचर्यसमाधि स्थानक' है। टिप्पणियों में इस अध्ययन के कतिपय अंश यथास्थान सानुवाद दिये गये हैं। पाठकों की जानकारी के लिए समूचा अध्ययन यहाँ उद्धृत किया जाता है।]

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा। तं जहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थिपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थिपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे॥ १॥

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा॥ २॥

नो इत्थीणं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा॥ ३॥

नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएमाणस्स निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोएज्जा निज्झाएज्जा॥ ४॥

नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा

लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्दं वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा ॥ ५ ॥

नो निग्गन्थे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा ॥ ६ ॥

नो पणीयं आहारं आहरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा ॥ ७ ॥

नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोयायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा ॥ ८ ॥।

नो विभूसाणुवादी हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। विभूसावत्तिए विभूसिय सरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवादी हविज्जा ॥ ६ ॥

नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु सद्दरूवगन्ध फासाणुवादिस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो सद्दरूवरसगन्ध-फासाणुवादी भवेज्जा से निग्गन्थे। दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ ॥ १० ॥

भवन्ति इत्थ सिलोगा। तं जहा—

जं विवित्तमणाइण्णं रहियं इत्थिजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए ॥ १ ॥
मणपल्हायजणणी कामरागविवड्ढणी।
बम्भचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए ॥ २ ॥
समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥ ३ ॥
अंगपच्चंग संठाणं चारुल्लवियपेहियं।
बम्भचेर रओ थीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥ ४ ॥
कूइयं रुइयं गीयं हसियं थणियकन्दियं।
बम्भचेररओ थीणं सोयगेज्झं विवज्जए ॥ ५ ॥

हासं किड्डं रइं दप्पं सहसावित्तासियाणि य।
बम्भचेररओ थीणं नानुचिन्ते कयाइ वि ॥ ६ ॥
पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए॥ ७॥
धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बम्भचेररओ सया॥ ८॥
विभूसं परिवज्जेज्जा सरीर परिमण्डणं।
बम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥ ९॥
सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए॥ १०॥
आलओ थीजणाइण्णो थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं तासिं इन्दियदरिसणं॥ ११॥
कूइयं रुइयं गीयं हासभुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयणं॥ १२॥
गत्तभूसणमिट्ठं च काम भोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा॥ १३॥
दुज्जए काम भोगे य निच्चसो परिवज्जए।
संकाथाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं॥ १४॥
धम्मारामे चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरते दन्ते बम्भचेरसमाहिए॥ १५॥
देव दाणव गन्धव्वा जक्खरक्खस्स किन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति तं॥ १६॥
एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे॥ १७॥
त्ति बेमि॥



पमायट्ठाणं

[उत्तराध्ययन अ० ३२]

[उत्तराध्ययन' के १६ वें अध्ययन के अतिरिक्त उत्त० अ० ३२ तथा दशवैकालिक अ० ८ में भी शीलसमाधि के स्थानकों का विवरण है। सम्बंधित स्थलों को उद्धृत किया जाता है।]

रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥ १० ॥
जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगाम भोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई ॥ ११ ॥
विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं ओमासणाणं दमिइन्दियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं पराइयो वाहिरिवोसहेहिं ॥ १२ ॥
जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनियलस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥ १३ ॥
न रूवलावण्णविलासहासं न जंपियं इंगियपेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ १४ ॥
अदंसणं चेव अपत्थणं च अचिन्तणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं हियं सया बम्भवए रयाणं ॥ १५ ॥
कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगन्तहियं ति नच्चा विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥ १६ ॥
मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥ १७ ॥
एए य संगे समइक्कमित्ता सुदुत्तरा चेव भवन्ति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गंगासमाणा ॥ १८ ॥
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि तस्सन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥ १९ ॥
जहा य किंपागफला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे ॥ २० ॥
जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।
न यामणुन्नेसु मणं पि कुज्जा समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ २१ ॥

★

परिशिष्ट—ग

श्री जिनहर्ष रचित शील की नव वाड़

श्री जिनहर्ष रचित

शील की नव बाड़

दूहा

श्री नेमीसर चरण युग प्रणमुं ऊठि परभात ।
बावीसम जिन जगत गुरु ब्रह्मचार विप्यात ॥ १ ॥
सुंदर अपछर सारिपी रति सम राजकुमार ।
भर जोवन में जुगति सुं छोड़ी राजुल नारि ॥ २ ॥
ब्रह्मचर्य जिण पाल्यो धरतां दुद्धर जेह ।
तेह तणा गुण वरणवुं जिम पावन हुवइ देह ॥ ३ ॥
सुरगुरु जो पोतें कहै रसना सहस वणाइ ।
ब्रह्मचर्य ना गुण घणा तो पिण कह्या न जाइ ॥ ४ ॥
गलित पलित काया थई तउ ही न मूंकै आस ।
तरुण पणें जे व्रत धरै हुं बलिहारी तास ॥ ५ ॥
जीव विमासी जोइ तूं विषय म राचि गिवारि ।
थोडा सुप नें कारणइ मूरख घणउ म हारि ॥ ६ ॥
दस दृष्टांते दोहिलो लाधउ नर भवसार ।
पालि सील नव वाड़ि सु सफल करो अवतार ॥ ७ ॥

ढाल : १ :

(मन मधुकर मोही रह्यउ एहनी)

सील सुतरवर सेवीयैं व्रत मांहि गरुवो जेह रे ।
दंभ कदाग्रह छोड़िने धरीयैं तिण सुं नेह रे सी० ॥ १ ॥
जिन शासन वन अति भलो नंदन वन अनुहार रे ।
जिनवर वन पालक तिहां करुणारस भंडार रे सी० ॥ २ ॥
मन थाणइ तरु रोपियउ बीज भावना वंभ रे ।
श्रद्धा सारण तिहां वसै विमल विवेक ते अंभ रे सी० ॥ ३ ॥
मूल सुदृढ़ समकित भलउ खंध नवे तत्त्व दाप रे ।
साप महाव्रत तेहनो अणुव्रत ते लघु साप रे सी० ॥ ४ ॥
श्रावक साधु तणा घणा गुणगण पत्र अनेक रे ।
मउर करम सुभ बन्धनउ परिमल गुण अतिरेक रे सी० ॥ ५ ॥
उत्तम सुरसुप फूलड़ा सिवसुप ते फल जांण रे ।
जतनकरी वृष राषिवउ हीयड़ै अतिरंग आंणि रे सी० ॥ ६ ॥
उत्तराध्ययनइं सोलमे बंभसमाही ठांण रे ।
कीधी तिण तरु पाषती ए नव वाड़ि सुजांण रे सी० ॥ ७ ॥

दूहा

हिव प्राणी जाणी करी राखि प्रथम ए वाडि ।
[1]जो ए भांजी पइसिसी प्राणे प्रथम महा धाडि ॥ १ ॥
जेहड़ तेहड़ पल्कली प्रमदा गय मयमत्त ।
सील वृक्ष ऊखाड़िसी वाडि विभावि तुरत्त ॥ २ ॥

ढाल : २ :

(नणदल री)

माव धरी नित पालीयइ गरूओ ब्रह्मव्रत सार हो भवीयण ।
जिण थी सिव सुप पामीयैं सुंदर तनु सिणगार हो भ० ॥ १ भा० ॥
स्त्री पसु पंडग जिहां वसइ तिहां रहिवौ नहीं वास हो भ० ।
एहनी संगति वारीयैं व्रत नौ करै विणास हो भ० ॥ २ भा० ॥
मंजारी संगति रमें कूकड़ मूंसग मोर हो भ० ।
कुसल किहांथी तेहनइ पामें दुप अघोर हो भ० ॥ ३ भा० ॥
अगनि कुंड पासइ रहै प्रघलैं घृत नौं कुंभ हो भ० ।
नारी संगति पुरुषनइ रहइ किसो परि वंभ हो भ० ॥ ४ भा० ॥
सींह गुफा वासी जती रह्यौ कोस्या चित्रसाल हो भ० ।
तुरत पडयौ वसि तेहनइं देस गयौ नेपाल हो भ० ॥ ५ भा० ॥
विकल अकल विण वापडा पंपी करता केल हो भ० ।
देपी लपणा महासती रूली घणुं इण मेल हो भ० ॥ ६ भा० ॥
चित चंचल पंडग नरा वरतै तीजै वेद हो भ० ।
तजि संगति रति तेहनी कहे जिनहरप उमेद हो भ० ॥ ७ भा० ॥

दूहा

अथवा नारी एकली भली न संगति तास ।
धर्मकथा पिण न कहिवी बइसी तेहनइ पास ॥ १ ॥
तेहथी अवगुण हुवइ घणा संका पामें लोक ।
आवै अछती आल सिरि बीजी वाड़ि विलोक ॥ २ ॥

ढाल : ३ :

(रे प्राणी धरि संवेग विचार एहनी)

जाति रूप कुल देसनी रे रमणिकथा कहै जेह ।
तेह नौ ब्रह्मव्रत किम रहै रे किम रहै व्रतसुं नेह रे ॥ १ ॥
प्राणी नारीकथा निवारि तुं तौ बीजी वाड़ि संभार रे प्रां० ।
चंद्रमुखी मृगलोयणी रे वेणी जाणि भुयंग ।
दीपसिख सम नासिका रे अधर प्रवाली रंग रे प्रां० ॥ २ ॥
वांणी कोइल जेहवी रे वारण कुंभ उरोज ।
हंसगमणि कृसहरिकटी रे करयुग चरण सरोज रे प्रां० ॥ ३ ॥

१—बौ ए भांजी पससी प्राणइ प्रमदा धाडि

रमणि रूप इम वरणवै रे आण विषै मन रंग ।
मुगध लोकनइं रीझवइ रे वाधइ अंग अनंग रे प्रां० ॥ ४ ॥
अपवित्र मलनौ कोठलौ रे कलह काजल नी ठाम ।
बारह स्रोत्र वहै सदा रे चरम दीवडौ नांम रे प्रां० ॥ ५ ॥
देह उदारिक कारिमी रे षिण में भंगुर थाइ ।
सप्त धातु रोगाकुली रे जतन करतां जाय रे प्रां० ॥ ६ ॥
चक्री चौथउ जांणीयै रे देखें दीठौ आय ।
ते पिण पिण में विणसीयौ रे रूप अनित्य कहाय रे प्रां० ॥ ७ ॥
नारि कथां विकथा कही रे जिनवर बीजै[1] अंग ।
अनरथ दंड अंग सातमें रे कहै जिनहरष प्रसंग रे प्रां० ॥ ८ ॥

दूहा

ब्रह्मचारी जोगी जती न करै नारि प्रसंग ।
एकण आसन बइसतां थायै व्रत नो भंग रे ॥ १ ॥
पावक गाले लोहनइं जा रहै पावक संग ।
इम जांणी रे प्रांणीया तजि आसण त्रियरंग ॥ २ ॥

ढाल : ४ :

(थे सौदागर लाल चलण न देसुं एहनी)

तीजी वाड़ि हिवै चित्त विचारौ नारि सहित बइसवौ निवारौ लाल ।
एकइ आसण काम दीपावै चौथा व्रत नै दोष लगावै लाल ती० ॥ १ ॥
इम वैसतां आसंगौ थायै आसंगै काया फरसायै रे लाल ।
काया फरस विषै रस जागै तेहथी अवगुण थायै आगै लाल ती० ॥ २ ॥
जोवौ श्री सिघभूत प्रसिद्धौ तन फरसै नीयाणौ कीधौ लाल ।
द्वादशमौ चक्र अवतरीयौ चित्तै प्रतिबोध तेहनें दीयौ लाल ती० ॥ ३ ॥
तेहनें उपदेश[2] न लागौ विरतन कायर थई भागौ लाल ।
सातमी नरक तणा दुष सहीया, स्त्री फरसैं अवगुण इम कहीया लाल ती० ॥ ४ ॥
काम विराम बधै दुष पांणी, नरक तणी साची सहिनांणी लाल ।
एकइ आसण दूषण जांणी परिहरि निज आतम हित आंणी लाल ती० ॥ ५ ॥
माय वहिन जौ बेटी थायै ते बैसी उठी जायै लाल ।
कल्पै एकण मुहरत पाछै बैसवौ जिनहरष एं आछै लाल ती० ॥ ६ ॥

दूहा

चित्र लिषत जे पूतली ते जोएहवी नाहि ।
केवलज्ञानी इम कहै दसवीकालिक मांहि ॥ १ ॥
नार वेद नरपति थयौ चपुकुसील कहाय ।
लप भव चौथी वाडि तजि मुरलीयउ[3] रूपी राय ॥ २ ॥

१—तीजे २—उपदेश लेस ३—रूलीयउ

ढाल : ५ :

(मोहन मुंदरी ले गयो एहनी)

मनहरि इंद्री नारि ना दीठां वधै विकार ।
वागुल[1] कांमी मृग भणी हो पास रच्यौ करतार ॥ १ ॥
सुगुण रे नारी रूप न जोईयें [2]जोईयें धरि राग सु० ।
नारी रूपें दीवलौ कामी पुरुष पतंग ।
झापै सुप नें कारणें हो दाजैं अंग सुरंग सु० ना० ॥ २ ॥
मनगमता रमता होयें[3] उर कुच वदन सुरंग ।
तहर अहर[4] भोगी डस्या हो जोवंतां व्रत भंग सु० ना० ॥ ३ ॥
कांमणिगारी कांमनी इण जीतो सयल संसार ।
अपी अजीय न को रह्यो हो सुरनर गया सहु हार सु० ना० ॥ ४ ॥
हाथ पाव छेद्या हुवै कांन नाक पिण जेह ।
ते पिण सो वरसां तणी हो ब्रह्मचारी तजैं तेह सु० ना० ॥ ५ ॥
रूपै रंभा सारिषी मीठा बोली नारि ।
तौ किम जोवैं एहवी हो भर योवन व्रत धारि सु० ना० ॥ ६ ॥
अवला इंद्री जोवतां मन थायें वसि प्रेम ।
राजमती देषी करी हो तुरत डिग्यो रहनेमि सु० ना० ॥ ७ ॥
रूप कूप देषी करी माहि पडे कांमंध ।
दुप मांणे जांणें नही हो कहै जिनहरष प्रबंध सु० ना० ॥ ८ ॥

दूहा

सयोगी पासै रहै ब्रह्मचारी निसदीस ।
कुशल न तेहनां व्रत भणी[5] भाजै विसवावीस ॥ १ ॥
वसै नहीं कुडि अंतरै सील तणी हुवइ हांणि ।
मन चंचल वसि रापवा हिय धरी जिन वांणि ॥ २ ॥

ढाल : ६ :

(श्री चन्दा प्रभु पाहुणौ रे एहनी)

वाडि हिवै सुण पंचमी रे सील तणी रपवाल रे ।
चूरौ पड़सी तौ सही रे व्रत थासी विसराल रे वा० ॥ १ ॥
परीअछ भीतनें अंतरै रे नारि रहै तिहां रात रे ।
केलि करै[6] निज कंत सुं रे विरह मरोडै गात रे वा० ॥ २ ॥
कोयल जिम कुह कैलवै रे[7] गावै मधुरै साद रे ।
गहमाती रातौ थकी रे सुरत[8] सरस उनमाद रे वा० ॥ ३ ॥
रोवै विरहाकुल थई रे दाधी दुपदन झाल रे[9] ।
दीणे हीणे बोलडै रे काम[10] जगावै बाल रे वा० ॥ ४ ॥

१—वागुस २—जोईय नही धर रंग ३—दीयै ४—डहर ५—हो ६—कलइ
७—कुहका करइ रे ८—स ९—दुपद वक्रावंल रे १०—विरह

काम वसैं हड्हड हसैं रे प्रिय मेटो तनु ताप रे ।
वात करै तन मन हरै रे विरहण करै विलाप रे वा० ॥ ५ ॥
राग विषै सुणि हुलसैं रे हासैं अनरथ दंड[1] रे ।
रावणि[2] घरणि हासा थकि रे रावण वध थयो जोय रे वा० ॥ ६ ॥
ब्रह्मचारी नवि सांभलै रे एहवा विरही वैण रे ।
कहे जिनहरप [3]धीरज दलै रे चित्त चलै सुणि वैण रे वा० ॥ ७ ॥

दूहा

छठी वाडै इम कह्यो चंचल चित्त म डिगाय ।
पाधौ पीधौ विलसीयौ रे तिण सूं चित म लगाय ॥ १ ॥
काम भोग सुप प्रारथ्या आपै नरक निगोद ।
परतिप तौ कहिवौ किसुं विलसै जेह विनोद ॥ २ ॥

ढाल : ७ :

(आज निहेजो रे दीसइ नाहलौ एहनी)

भर जोवन धन सामग्री लही पामी अनुपम भोग ।
पांचें इंद्री नें वसि भोगव्या पाचे भोग संजोग भ० ॥ १ ॥
ते चीतारे ब्रह्मचारी नही धुरि भोगवीया सुप ।
आसीविस विससाल समोपमा चीतारख्या दे दुप भ० ॥ २ ॥
सेठ मांकंदी अंगज जांणीयै जिणरक्षत इण नांम ।
जक्ष तणी सिप्या सहु वीसरी व्यामोहित वसि कांम भ० ॥ ३ ॥
रयणा देवी सम मुख जोईयै पूरव प्रीत संभार ।
ते भापी तरवारै वीधीयौ नांष्यौ जलधि मझार भ० ॥ ४ ॥
जोवौ जिनपालिक पडित थयौ न कीधौ तास वेसास ।
मूलगी पिण प्रीति न मन धरी सुप संयोग विलास भ० ॥ ५ ॥
सेलग जक्षै तत पिण ऊधर्यौ मिलीयौ निज परिवार ।
कहै जिनहरप न पूरव कीलीया संभारै नरनार भ० ॥ ६ ॥

दूहा

पाटा पारा चरचरा मीठा भोजन जेह ।
मधुरा मोल कपायला रसना सहु रस लेह ॥ १ ॥
जेहन नी रसना वसि नही चाहै सरस आहार ।
ते पांमे दुप प्राणीयौ चौगति रुलै संसार ॥ २ ॥

ढाल : ८ :

(चरणाली चामुंड रण चढै एहनी)

ब्रह्मचारी सुणि वातडी निज आतम हित जांणी रे ।
वाडि म भाजे सातमी सुणि जिनवर नी वांणी रे ब्र० ॥ १ ॥

१—होय २—रांम ३—धीरिम टलइ रे चित्त टलै सहु सेण रे

कमल[1] झरै उपाड़तां घृत बिंदु सरस आहारो रे ।
ते आहार निवारीयैं तिण थी वधै विकारो रे ब्र० ॥ २ ॥
सरस रसवती आहरै दूध दही पकवानो रे ।
पाप श्रवण तेहनें कह्यौ उत्तराध्ययन सु जांणो रे ब्र० ॥ ३ ॥
चक्रवर्त्ति नी रसवती रसिक थयो भूदेवो रे ।
काम विटंबण तिण लही वरजि २ नितमेवो रे ब्र० ॥ ४ ॥
रसना जे जे लोलपी[2] लंपट लयण सवादो रे ।
मंजू आचारिज नी परै पांमें कुगति विषादो रे ब्र० ॥ ५ ॥
चारित छांडी प्रमादीयौ निज सुत नी राजधांनी रे ।
राज रसवती वसि पड्यौ [3]जोईसेलममदमापांनी रे ब्र० ॥ ६ ॥
सवल आहारै वल वधै वल उपसमय[4] न वेदो रे ।
वेदै व्रत पंडित हुवै कहै जिनहरष उमेदो रे ब्र० ॥ ७ ॥

दूहा

अति आहारै दुष हुवै गलै रूप सुगात ।
आलस नीद प्रमाद घण दोष अनेक कहात ॥ १ ॥
घणें आहारै विस चढ़ै घणेंज फाटै पेट ।
धान अमामौ ऊरतां हांडी फूटै नेट ॥ २ ॥

ढाल : ९ :

(जंबूद्वीप मझार एहनी)

पुरुष कवल वत्तीस भोजन विध कह्या ।
अठावीस नारी तणो[5] ए पंडग कवल चोवीस ॥
इधकै दूषण होइ असाता दुष[6] घणीए ॥ १ ॥
ब्रह्मव्रत धरनार[7] थायै तेहनैं उणोदरीए गुण घणाए ।
जीमें जासक जेह तेहनें गुण नहीं अतीचार ब्रह्मव्रत तणाए ॥ २ ॥
जोइ कुंडरीक मुणिंद सहस वरस लगी तप करि करि काया दही ए ।
तिण भागो चारित्र आयो राजमें अति मात्रा रसवती लहीए ॥ ३ ॥
मेवा नें मिष्टान व्यंजन नवनवा सालि दालि घृत लूचिका ए ।
भोजन करि भरपूर सुतो निस समें हुओ तास विसूचिका ए ॥ ४ ॥
वेदन सही अपार आरत रौद्र में मरीय गयौ ते सातमी ए ।
कहै जिन हरष प्रमाण ओछौ जीमीयैं वाडि कहि ए आठमी ए ॥ ५ ॥

दूहा

नवमी वाड़ि विचार नें पालि[8] सदा निरदोष ।
पामिस तत खिण प्रांणीया अविचल पदवी मोष ॥ १ ॥
अंग विभूषा जे[9] करै ते संजोगी होइ ।
ब्रह्मचारी तन सोभवै तिण[10] कारण नवि कोइ ॥ २ ॥

१—कवल २—रसना नौ जे लोलुपी ३—जोइ सेलग मदपांनी रे ४—वल उपसमइ
५—भणी ६—अति ७—नरनारि ८—पाल ९—ते १०—तिहां

ढाल : १० :

(वीरा बाहुबल नी)

शोभा न करै देहनी न करै तन सिणगार ।
ऊगटणा पीठी वली न करै किण ही वारो रे ।
सुणि[1] चेतन[2] सुणि तूं मोरी वीनती तो नें सीष कहूँ हितकारो रे सु० ॥
उन्हा ताढा नीर सु न करै अंग अंघोल ।
केसर चंदन कुकुमै पातै न करइ पोलो रे सु० ॥ १ ॥
घणमोला नें उजला न करै वस्त्र बणाव ।
घाते कांम महा बली चौथा [3]व्रत नें थावौ रे सु० ॥ २ ॥
कांकड़ कुंडल मुंदड़ी मोला[4] मोतीआ हार पहिरै नही ।
सोभा भणी[5] जे थायै व्रतधारो रे ॥ सु० ३ ॥
काम दीपत[6] जिणवर कह्या भूषण दूषण एह ।
अंग विभूषा टालवी कहै जिनहरष सनेहो रे सु० ॥ ४ ॥

ढाल : ११ :

(आप सवारथ जग सहू रे एहनी)

श्री वीर दोइ दस परषदा में उपदिस्या इम सील ।
जें पालसुं नव वाडि सु ते लहिसी हो शिव संपद लील ॥ १ ॥
सील सदा तुमें सेवज्यो रे फल जेह नो हो अति सरस अपीण ।
आठ करम[7] हणी रे ते पामै हो ततषिण सुप्रीण[8] सी० ॥ २ ॥
जय[9] जलण अरि करि केसरी भय जाय सगला भाजि ।
सुर असुर नर सेवा करै मन वंछित हो सीभै सहु कांम[10] सी० ॥ ३ ॥
जिन भुवन नीपावै नवौ कंचण तणौ नर कोइ ।
सोवन तणी कोइ कोडि द्यै[11] सील सम वडि हो तौ ही पुण्य न होय सी० ॥ ४ ॥
नारि ने दूसण नर थकी तिम नारि थी नर दोष ।
एकडि[12] विहुं नें सारिषी पालेवी हो मन धरीय संतोष सी० ॥ ५ ॥
निधि नयण सुरस[13] भाद्रपदि बीज आलस छांडि ।
जिन हरष दृढ़ व्रत पालिज्यो व्रत धारी हो जुगती नव वाडि सी० ॥ ६ ॥

इति श्री नववाडि सुद्ध शील विषये चतुपदी समाप्तः । सं० १८४४ वर्षे मिती जेठ वदि ८ दिने लिषतं विक्रमपुर मध्ये गुरुवारे लि० । पं० सुगुणप्रमोदमुनिः लिपि कृतं ॥ श्रीः ॥ ६ : श्रीरस्तुः ॥ श्री : ॥ पं । महिमा प्रमोद मुनि हुकुम कियो जिदं लिप दीनो ॥ श्री ॥ ६ : ॥ कल्याणमस्तु ॥ सुभं भवत ।

१—सुणि सुणि २—चेतन चेतन ३—चौथा व्रत नौ घावौ रे ४—माला ५—सां पहिरइ नही सोभा भणी ६—दीपण ७—करम अरियण ८—सुप्रवीण ९—जल १०—काज ११—कोडि १२—ए वाडि १३—सर ससि

परिशिष्ट–घ

पुस्तक-सूचि

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
अकेलो जाने रे (१६५४)	मनु बहन गांधी	नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद
अथर्ववेद	सं० श्रीराम शर्मा आचार्य	गायत्री प्रकाशन, मथुरा
अनगारधर्मामृतम् (प्र० आ०)	पं० आशाधरजी	श्री माणिकचन्द-दि० ग्रंथ० समिति, बम्बई
अनीति की राह पर (१६४७)	महात्मा गांधी	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
अमृतवाणी (१६४५)	म० गांधी अनु० श्री रामनाथ 'सुमन'	साधना-सदन, इलाहाबाद
आचार्य सन्त भीखणजी	श्रीचन्द रामपुरिया	हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया, सुजानगढ़
आचाराङ्ग सूत्र	अनु० मुनि श्री सौभाग्यमलजी	श्री जैन साहित्य समिति, उज्जैन
आचाराङ्ग (निर्युक्ति टीकायुक्त)		श्री सिद्धचक्र साहित्य प्र०स०, बम्बई
आत्मकथा (१६४०)	महात्मा गांधी	नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद
आरोग्य की कुञ्जी (१६५८)	"	"
आरोग्य साधन (१६५०)	"	हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता
उत्तराध्ययन (नेमिचन्द्र टीकायुक्त)		फूलचन्द खीमचन्द, वलाद
उत्तराध्ययन सूत्र नी चोरासी कथाओ	जीवनलाल छगनलाल संघवी	जीवन० छगन० अहमदाबाद
उत्तराध्ययनसूत्रम्	जे० शार्पेन्टियर	उपशाला
उपदेश माला (१६२३)	श्री धर्मदास गणि	मास्टर उमेदचंद रायचंद, अहमदाबाद
उपासगदसाओ	अनु० एन. ए. गोर, एम. ए.	ओरियन्टयल बुक एजेन्सी, पूना
अेकला चलो रे (१६५७)	मनु बहन गांधी	नव० प्र० मं०, अहमदाबाद
औशनसस्मृति (स्मृति-संदर्भः तृ० भा०)		श्री मनसुखराय मोर, कलकत्ता
ऋग्वेद संहिता	सं० सातवलेकर	स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, सुरत
औपपातिक सूत्रम्	सं० एन. जी. सुरू, एम. ए.	पूना
कार्यकर्ता-वर्ग	विनोबा भावे	अखिल भारत सर्व सेवा-संघ, काशी
गांधी और गांधीवाद (विवरण पत्रिका वर्ष ८ अंक ८)	श्रीचन्द रामपुरिया	जैन श्वे० तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता
गान्धी-वाणी (१६५२)	सं० श्री रामनाथ 'सुमन'	सा० स०, इलाहाबाद
गीता		गीता प्रेस, गोरखपुर
गौतम धर्मसूत्र		आनन्द शर्मा प्रेस
ज्ञाताधर्मकथाङ्ग	सं० आचार्य श्री चन्द्रसागरसूरि	श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक स०, बम्बई
ज्ञानार्णव	मुनि शुभचन्द्र	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई
चरकसंहिता	जयदेव विद्यालंकार	मोतीलाल बनारसीदास, बनारस
चर्पट पञ्जरी	श्रीमद् शंकराचार्य	भार्गव बुकडिपो, वाराणसी
छान्दोग्योपनिषद्		गीता प्रेस, गोरखपुर
जाबालोपनिषद्		निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
जैन तत्त्व प्रकाश (द्वि० भाग)	सं० छोगमल चोपड़ा बी. ए. बी. एल	जै० श्वे० तेरा० महासभा

	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य (१९३१)	आ० सुखलाल संघवी अ० बेचरदास दोशी	गूर्जर ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद
जैन भारती (१९५३)	सं० श्रीचन्द रामपुरिया	जै० श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता
तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) भा० १, २	अकलङ्कदेव सं० पं० महेन्द्र कुमार जैन एम. ए.	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सभाष्य)	श्रीमदुमास्वाति अनु० पं० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	श्री परमश्रुत प्रभावक जैनमण्डल, बम्बई
तत्त्वार्थवृत्ति	श्री श्रुतसागरसूरि	भा० ज्ञा०, काशी
तत्त्वार्थ सूत्र (गुजराती)	पं० सुखलालजी	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि	सं० पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	भा० ज्ञा०, काशी
तैत्तिरीय संहिता		
त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो (१९४५)	महात्मा गांधी	नव० प्र० मं० अहमदावाद,
दक्षस्मृति		
दसवेयालिय सुत्त	सं० डॉ० ल्यूमैन अनु० डॉ० श्यूब्रिंग	सेठ आनन्दजी कल्याणजी, अहमदावाद
दशवैकालिक सूत्र	का० वा० अभ्यंकर, एम. ए.	अहमदाबाद
दशाश्रुतस्कन्ध	अनु० आ० श्री आत्मारामजी	जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर
दीघ-निकाय	अनु० भिक्षु राहुल सांकृत्यायन	महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)
The wonder that was India	ए० एल० बासम, बी. ए., पीएच. डी.	सिडविक एण्ड जैकसन, लण्डन
The sayings of Muhammad	सर अब्दुल शुराहवर्दी	सर हसन शुराहवर्दी, कलकत्ता
दृष्टान्त और धर्मकथाएं	श्रीचन्द रामपुरिया	जै० श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता
धर्ममंथन (१९३९)	महात्मा गांधी	नव० प्र० मं०, अहमदावाद
नवजीवन (२८।७।३९)		नव० प्र० मं० "
नायाधम्मकहाओ	सं० प्रो० एन० व्ही० वैद्य	पूना
निशीथसूत्रम् (सभाष्य, सचूर्णि) (चार भाग)	सं० मुनि अमरचन्द्रजी	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
पथ और पाथेय	आचार्य श्री तुलसी (सं० मुनि श्रीचन्द्र)	सेठ चाँदमल बांठिया ट्रस्ट
पातञ्जल योगसूत्र	अनु० रामाप्रसाद, एम०ए०	पाणिनी आफिस, इलाहाबाद
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	श्री अमृतचन्द्रसूरि अनु० श्री नाथूराम प्रेमी	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई
प्रश्नव्याकरण	अनु० मुनिश्री हस्तिमलजी	श्री हस्तिमलजी सुराणा, पाली

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
प्रश्नोपनिषद्	अनु० नारायण स्वामी	सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा, देहली
ब्रह्मचर्य (१९४९)	श्रीचन्द रामपुरिया	जै० श्वे० तेरा० महासभा
ब्रह्मचर्य (१९४९) (महा० गांधी के विचारों का दोहन)	सं० श्रीचन्द रामपुरिया	"
ब्रह्मचर्य (प्र० भा० १९५७)	महात्मा गांधी	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
" (द्वि० भा० १९५७)	"	"
बापू की छाया में (द्वि० आ०)	श्री बलवंतसिंह	नव० प्र० मं०, अहमदाबाद
बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने	महात्मा गांधी	"
बृहद्कल्प सूत्र	सं० श्री पुण्य विजयजी	श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
बृहदारण्यकोपनिषद्		गीता प्रेस, गोरखपुर
बौधायन सूत्र		
भगवती सूत्र	पं० भगवानदास हरखचंद दोशी	जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
भगवान महावीरनी धर्मकथाओ	अनु० अ० बेचरदास दोशी	गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
भागवत		गीता प्रेस, गोरखपुर
भारतीय संस्कृति का विकास (प्र० ख० वैदिक धारा)	डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री एम. ए. डी. फिल. (ऑक्सन)	समाज विज्ञान परिषद, बनारस
भिक्खु दृष्टान्त	श्रीमद्‌जयाचार्य	जै० श्वे० तेरा० महासभा
भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १, १९६०), (ख० २, १९६०)	सं० आचार्य श्री तुलसी	"
भिक्षु-विचार दर्शन (१९६०)	मुनि श्री नथमलजी	"
मंगल प्रभात (१९५२)	महात्मा गांधी	स० सा० मं०, नई दिल्ली
Mahatma Gandhi— The Last Phase vol. I	श्री प्यारेलालजी	नव० प्र० मं०, अहमदाबाद
" vol. II		
मनुस्मृति (१९५४)	अनु० पं० जनार्दन झा	हि० पु० ए०, कलकत्ता
महादेव भाई की डायरी (प० भाग) (द्वि० भा० ती० भा०)	सं० नरहरि द्वा० परीख अनु० रामनारायण चौधरी	नव० प्र० मं०, अहमदाबाद
मांडूक्योपनिषद्	सं० मगनभाई प्रभुदास देसाई	गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
My days with Gandhi (१९५३)	श्री निर्मल कुमार बोस	इण्डियन एसोसियेटेड पब्लिशिंग कं० लि०, कलकत्ता
मुण्डकोपनिषद्	सं० मगनभाई प्रभुदास देसाई	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
योग शास्त्र	आचार्य हेमचन्द्र सूरि	श्रीमद्विजयदानसूरीश्वर जैन ग्रंथमाला, सुरत
रामनाम	महात्मा गांधी	नव० प्र० मं०, अहमदाबाद

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
वशिष्ठ स्मृति (स्मृति-सन्दर्भः तृ० भा०)		श्री मनसुखराय मोर, कलकत्ता
विनय पिटक	अनु० पं० राहुल सांकृत्यायन	महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)
विनोवा के विचार (प्र० भा० १९५७) (द्वि० भा० १९४६)	श्री विनोवा	स० सा० मं०, नई दिल्ली
विवरण पत्रिका (वर्ष ८ अं० ८)		जै० श्वे० तेरा० महासभा
विशुद्धिमार्ग	अनु० भिक्षु धर्मरक्षित	महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी)
विहारनी कोमी आगमां (१९५६)	मनुबहेन गांधी	नव० प्र० मं०, अहमदाबाद
वैराग्य मंजरी		ओसवाल प्रेस, कलकत्ता
व्यापक धर्मभावना	महात्मा गांधी	नव० प्र० मं०, अहमदाबाद
सत्याग्रह आश्रम का इतिहास (१९४८)	"	"
सप्तमहाव्रत अहिंसा (सं० १९८७)	"	गीता प्रेस, गोरखपुर
समवायाङ्ग	अनु० शास्त्री जेठामल हरिभाई	श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, कलकत्ता
सर्वोदय दर्शन (१९५८)	दादा धर्माधिकारी	अखिल भारत सर्व-सेवा संघ, वर्धा
St. Matthew	(कींग जेम्स वर्सन)	दी जॉन सी० विन्स्टन कं०, शिकागो
सुत्तनिपात	अनु० भिक्षु धर्मरत्न एम. ए.	महाबोधि सभा, सारनाथ
सूत्रकृताङ्ग		आगमोदय समिति
सूत्रकृताङ्ग	सं० अम्बिकादत्तजी ओझा	शंभूमलजी गंगारामजी बेंगलोर
Self Restraint V. Self Indulgence	महात्मा गांधी	नव प्र० मं०, अहमदाबाद
स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) (सं० १९९४) (आ० बीजो)		शेठ माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद
स्त्री और पुरुष (१९३३)	संत टॉल्स्टॉय अनु० वैजनाथ महोदय	स० सा० मं०, नई दिल्ली
स्त्री-पुरुष-मर्यादा	कि० घ० मशरूवाला	नव० प्र० मं०, अहमदाबाद
संयम शिक्षा (१९३३)	महात्मा गांधी	
संयम अने संतति नियमन (१९५६)	"	"
संयुत्त-निकाय	अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप भिक्षु धर्मरक्षित	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
शतपथ ब्राह्मण	सं० वेब्हर	
	सं० एफ० मैक्समूलर	क्लेरेन्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड
श्रमण (वर्ष ९ अङ्क ९)	सं० कृष्णचन्द्राचार्य	श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
Harijan (जून ८, १९४७)		नव० प्र० मंदिर, अहमदाबाद
हरिजन सेवक (२७-९-'३५)		"
हरिभद्रसूरि ग्रन्थ-संग्रह (१९३९)		जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद
History of Dharmasastra	महामहोपाध्याय पा० वामण काने	भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स०, पूना